समर्पण

परमपूज्य, धर्मधुरंधर, जैनशासन नभोनभोमणि, सुविहितसाधु शिरोमणि, जैनागम परिशीलनशाली, सद्धर्मोपदेष्टा, विद्वज्जनवृंदवंदनीय, आबाळब्रह्मचारी, व्याख्यानवाचस्पति कवि दिवाकर, परमकृपालु गुरुदेव अनुयोगाचार्य श्री १००८ श्री पंन्यासमवर श्रीमद्

रंगविमलजी महाराज साहेबना करकमलमां

आपश्रीनी प्रेरणा उपदेश अने लागणीथी आ महामूल्य ग्रंथरत्न प्रकाश पामे छे ते प्रश्नव्याकरणांग ग्रंथना प्रतिपादित विषयरूप पंचाश्रवत्यागी अने पंचसंवरने जीवनमां एकमेक करनार, एवा दीर्घ तपस्वी शास्त्रविशारद आप महापुरुष मारा परमतारक गुरुदेवने आ ग्रंथ समर्पी कृतार्थ थाउं छुं

एज भवदीय लघु शिष्य

कनकना कोटि वंदन.

परमपूज्य शास्त्रविशारद शासनसम्राट् महान् क्रियोद्धारक तपागच्छाधिपति जगत्पूज्य सूरिपुरन्दर ज्ञानविमलसूरीश्वरस्तुत्यष्टकम् ।

सदाचारप्रख्यं विहितजनसख्यं सुमनसम् । क्रियोद्धारे दक्षं समवहितलक्ष्यं प्रभुपदे ।
अमोघैः सद्बोधैः प्रशमितभविव्रातविपदम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ १ ॥
प्रलिप्ताः पापौघैः सुकृतचयहीनाः प्रतिपदम् । समुद्विग्ना भूरिव्यसनशतकीर्णा भविजनाः ।
सुधां यद्बोधाख्यां सपदि परिपीय प्रवव्रजुः । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ २ ॥
प्रणीय प्राक्कर्मप्रदहनपटून् संस्कृतमया–ननेकान् सद्ग्रन्थान् स्थिरतरधिया ज्ञानजटिलान् ।
जिनप्रोक्तानर्थान् जननिकरसंज्ञापनपरम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ ३ ॥
तपस्तप्त्वा तीव्रं कठिनतरकर्मद्रुपरशुः । सितध्यानैः साक्षात्कृतपरतरज्योतिपपरम् ।
सदा सिद्धान्तानां प्रकटितसुतत्त्वगुरुतरम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ ४ ॥
विधाय द्राक्कर्मप्रलयमतुलार्त्तिं प्रददतम् । विधाय प्राज्यासद्गतिगमनदानज्ञर्त्तिंवहान् ।
निधाय स्वान्ताब्जे प्रभुचरणपद्मं सुविमलम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥५॥

ज्वलन्तं क्रोधाग्निप्रशमनरसोत्सारितशिखम् । दृढं कामं ब्रह्मव्रतधृतिसमुन्मूलितबलम् ।
परां मायां दूरं झटिति प्रविधाय व्रतधरम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ ६ ॥
विशुद्धश्रामण्यक्षपितनिखिलाहः समुदयम् । गुरूपास्तिं सम्यक् सुकृततति लभ्यां विदधतम् ।
समीचीनज्ञानैः प्रविलयितमोहान्धतमसम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ ७ ॥
मदोजस्कं वीरप्रभुसमुपदिष्टार्थनिपुणम् । भवाब्धौ निमग्नान् दुरितकलितान् तारणपरम् ।
कषायैर्निर्मुक्तं मतिसुकृतिगाम्भीर्यसदनम् । नमामि ज्ञानाब्धिं गुरुवरमहं ज्ञानविमलम् ॥ ८ ॥
संवद्वह्निनवद्वयाब्जसमिते मासे शुभे कार्तिके । तत्पक्षे धवले तिथौ प्रतिपदि वारे शुभे भास्करे ।
स्तोत्रं भक्तिभरेण रंगविमलनैतन्मुदा निर्मितम् । जीयादत्र महीतलेऽतिविपुले यावत्सुधोग्रांशुको ।



प्रश्नव्याकरण बीजो भाग छपाववामां आर्थिक सहाय आपनार सद्गृहस्थोनी यादी–

रु ११७) मालवाडाना पंचो तरफथी शा. हजारीमलजी नागजीभाइ

रु १३८) पूरण गामना पंचो तरफथी

रु ५१) शा. ताराचंद मोतीजी गाम थांकडीया वडगाम

रु ५०) शा. मोतीजी कसेनाजी ,,

रु १५) शा. कानरुपजी धरमाजी ,,

रु १३) शा. देवाजी तलकाजीनां वहु जीवीबाइ तरफथी ,,

रु ११) शा. परखाजी दोलाजी ,,

३) शेठ तलकाजी हीराजी ,,

रु ६०) परचुरण सद्गृहस्थो तरफथी ,,

रु ४५८)

प्रस्तावना

ज्ञान, दर्शन अने चारित्रना उच्च आदर्शे शोभता जैनदर्शनमां ज्ञान या अंगग्रंथोनुं ऊंचुं स्थान छे. तीर्थंकर [1]भगवंतो तीर्थने स्थापे छे ते तीर्थमां द्वादशांगी तीर्थसम मनाय छे, ने तेनुं अस्तित्व न होय तो तीर्थनो अभाव मनाय. अर्थात् जैनदर्शनना आत्मा समान आगम ग्रंथो छे, ने ते आगमग्रंथोने अनुलक्षीने ज जैनदर्शनना बीजा तमाम साहित्यनो विकास अने परिवर्धन थयां छे.

आ अंग बार छे. तेमां दृष्टिवाद घणां वर्षो थयां नाश पाम्युं होवाथी अगियार अंगो विद्यमान छे तेमां प्रश्नव्याकरण दसमुं अंग तरीके प्रसिद्ध छे.

ग्रन्थनुं नाम

आ ग्रन्थनुं नाम प्रश्नव्याकरण सूत्र छे, या प्रश्नव्याकरण दशा छे. आ बन्नेनो अर्थ प्रश्नव्याकरणनी विद्यमान बन्ने वृत्तिओ जणावतां कहे छे के जेमां प्रश्नो–अंगुष्ठ विगेरे विद्या प्रश्नोनुं वर्णन होय ते प्रश्नव्याकरण अने कोइक ठेकाणे आ ग्रन्थनुं नाम प्रश्नव्याकरण दशा छे तेनो अर्थ–जेमां विद्याओने प्रतिपादन करनारां दश अध्ययनो–ग्रन्थनी पद्धतिओ छे ते प्रश्नव्याकरण दशा. परंतु उपर जणावेल बन्ने रीतिना अर्थ आजे विद्यमान प्रश्नव्याकरण ग्रन्थमां उपलब्ध नथी. आजे तो प्रश्नव्याकरण मुद्रित छे तेमां अने आ छपाइ तैयार थती प्रतिमां जे दश अध्ययनो छे. ते दरेकमां पांच आश्रवद्वार अने संवरद्वारनुं विवेचन छे. हिंसा मृषा चोरी अब्रह्म अने परिग्रह ए पांच आश्रव. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अने

१. तित्थंकरे अ तित्थे तित्थं जाय पढमगणहरे. चाउवण्णो संघो.

अपरिग्रह ए पांच संवर मळी कुल दस विषयोने दस अध्ययनोमां खुब विस्तृत रीते प्रतिपादन कर्यां छे. तो पण आ ग्रन्थमां [1]प्रथम विद्याओनुं प्रतिपादन हतुं ते वातनो स्वीकार वृत्तिकार सूरिपुरंदर श्रीमद् अभयदेवसूरि महाराज करी हाल पांच आश्रव अने पांच संवरना प्रतिपादननो कइ रीते संबंध छे ते जोडतां कहे छे के "विद्याओना प्रतिपादनरुप प्रश्नव्याकरणनो व्युत्पत्ति अर्थ पहेलां हतो पण हाल तो पांच आश्रव अने पांच संवरनुं प्रतिपादन मळे छे, अथवा तो महाज्ञानी पूर्वाचार्योए आ युगना नजीवा कारणे विद्याओनो उपयोग करनार पुरुषोना स्वभावने जाणी ते विद्याने बदले पंचाश्रव अने पांच संवरनु वर्णन कर्यु लागे छे."

आ बाबतमां सूरिपुंगव श्रीमद् पू. ज्ञानविमलसूरि महाराज पू. अभयदेवसूरि महाराजे जणावेल प्रश्नव्याकरण प्रश्नव्याकरण दशा अने तेना अर्थने पूर्ण रीते स्वीकार कर्या उपरांत जणावे छे के—

आ [2]प्रश्नादि विद्याओ पांच आश्रवनो त्याग करी पांच संवर रूप संयममां जीवता महापुरुषोने ज उत्पन्न थइ शके. माटे संयमवाळो ज विद्यावाळो थइ शके तेथी संयमना स्वरूपनुं प्रतिपादन ते परिणामे विद्याना प्रतिपादनरूप छे.

१. प्रश्नाः—अंगुष्ठादिप्रश्नविद्यास्ता व्याक्रियन्ते-अभिधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रश्नव्याकरणम् क्वचित् 'प्रश्नव्याकरणदशा' इति दृश्यते, तत्र प्रश्नानां-विद्याविशेषाणां यानि व्याकरणानि तेषां प्रतिपादनपरा दशा-दशाध्ययनप्रतिबद्धाः ग्रंथपद्धतयः इति प्रश्नव्याकरणदशाः [प्रश्नव्याकरण पृ. १.]

अयं व्युत्पत्त्यर्थोऽस्य पूर्वकालेऽभूत्, इदानीं त्वाश्रवपञ्चकसंवरपञ्चकव्याकृतिरेवोपलभ्यते

२. विशिष्टसंयमवतां क्षयोपशमवशात् प्रश्नादिविद्यासंभवात् ततः संयमवानेव तद्वान् अतस्तत्स्वरूपमवतारितवान्—

ज्ञान चि० पृष्ठ ६.

ग्रन्थविषय

आ ग्रन्थमां श्रीमद् ज्ञानविमळसूरिजीए हेय अने आदेय आ बे तत्वो उपर खुबज विस्तीर्णपणे प्रतिपादन कर्युं छे. पांच आश्रव हेय छे, अने पांच संवर आदेय छे. आ हेय अने आदेयरूप पांच आश्रव अने संवरनी उत्पत्तिना कारणो तेनो प्रभाव फळ अने असर विगेरेनुं खुब महत्वपूर्ण विवेचन छे. साथे साथे जैनदर्शन अने जैनेतरदर्शनोना अनेक अवतरणो मूकी ग्रन्थने खुबज सुस्पष्ट कर्यो छे.

ग्रंथप्रकाशन अंगे

आजथी त्रण वर्ष पहेलां परमपूज्य गुरुवर्य कवि दिवाकर पंन्यास श्रीमद् रंगविमळजी गणिवरे सूरिपुंगव श्रीमद् आचार्यश्री ज्ञानविमळसूरीश्वरजी रचित-वृत्ति ज्यारे अमदावादमां देवशाना पाडामां विमळना उपाश्रयमां प. पू. पं. दयाविमळजी महाराजना भंडारमां जोइ त्यारथी तेओनुं दील आवी अपूर्व कृति जरुर प्रसिद्ध कराय तो सारुं ए निर्णय साथे प्रसिद्ध करवानुं शरु कर्युं, दैवयोगे एज भंडारमांथी परमपूज्य पं. मुक्तिविमळजी गणिवरना हाथे तैयार करायेल बीजी प्रति पण मळी आवी. आथी प्रकाशित थता आ ग्रंथ प्रत्ये वधारे आदर थयो.

आ प्रतिना प्रकाशनमां मुख्यत्वे बे प्रतिओनो उपयोग करवामां आव्यो छे. एक डहेलाना उपाश्रयनी प्रतिनो अने बीजी देवशाना पाडामां विमळगच्छना उपाश्रयमां प. पू. पं. श्री दयाविमळजी महाराजना भंडारनी प्रतिनो जो के प्रकाशननी दृष्टिए बन्ने प्रतिओमां एके प्रति शुद्ध नथी. छतां डहेलाना उपाश्रयनी प्रति अक्षरे सारी अने जुनी छे, अने ते प्रतिने अनुलक्षीने ज मुख्यत्वे आ ग्रंथनुं प्रकाशन थयुं छे. उक्त सूरीश्वरजीनी कृतिओनो

रचनाकाळ १७७३ सुधी छे, [1]ज्यारे आ प्रतिनो लेखनकाळ संवत १७९३ फागण वद ३ मंगळवार छे, अर्थात् तेओना काळधर्म पछी आ ग्रंथ वीस वर्ष बाद लखायो छे.

आ वृत्तिमां प्रासंगिक श्लोको खुबज छे ने ते कर्त्तानी विद्वत्ता सूचवे छे. खुब श्लोकोने लइने अथवा लेखकदोष वगेरेने लइ केटलीक जग्याए तो जे ग्रन्थनुं नाम सूचव्युं होय ते ग्रन्थने बदले कोइ जुदोज ग्रन्थ होय तेवुं बन्या छतां तेमज केटलाक अधिकारोनी मिश्रणता होवा छतां यथाशक्य पद्योनां स्थळो अने अधिकारोनां मूळस्थानो तपासी तेने शुद्ध करवा प्रयत्न कर्यो छे.

आ ग्रन्थमां लब्धिस्तोत्र तेमज पिंडनिर्युक्ति जेवां संपूर्ण ग्रन्थो संक्षिप्तपणे दाखल कर्या छे, तेमज मूळ वृत्तिमां जे न होय तेवा घणा अधिकारो अन्य अन्य ग्रन्थोना आ ग्रन्थमां दाखल कर्या छतां ग्रन्थने त्रुटक के क्षत न थाय तेवी श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिजीए आ वृत्तिमां खुबज काळजी सेवी छे.

अमने प्रकाशनमां ज्यां ज्यां त्रुटक अशुद्ध के अपूर्ण लाग्युं त्यां अमे [ ] मां मूक्युं छे जेथी मूळकारना आशयनो ख्याल आवे.

आ ग्रन्थना प्रकाशनमां प्रतिपत्रे जेटलुं मूळ तेटली व्याख्या राखवाथी मूळ अने व्याख्यानी संगतता द्वारा सहेजे अर्थ समजी शकाय तेवी रीते प्रकाशन करवामां आव्युं छे, कोइ पण जिज्ञासु आ ग्रन्थना पठन पाठननो लाभ लेशे तो आ प्रकाशन सफळ थयुं मानीश, प्रेसदोष, दृष्टिदोष के स्खलनाने अंगे थयेली भूलोनी क्षमा मागी विरमुं छुं. सं. १९९५ भा. सु. ५ एज ली.

व्याख्यानवाचस्पति विद्वद्वर्य परमपूज्य श्रीमंत् पंन्यास रंगविमलगणिवर विनेयाणु कनकविमल

---

१. संवत् १७९३ वर्षे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तृतीयायां तिथौ कुजवारे सिद्धियोगे सकलभट्टारक श्री श्री श्री १०८ विजयप्रभसूरिः तत्शिष्यसकलवाचकचक्रचक्रवर्त्ति महोपाध्याय श्री श्री १०८ विमलविजयगणि तत्शिष्य महोपाध्याय श्री श्री १९ श्री शुभविजयगणि तत्शिष्यसकलपंडितश्रीगंगविजयगणि तत्शिष्य पं. श्री नयविजयेन लिपीकृता आत्मार्थे.

प्रश्नव्याकरणसूत्र—

मूळकार तथा वृत्तिकारनो टुंक परिचय

आ सूत्रना रचयिता सकल जैन श्रमणसंघना आद्य आधारभूत पूज्य प्रवर गणधर भगवान सुधर्मास्वामीजी छे. भगवान महावीर परमात्माए कैवल्यज्ञान पाम्या पछी साधु साध्वी श्रावक श्राविकारूप चतुर्विध संघनी स्थापनारूप तीर्थ स्थाप्युं. चतुर्विधसंघनुं मुख्य अग्रगण्य जैन श्रमणसंघना आद्य महापुरुषो ते अगिआर गणधर भगवंतो छे. जे महापुरुषोए भगवान महावीर पासेथी " उप्पन्ने इ वा विगमे इ वा धुवे इ वा "रूप त्रिपदी पामी पोतपोताना तीक्ष्ण क्षयोपशमद्वारा भिन्नभिन्न द्वादशांगी-जिनवाणीनी रचना करी जगतमां रहेल तमाम पदार्थो अने तेमां थनारा प्रत्येक रूपान्तरो के जे भाषामां उतरवाने शक्य होय ते सर्वना अनंतमा भागने तेमणे पोतानी द्वादशांगीमां उतार्या. ते द्वादशांगीनो ज्ञाता जिनसदृश थाय तेथी महोर छाप पण केवलीभगवंत महावीरद्वारा सिद्ध करी.

आ अगिआर गणधर भगवंतो परस्पर श्रुतज्ञाने सरखा होवा छतां दीर्घायुषी पांचमा गणधर सुधर्मास्वामीनी द्वादशांगीज परंपराए जैनशासनमां प्रचार पामी. कारणके सुधर्मास्वामि भगवंत सिवायना दसे गणधर भगवंतो थोडा काळमां निर्वाण पाम्या, अने तेमनी प्ररुपित द्वादशांगी पण तेमनी साथे लुप्त थई गई.

आजे जे जिनागम मूळ स्वरूपे अर्थरूपे भावरूपे के अन्यरूपान्तरे विद्यमान छे ते सर्वेनुं मूळस्थान सुधर्मास्वामी भगवंतनी द्वादशांगी छे. आजे विद्यमान जे आगमग्रंथो छे ते सर्व पूज्यप्रवर सुधर्मास्वामी रचित छे.

आ प्रश्नव्याकरणसूत्र अगिआर अंग पैकीनुं दशमुं अंग छे. ते पण सुधर्मास्वामी भगवंते रचेलुं छे, जे पू. अभयदेवसूरि महाराजनी वृत्तिनी प्रस्तावनाथी सहेजे जणाय छे.

'अस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसम्बन्धी पञ्चमगणनायकः श्रीसुधर्मस्वामी सूत्रतो जम्बूस्वामिनं प्रणयन्तं चिकीर्षुः संबन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादनपरां जम्बू...इत्यादि गाथां.

आ सुधर्मास्वामि गणधर भगवंत परमात्मा महावीर प्रभुना [1]आद्य पट्टधर छे. तेमनुं [2]जन्मस्थळ विगेरेनुं स्वरूप नीचे मुजब छे..

कोल्लाग नामना गाममां धम्मिल्ल पिता भद्दिला माताना पुत्र, चौदे विद्याना पारगामी प्रभु महावीरना दर्शन अने उपदेशथी प्रतिबोध पामी ५० वर्षनी उम्मरे भगवान महावीरने पोताना परमतारक स्वीकारी ३० वर्ष महावीर परमात्मानी सेवा कर्या बाद महावीर प्रभुना निर्वाण पछी बार वर्ष केवल्यज्ञानने प्राप्त करी ८ वर्ष सुधी केवलज्ञाननी परिपालना करी १०० सो वर्ष पूर्ण आयुष्य पारी निर्वाण पाम्या.

काळक्रमे आ पूर्वमहर्षिना रचेला महाकिंमती रत्नसमान आगमोना गूढ अर्थो अने आमन्याओ काळना प्रभावने लइ ओछी थती बुद्धि अने धीरजने लइने विस्मरण थतां तेमज दुष्काळ विगेरेना उपद्रवोने लइ नष्ट थतां देशी शकसातमां [1]स्कंदिलाचार्ये मथुरामां अने नागार्जुनसूरिए वळामां–वल्लभीमां श्रमणसंमेलनद्वारा जे जे अवस्थामां जे महर्षिओने कंठे जेटला जेटला प्रमाणमां ग्रंथो उपलब्ध थया तेनो संग्रह कर्यो. ने त्यारबाद थोडाज वखतमां पू. देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणभगवते आगम तथा अन्य अन्य पूर्वपुरुषोना ग्रंथोने साधुसंमेलनद्वारा एकत्र करी [2]पुस्तकारुढ कर्या.

---

१. श्रीमद्वीरजिनेन्द्रस्य विनेयो विश्ववल्लभः येनाऽधीतानि पूर्वाणि सुधर्मास्वामिनाऽद्भूतम् [विबुधविमलकृतपट्टावल्यां]

२. कल्पसूत्र पृ. १८६ तमे कोल्लागसन्निवेशे धम्मिलविप्रस्यः...............इत्यादि वर्णनं ज्ञेयं

१. जिनवचन च दुष्षमकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुन–स्कंदिलाचार्यप्रभृतिभिः पुस्तेकेषु न्यस्तम् [कलि० सर्वज्ञ० हेमचन्द्रसूरिकृत योगशास्त्रप्रकाश ३ श्लोक १२०].

२. वल्लहिपुरंमि नयरे देवड्ढिपमुह सयलसंघेहिं, पुत्थे आगमलिहिआ नवसयअसीआओ वीराओ. [कल्पसूत्र पृ. १५४]

स्याद्वाद मूळ आगमग्रंथो तेमज पूर्वमहर्षिओना प्रतिपादित करेल ग्रन्थोना रहस्योने स्फुट करनारां विवरणोरूप ते ते ग्रंथोना विवरणो अने विवरणरूप भिन्न भिन्न जुदा जुदा अनेक ग्रंथोनी रचनाद्वारा जैनशासन अविच्छिन्न प्रभावशाळी आज-सुधी रह्युं छे.

आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, विवाहपन्नत्ति (भगवतीजी) ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण अने विपाकसूत्र ए अगिआर अंग छे. बारमुं अंग वीरसंवत १००० लगभग विच्छेद पाम्युं.

वर्ष ९३३ मां सूरिपुंगव शीलांकाचार्ये आचारांगसूत्र उपर तेमज वाहरिगणिनी सहायथी सूयगडांग उपर संस्कृत भाषामां सुंदर चमत्कारिक वृत्तिओ रची छे. जे आजे उपलब्ध छे. आ बे अंग सिवाय बीजा नवे अंगो उपर पण तेज आचार्यपुंगवे टीका रची हती. परंतु उपरोक्त बे टीकाओ सिवाय नवे टीकाओ विच्छेद पामवाथी आचार्य अभयदेवसूरि महाराजे [1]नव अंगो उपर नवीन टीकाओ बनावी.

आ प्रश्नव्याकरण उपर आजे मुख्य बे वृत्तिओ उपलब्ध छे. एक सूरिपुंगव अभयदेवसूरि महाराज रचित वृत्ति अने बीजी महान् क्रियोद्धारक श्रीमद् ज्ञानविमळसूरि महाराजनो रचित वृत्ति छे. ते बन्ने वृत्तिकारोनो परिचय पण आवश्यक छे.

जैनदर्शनमां महाप्रभावक ग्रंथकार तरीके अभयदेवसूरिना नामवाळा पांच महापुरुषो थया छे. अभयदेवसूरि (राजगच्छीय)

---

१. प्रभावक चरित. अभयदेवसूरिप्रबंध श्लोक १०४-१०५ तथा पुरातनप्रबंधसंग्रहे–अभयदेवसूरिर्विहरन् पल्यपुरे श्रीवर्द्धमानसूरिषु दिवं गतेषु अभयदेवसूरीणां तत्रस्थितानां महादुर्भिक्षे सिद्धान्तास्तद्वृत्तयोऽपि त्रुटिताः, यदवस्थितं तदपि दुरवबोधत्वात् गिलं जातं शासनदेवी रात्रौ प्रभुं जगौ यदङ्गद्वयं मुक्त्वा नवाङ्गानां वृत्तिं कुरु सूरिराट्–'सुधर्मस्वामीकृतसिद्धान्तविवरणकरणे मन्दमतित्वादुत्सूत्रप्ररूपणादनन्तसंसारित्वम्। परं त्वामनुल्लङ्घयां करिष्यामि' देव्योक्तम्–यत्र यत्र सन्देहस्तत्राऽहं स्मर्तव्या सीमन्धरस्वामिपार्श्वाद् सन्देहभङ्गं कुर्वे प्रभुभिर्ग्रन्थपूर्णतावधि यावदाचाम्लाभिग्रहोऽग्राहि...इत्यादि.

जेमणे संमतितर्क जेवा महान् ग्रन्थ उपर तत्त्वबोध विधायिनी टीका बनावी छे के जेनुं प्रतिबिंब जैनदर्शनमां परंपराए समग्र न्यायग्रन्थोमां पड्युं छे, ने जेना संतानीय धनेश्वरसूरि तथा प्रवचनसारोद्धारनी वृत्तिकार विगेरे महर्षिओ छे.

बीजा अभयदेवसूरि नागगच्छीय रामसूरि-चंद्रसूरि-देवसूरि-अभयदेवसूरि ए रीते संबंध धरावे छे. तेमनो समय बारमी शताब्दि आसपासनो गणाय छे.

त्रीजा अभयदेवसूरि रुद्रपल्लीय गच्छना स्थापक छे.

चोथा अभयदेवसूरि प्रसिद्धमलधारी हेमचंद्रसूरिना गुरु छे.

उपरना चार सूरिपुंगवो नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिथी भिन्न छे ते वस्तु आपणने तेमणे जणावेल प्रशस्तिमां सूचवेल गुरुना अने गच्छना नामथी समजाय छे.

आचार्य जिनेश्वरसूरि के जे बुद्धिसागर नामे प्रसिद्ध छे तेमना शिष्य अभयदेवसूरि महाराज आ प्रश्नव्याकरण सूत्रना रचयिता छे, अने तेमनी रचेल वृत्तिना संशोधक द्रोणसूरिजी छे, ते वात तेमनी प्रशस्तिथी स्पष्ट जणाय छे.

ऊक्तसूत्रना वृत्तिकार अभयदेवसूरिजी महाराज सं. १०८८ मां सोल वर्षनी उम्मरे आचार्यपदारूढ थया छे, तेमणे प्रथम ज्ञातासूत्रनी वृत्ति सं. ११२० मां रची अने त्यारपछीथी बीजा अंगोनी वृत्ति ११२३ लगभग पूर्ण करी छे. नवांगवृत्ति उपरांत षट्स्थानक भाष्य, हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक पर वृत्ति तथा आराधनाकुलक पंचनिर्ग्रन्थी प्रकरण विगेरे अनेक ग्रन्थो रच्या छे. तेओना स्वर्गवास कपडवंजमां सं. ११३५ मां थयो छे.

श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र उपर बीजी वृत्ति शास्त्रविशारद सूरिपुंगव श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिश्वरजी महाराजनी छे तेमनो परिचय नीचे मुजब छे-

श्रीमाळीओनी उत्पत्ति अने अनेककिंवदंतिओथी जोडायेल मारवाडमां आवेल भिन्नमाल नगरमां विशाओशवालना वंश-विभूषण श्रेष्ठी वासवजीपिता अने कनकावती मातानी कुक्षिए सं. १६९४ मां मंगळप्रभाते पुत्रनो जन्म थयो. संसारी अवस्थामां

कर्यु ने ते दरमियान शरीर क्षीण थतां सं. १९८२ ना आसो वदि ४ ना रोजे गुरुवारे वृद्धवये कालधर्म पाम्या. सूरिपुंगवना कालधर्मथी मांडीने ४०) चालीस दीवस सुधी अमारी पडह अने धर्म उत्सव सकळ संघे कर्यो. तेमज तेमना स्मरणनिमित्ते सक्करपरामां पगलांयुक्त दहेरी करावी. जे दहेरी आजे पण विद्यमान छे अने तेमनो संगृहित ज्ञानभंडार पण वारवाडाना संवेगी-विमळगच्छीय उपाश्रयमां विद्यमान छे.

जे प्रश्नव्याकरण ग्रन्थनी टीका करतां अभयदेवसुरि महाराज शरुआतमां जणावे छे के—

अज्ञा वयं शास्त्रमिदं गभीरं, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि
सूत्रं व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव ॥ १ ॥

अने अन्ते जणावे छे के,

परेषां दुर्लक्ष्या भवति हि विवक्षा स्फुटमिदं विशेषाद्वृद्धानामतुलवचनज्ञानमहसाम्
निराम्नायाधीभिः पुनरतितरां मादृशजनैः ततः शास्त्रार्थे मे वचनमनघं दुर्लभमिह ॥

अर्थात् आ प्रश्नव्याकरण शास्त्र कुट ग्रन्थ छे. मारा जेवार करेली व्याख्या उपर ध्यान न आपतां संबंध मेळवी व्याख्या करवी वगेरे जणाववुं ते प्रश्नव्याकरणनी महागंभीरता सूचक छे.

आ ग्रन्थना स्वपर शास्त्रतत्त्वज्ञाता शासनसम्राट् तपागच्छाधिपति आचार्यदेवेश श्रीमद् पू. ज्ञानविमळसूरीश्वरजी महाराजे अभयदेवसूरिनी टीकाने अनुलक्षी खुबज सरल बनाववा प्रयत्न कर्यो छे. ने जेमां ते खुबज सफळता पाम्या छे. तेमणे अभयदेवसूरिनी टीकामां नहि वृत्ति करायेल तेवा एकेक पदनो संस्कृत छाया अने पदेपदनी व्याख्या आपी छे, तदुपरांत तेमनी टीका तेमना ज्ञाननी गंभीरता अने बहुश्रुतता जणावे छे. तेमणे छेदग्रन्थोथी मांडी जैन अने जैनेतरना अनेक ग्रन्थोना पुरावा अने साक्षिओथी आ ग्रन्थने खुबज महत्त्वभर्यो बनाव्यो छे. आ ग्रन्थमा प्रसंगने अनुसरीने अनेक अधिकारो आपी आ ग्रन्थने घणो रसमय बनाव्यो छे, अर्थात् कुट गणातो आ ग्रन्थ तेमनी तार्किक अने निपुण शक्तिथी सर्वजनभोग्य बनाव्यो छे.

ज्ञानविमळसूरि महाराज परम प्रभावक आनंदविमळसूरिने स्मरण करावे तेवा प्रतिभासंपन्न थया छे, जे आनंदविमळ सूरि माटे अन्यगच्छीओए पण कह्युं छे के-

भूरयः सन्ति सूरयो गच्छे गच्छे च गर्विताः आनंदविमलादन्यो धन्यो नास्ति महीतले ।

[मालवी कविकृता स्तुतिः]

महान् क्रियोध्धार करनार आनंदविमळसूरि महाराज पछी ते क्रियोध्धार पंडित हर्षविमळगणि पंडित कीर्तिविमळगणी, पं. विनयविमळजीगणि, पं. धीरविमळगणि सुधी सतत् चाल्यो पण पछीथी तेमां स्खलना थतां ते महान् क्रियोध्धार करवानुं मान आ ग्रन्थना वृत्तिकार सूरिसम्राट् श्रीमद् पू. ज्ञानविमळसूरीश्वरजीने ललाटे लखायुं. जे आजसुधी ते क्रियोध्धार चाल्यो आवे छे. पू. श्रीमद् ज्ञानविमळसूरीश्वरजी महाराजे आ टीका उपरांत भिन्न भिन्न विषयोना अनेक ग्रन्थो नीचे मुजबना बनाव्या छे.

ज्ञानविमळसूरि महाराजे आचार्यपद लीधा पहेलां मुनिश्री नयविमळनी अवस्थामां बनावेल ग्रन्थोनी यादि

१ नरभव दृष्टांत उपनयमाळा
२ साधुवंदन रास.
३ जंबुस्वामी रास.
४ रणसिंहराजर्षि रास.
५ नवतत्त्व बाळावबोध.
६ श्रमणसूत्र बाळावबोध.
७ साडात्रणसो गाथानो बाळावबोध.
८ प्रश्नद्वात्रिंशिका स्वोपज्ञ बाळावबोध.
९ श्रीपाळ चरित्र संस्कृत गद्य.
१० दश दृष्टान्तनी सज्झाय.
११ स्तवनो सज्झायो पदो स्तुतिओ.

श्रीमद् ज्ञानविमळसूरिनी अवस्थामां बनावेल ग्रन्थोनी यादि

१२ प्रश्नव्याकरण वृत्ति.
१३ संसार दावानळवृत्ति.
१४ बारव्रतनो रास.
१५ रोहिणी अशोकचंद्र रास.
१६ दीवाळी कल्प बाळावबोध.
१७ आनंदघन चोवीशी बाळावबोध.
१८ त्रण भाष्य बाळावबोध.
१९ अध्यात्म कल्पद्रुम बाळावबोध.
२० पाक्षिकसूत्र बाळावबोध.
२१ योगदृष्टि सज्झाय बाळावबोध.
२२ चंद्रकेवळी रास.
२३ शांतिनाथ अने पार्श्वनाथनो कळश.
२४ स्तवनो सज्झायो पदो कळश स्तुतिओ विगेरे.

[1]आ उपरांत तेमनी घणी कृतिओ नष्ट थइ संभवे छे. पूज्य आचार्य ज्ञानविमळसूरिनुं विशिष्ट जीवनचरित्रनो आद्य संग्रह परम पूज्य गुरुदेव श्रीमद् पंन्यास मुक्तिविमळजी गणिवरे प्राचिन स्तवन रत्नसंग्रह नामना पुस्तकमां संग्रह कर्यो छे, ने त संग्रहने अनुसरीने श्रीं मोहनलाल दलीचंद देशाइकृत प्राचीन गुर्जरकवि भा. २ जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास तेमज मुनिश्री कनकविमळजीए तैयार करेल उक्त सूरिना चरित्रमां विगेरे खूब खूब तेमना जीवनने लगतुं साहित्य छे, वधु जिज्ञासुए त्यांथी जोइ लेवुं. अहिं तो पुस्तकनी प्रस्तावनाने लइ टुंक निर्देश कर्यो छे.

१. सकलार्हत् स्तबक—ए नमस्कार टबाथ लिख्यो अर्थथी बालावबोधरुपे भ० ज्ञानविमलसूरिइं साधर्मिकजन बोधमाटइं सं. १७७३ वर्षे महा शुदि ११ शनौ दिने सुरतमध्ये [मुनि हं. वि. सं. शा. वदोदरा.]

श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिविरचित प्रश्नव्याकरणांग–प्रथमभागगतपद्यसंग्रहः

	पत्र	पृ.	पं.
नाणं न दंसणं चेव	२	१	२
पढमं नाणं तओ दया	२	१	६
सूयनाणं महड्ढियं।	२	१	११
हेया बंधासवपुन्नपावा	२	१	१३
जीवो संवरनिज्झरमुक्खो'	२	१	१४
अत्थं भासइ अरहा	२	२	३
न भवति धर्म श्रोतुः	३	१	३
सामाइयमाइयं सुयनाणं	४	२	५
मज्झं विषयकषाया	२१	१	९
एगिंदिएसु पंचसु	२१	१	१२
असंखोसप्पिणी उस्सप्पिणीओ	२१	१	१३
अद्धतेरसबारस	२१	१	१४
कंटकस्य प्रतीक्ष्णत्वं	२८	१	१२
प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः ?	२८	२	६
पिब खाद च चारुलोचने !	२८	२	१४
आसीदिदं तमोभूतं इत्यादि पद्य सप्तकं	२९	१	८–१४
जले विष्णुः स्थले विष्णुः	२९	२	५
पृथिव्यामप्यहं पार्थ !'	२९	२	६
सो किल जलय समुत्थे पद्यषष्ठं	२९	२	९–१४
एवमेके वदंति मोसं एगो आया	३०	१	१
एक एव हि भूतात्मा	३०	१	५
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	३०	१	९
अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता	३०	१	१४
यस्मान्न बध्यते नाऽपि	३०	२	२
कालः सृजति भूतानि	३०	२	५
रविरुष्णः शशी शीतः	३०	२	९
प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः	३०	२	१३
द्वीपादन्यस्मादपि	३१	१	१
सा सा संपद्यते बुद्धिः	३१	१	२
ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो	३१	१	५
दुसाध्यप्युद्यमतस्सुसाध्यं	३१	१	८
कालो सहाव नियई	३१	१	१०

प्रश्न० १०

व्याक०

१०

सेणानइ गाहावइ	७०	१	६
नेसप्पे पण्डुयए	७१	१	१
महापउम पउम	७१	१	४
नेसप्पंमि निवेसा	७१	१	६–१३
ग्रामोवृत्त्या वृतः स्यात्	७१	२	१२
समुद्रविजयोऽ १ क्षोभ्यः २	७३	१	१०
अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे	७४	१	११
एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः	७७	१	८
रिपहो उ होइ पट्टो	८१	२	७
लीला विलासो विच्छित्ति	८२	१	१२
संघयणं संठाणं	८४	२	११
तिर्यंचो मानवाः देवाः	८५	१	७
सन्तापफलयुक्तस्य	८५	२	५
धर्मं शीलं कुलाचारं	८५	२	७
श्लथसद्भावना धर्म्मा	८५	२	१०
अकीर्तिकारणं योषित्	८५	२	१२
वर्ज्जयेद्विदलं शूली	८६	१	४
व्रणेः श्वयथुरायासीत्	८६	१	५
परदाराऽनिवृत्तानामिह	८६	१	७
पुप्फइ भाइणिज्जे	८८	१	४
इत्यादि पद्यपञ्चकं मुग्धमृगनयनयुगळे !	८९	२	१०
नरपसु जाइं अइक्खडाइं इत्यादि पद्यत्रयोदशी	९०	२	५ ६
संसारमूलारम्भाः	९१	२	४

श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिविरचितप्रश्नव्याकरणांगे द्वितीयविभागगत प्रासंगिकपद्यसंग्रहः

कल्लाणकोडी जणणी	१	२	८
निद्दिट्ठं एत्थ वयं इक्कं चिय	२	२	१३
अणुकम्पऽकाम णिज्जर	३	१	३
बावत्तरि कलाकुसला	३	१	४
किं तीए पढियाए	३	१	१०
सत्यं शौचं तपः शौचं	३	२	१३
रिउसामण्णं तम्मत्तगाहिणी	४	२	१२
सम्माणु सव्व विरई इत्यादि गाथात्रयी	५	१	९–१३
अस्तित्वमस्तिभावेन	५	२	१
दंसणमिह सम्मत्तं	५	२	३
वेयगमवि सासायण	५	२	४
सम्मत्तमिय लद्धे	५	२	६

प्र १०सा०पृ०४०४

एए अन्नेय वहु जेसिं
तथा हि योगमाहात्म्यात् ६ १ ६
योगशास्त्रवृत्ति पृ. १०–२
योगिनां योगमाहात्म्यात् ६ १ ७–१०
योगशास्त्रवृत्ति इत्यादि पद्यपञ्चकं पृ. १०–२
नखा केशा रदाश्चाऽपि ६ २ १
योग० वृत्ति पृ. १२–२
तथा हि तीर्थनाथानां ६ २ २
योग०वृत्ति पृ. १२–२
आसी–दाढा तग्गय ६ २ १२
रिद्धि–सामण्णं तम्मत्त गाहिणी ७ १ ११
विउलं वत्थुविसेसेण ७ २ १
सु. तत्वार्थ पृ. १०१
जिण सासण पडिणीयं ८ १ १४

जो सुत्तपएण वहु ९ १ ३
अक्खीण महाणसीया ९ १ ९
अक्खीण महालया जे ९ १ १०
संभिन्न चक्कि जिन हरि ९ २ ६
अरिहंत चक्कि केशव इत्यादि
पद्यत्रयं ९ २ ११–१३
चक्कं छत्तं दंडो इत्यादि
पद्यत्रयं १० २ २–५
संसट्ठेयर हत्थो ११ २ ६
पिं० नि० पृ. २५२
दत्तिओ जत्तिए वारे १२ १ ९
मासाइ सत्त वा १२ २ ९
पञ्चाशकान्तर्गतान्तिमे पञ्चाशके
तवेण सत्तेण सुत्तेण १३ १ ६

संसट्ठमसंसट्ठा १३ २ २
एगराइयं छ णं भिक्खु १५ १ १३
पञ्चाशक पृष्ठ २८३–२
साहट्टु दोवि पाए १५ २ ४
अष्टादश पञ्चाशकान्तर्गतविंशतितमः श्लोकः
वीरासणं तु सिंहासणे व्व १५ २ १०
आयावणा उ तिविहा १५ २ १२
संकिय मक्खिय निक्खित्तं १७ १ २
पि. नि. गा. ५२१
सोलस उग्गम दोसा १७ १ ७
पिं. नि. पृ. १४६
अहाकम्मुद्देसिय इत्यादि
पद्यद्वयं १७ २ १
तं पुण जं जस्स १७ २ १४
पिं. नि. गा. ८

जाणंति यमुरेतं	१८	१	१४
पिं. नि. गा. २३०			
धाइ दुइ निमित्ते इत्यादि	२४	१	१०
गाथाद्वयं पिं. नि. गा. ४०८–४०९			
निग्गामा स्यविरां धात्रीं	२५	१	६
पिं. नि. पृ. १२३			
जारयं भवति स्थूरायाः	२५	१	७
पिं. नि. पृ. १२३			
कृष्णा भ्रंशयते वर्णं	२५	१	९
पिं. नि. पृ. १२३			
दाणं न होइ अफलं	२६	२	१४
कोरे पेनर सवगो	२८	१	५
पिं० नि० पृ. १३९			
छक्काय दयावंतोऽपि	३३	१	१०
उद्देसियंमि नवगं	३६	२	४
पिं० नि० पृ. ११७ तमे ३९५ गाथा वृत्तौ			
परियट्टिए अभिहडे	३६	२	५
तमे ३९५ गाथा वृत्तौ			
सुहुमा पाहुडिया विय	३६	२	६
तमे ३९५ गाथा वृत्तौ			
सो एसो जस्स गुणा	३७	१	१२
पिं० नि० गा० ४९१			
बत्तीसं कवला पुरुसस्स	४१	२	९
पिं० नि० पृष्ठ १७३			
अइबहूयं अइबहूसो	४१	२	११
पिं० नि० गाथा ६४६			
वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए	४२	१	१३
पिं० नि० गा० ६६२			
पंथसमा नत्थि जरा	४१	१	१४
पिं० नि० पृ. १७७			
भाविय जिणवयणाणं	४२	२	३
बलावरोधिनिर्दिष्टं	४२	२	९
पिं० नि० ६६७ वृत्तौ			
विषया विनिवर्त्तन्ते	४३	१	३
देहंमि असंलिहिए इत्यादि गाथाद्वयं	४३	१	८
म० वृत्ति			
आयंके उवसग्गे	४३	१	११
म. वृ. पृ. २१५			
तित्थय पडिकुट्ठो	४४	२–१४	

प्रश्न० १२

तणडगल्ल छारमल्लग ४५ २ ६
पश्चाशक
असणाइया चउरो इत्यादि
पश्चचतुष्टयी ४५ १ ६ पश्चाशक
सत्येनाऽग्निर्भवेच्छीतो ४८ १ १३
प्रियं सत्यं वाक्यं ४८ १ १४
सुरा सत्याद्वाक्यात् ४९ १ २
जणवय सम्मय ठवणा ४९ १ ५
दशवै. हारि. वृत्ति पृ. १०८ तथा म.
सा. पृ. २६१
उप्पन्न मिस्सिया विगय ४९ १ १०
दश.हारि.पृ. २०९-२लोकप्रकाश पृ. ३१२
आमंतणी आणवणी
इत्यादि गाथाद्वयं ५० १ १३

दश.हारि.पृ. २१०-
१ गत गाथा २७६ २७७
भासाणं भन्ते ५१ १ २
प्रज्ञापनासूत्र ११पद १५ सूत्र पृ. ७७९
शृङ्गार हास्य करुणा ५३ १ १४
वयणतियं लिंगतियं ५३ २ ९
बुद्धिए निएउणं ५४ १ ८
जो संजओ वि एयासु ५७ १ ५
प्र० पृ. १८० गाथा ६४१ वृत्तौ
कंदप्पदेव किब्बिस ५७ १ ७
प्र० पृ. १७९ गत ६४१ गाथा
कंदप्पे कुक्कुए ५७ २ ४
प्र. पृ. १७९ गत गाथा ६४२
सुयनाणं केवलीणं ५८ १ ४

प्र. पृ. १७९ गत गाथा ६४३
गूहइ आयसहावं ५८ २ ७
प्र. गाथा ६४३ गत पद्यं
कोउय १ भूइकम्मे ५८ २ ९
प्र. गाथा ६४४
सइविग्गहशीलत्तं ५९ १ ६
प्र. गाथा ६४५
उमग्गदेसणा मग्ग ५९ १ १४
प्र. गाथा ६४६
एयाओ विसेसेणं ५९ २ ९
प्र. पृ. १८३
तेऽणुविहियाय मन्ने ६२ २ ५
वेयावच्चं वावडभावो ६३ १ १०
अरिहंत सिद्ध चेइय ६३ १ ११

व्याक १२

प्रश्न० १३

पुंडरिय१ क्रिरियट्ठाणं२	८५	२	९
भवण१ वुण२ जोइ	८५	२	११
दस उद्देसणकाला	८५	२	१४
वय छक्कमिंदियाणं इत्यादि गाथाद्वयं	८६	१	६
सत्थ परिण्णा लोक विजओ	८६	१	१०
पिंडेसण सेज्ज इरिया	८६	१	१२
उग्घाई अणुग्घाई	८६	१	११
अट्ठ निमित्तंगाइं	८६	२	४
से ण तंसे न चउरंसे	८७	१	६
पडिलेहणसंट्ठाणे	८७	१	७
पंच णाणावरणे णव	८७	१	९
रायणियस्स सेहो	८८	१	७
जव गोधूम व्रीहि कंगु	९०	२	८
विइसुब्भेइम लोणं	९१	२	५
बत्तीसं किर कवला	९२	१	७
पिं.नि.गाथा ६४२			
वेयण वेयावच्चे	९२	२	१२
पिं. नि. गाथा ६६२			
काहे अछित्ति अदुवा	९३	१	१३
जं पि वत्थं च पायं वा इत्यादि गाथाद्वयं	९३	२	१२
अब्भत्थ विसोहिए	९४	१	९
लज्जा दय संयम	९५	१	१०
भंभा मउंद मद्दल	९७	१	१३
अरुणांदुंबर स्पर्श	१००	१	६
स्थूल१ मारुक२ महाकुष्ठ ३	१००	१	७
पृथक् समस्तैरपि	१००	१	११
पुराणोदक भूयिष्ठाः	१००	२	४
मूयो१ दणो२ जवन्नं ३ इत्यादि गाथाद्वयं	१०२	१	१४

व्याक०



प्रश्नव्याकरणाङ्गस्य विषयानुक्रमः



परमपूज्य-शान्तमूर्त्ति श्रीमत् पन्यास दयाविमलगणिवरपादपद्मेभ्यो नमः

तपागच्छाधिपति सूरिपुरन्दर श्रीमद् ज्ञानविमलसूरिवृत्त्युपेतम्

प्रश्नव्याकरणसूत्रम्

[द्वितीय विभागः संवरद्वारस्वरूपः]

जंबू !-एत्तो संवरदाराइं पंच वोच्छामि आणुपुव्वीए। जह भणियाणि भगवया सव्वदुहविमोक्खणट्टाए

तत्र प्रथममहिंसा-जीवदयालक्षणं संवरद्वारमभिवक्तुकामस्तत्प्रतिपादनार्थं शिष्यमामन्त्र्येदमाह-

जम्बूत्ति-हे जम्बू इतश्च आश्रवभणनाऽनन्तरं अवसरायातः संवरः-कर्मणामनुपादानं तस्य द्वाराणीव द्वाराणि-उपायाः संवरद्वाराणि पञ्च वक्ष्यामि-भणिष्यामि, आनुपूर्व्या-प्राणातिपातविरमणादिक्रमेण यथा भणितानि भगवता-महावीरेण श्रीवर्द्धमानस्वामिना, यथाशब्देनेति-अविपर्ययमात्रेणेति, अहिंसासाधर्म्यं न तु युगपत्सकलसंशयव्यवच्छेदसर्वस्वभाषानुगामिभाषादिभिरतिशयैः सर्वदुःखविमोक्षणार्थमिति १

॥१॥ पढमं होइ अहिंसा बितियं सच्चवयणंति पन्नत्तं । दत्तमणुन्नाय संवरो य बंभचेरमपरिग्गहत्तं च ॥२॥ तत्थ पढमं अहिंसा तसथावरसव्वभूयखेमकरी। तीसे सभावणाओ किंची वोच्छं गुणुद्देसं ॥३॥ ताणि उ इमाणि सुव्वय! महव्वयाइं लोकहियसव्वयाइं सुयसागरदेसियाइं तवसंजममहव्वयाइं सीलगुणवरव्वयाइं सच्चज्जवव्व-

प्रथमं संवरद्वारं भवति अहिंसा १, द्वितीयं सत्यवचनमिति प्ररूपितं भगवद्भिः २, तृतीयं अदत्तविपक्षं दत्तं-वितीर्णं अशनादि अनुज्ञातं स्वामिजीवतीर्थंकरगुरुभिरिति भोग्यतया, संवरोत्ति दत्तानुज्ञातग्रहणलक्षणः संवरस्तृतीयः ३ चतुर्थं ब्रह्मचर्यं शीलं ४ पञ्चमं अपरिग्रहत्वं च संवरौ ॥२॥

तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं संवरद्वारं अहिंसा-जीवघातवर्जनं

'कल्लाणकोडिजणणी दुरंतदुरियारिवग्गनिट्ठवणी,, इक्कुच्चिय जीवदया भणिया वरनाणदंसीहिं ॥१॥ इति

कीदृशी ? त्रसस्थावराणां सर्वेषां भूतानां क्षेमकरणशीला कुशलकारिणीत्यर्थः, तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु-भावनापञ्चकोपेताया अग्रे वक्ष्यमाणायाः किञ्चित् अल्पं अल्पं वक्ष्ये गुणोद्देशं-गुणोत्कीर्त्तनमिति ३

यानि संवरशब्देन अभिहितानि तानि नामानि हे सुव्रत ! शोभनव्रत ! जम्बूनामन् ! महांति-करणत्रयेण यावज्जीवं सर्वविषयनिवृत्तिरूपत्वात् महांति अणुव्रतापेक्षया वा बृहन्ति व्रतानि-नियमा-यमा वा। लोके धृतिदानि जीवलोकचित्तस्वास्थ्यकारीणि, ॥१॥

१ एवं पञ्चाश्रवस्याऽपि प्रतिपक्षिपञ्चसंवरान् उक्त्वा परं मुख्यसंवरस्य द्वारं सम्यक्त्वं मया न कथितं वक्त्रा सविस्तरेण सम्यक्त्वरूपाधिकारोऽत्र वाच्यः

याइं नरगतिरियमणुयदेवगतिविवज्जकाइं सव्वजिणसासणगाइं कम्मरयविदारगाइं भवसयविणासणकाइं दुह-सयविमोयणकाइं सुहसयपवत्तणकाइं कापुरिसदुरुत्तराइं सप्पुरिसनिसेवियाइं निव्वाणगमणसग्गप्पणायकाइं संवरदाराइं पंच कहियाणि उ भगवया॥ तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो

यथाश्रुतसागरे देशितानि यानि कथितानि, तथा तपः-पूर्वकर्मनिर्जरणफलं संयमः-पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणोऽभिनवकर्म्मानुपादान-फलस्तद्रूपाणि व्रतानि तपःसंयमयोर्नास्ति व्ययः-क्षयो येषु तानि, तथा शीलं-भोगेषु संकल्पसमाधानं, गुणाश्च विनयादयः तैर्वराणि प्रधानानि यानि व्रतानि तानि शीलगुणवरव्रतानि, तथा सत्यं मृषावादवर्जनं आर्जवं-मायावर्जनं तत्प्रधानानि व्रतानि यानि तथा सत्यार्जवाव्ययानि वा, तथा नरकतिर्यग्मनुजदेवगतीर्विवर्जयन्तीति-मोक्षप्रापणेन तासां गतीनां व्युच्छेदकानि यानि, सर्वजिनैः शिष्यन्ते-प्रतिपाद्यन्ते यानि सर्वजिनशासनानि। कर्मरजो विदारयन्ति-स्फोटयन्ति तानि विदारकानि, भवशतविनाशकानि अतएव दुःखशतविमोचकानि, सुखशतप्रवर्त्तकानि। पुनः कीदृशैः कापुरुषैः कातरैर्दुःखेन उत्तीर्यन्ते निष्ठां नीयन्ते इति। सत्पुरुषैर्धीरैर्निषेवितानि सत्पुरुषग्रासतीराणीत्यर्थः, इह च पुरुषग्रहे स्त्रीणामुपलक्षणं न तन्निषेधोऽत्र प्रतिपत्तव्यः, बहु वाच्यं तत्तु ग्रन्थान्तरादवसेयं। पुनः कीदृशानि निर्वाणगमनमार्ग इव मार्गो मोक्षमार्गो यानि तानि, तथा स्वर्गप्रयाणकानि-देहिनां स्वर्गे गमने प्रयाणकानि प्रापणकानि यानभूतानि वा सर्वत्र कर्मधारयस्तानि, महाव्रतसंज्ञितानां संवरद्वाराणि पञ्च संख्याकानि। एतेषां एतन्माहात्म्यं कथं? विशिष्टमणे-तृत्वात् तदाह भगवता-श्रीमन्महावीरेण कथितानि अतो हेतोः स्वर्गापवर्गप्रदानीति भावः इति प्रथमसंवराध्ययनप्रस्तावना।

तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं-आद्यं संवरद्वारं अहिंसा, किंभूता? सदेवमनुजासुरलोकस्य भवति, द्वीपो यथा गाधोदधिमध्यमग्नानां

ताणं सरणं गती पइट्ठा निव्वाणं १ निव्वुई २ समाही ३ सत्ती ४ कित्ती ५ कंती ६ रती य ७ विरती य ८ सुयंगतित्ती ९-१० दया ११ विमुत्ती १२ खन्ती १३ सम्मत्ताराहणा १४ महंती १५ बोही १६ बुद्धी १७ धिती १८

नानाश्वापदकदम्बककदर्थितवेगमहोर्म्मिमालामथ्यमानगात्राणां प्राणिनामाश्वासस्थानं द्वीपो भवति, द्विधा गता आपो यस्मिन्निति [1]द्वीपं तथा अहिंसा संसारोदधिमध्यगतानां व्यसनशतश्वापदपीडितानां संयोगवियोगवीचिविधूरगात्राणां त्राणं भवति, तस्याः संसारोत्तारहेतुत्वात् अहिंसा द्वीपतुल्या। यथा वा दीपः अन्धकारनिराकृतदृक्प्रसराणां हानोपादानविमूढमनसां तिमिरनिराकरणेन प्रवृत्तिकारणं भवति,तथा अहिंसाऽपि ज्ञानावरणीयकर्मतिमिरनिराकरणविशुद्धिबुद्धिप्रभापटलप्रवर्त्तनेन सकलशुभप्रवृत्तिहेतुत्वात् दीप इव दीपः, तथा त्राणं परेषामापन्निवारणत्वात्, शरणं तथैव संपदां संपादनत्वात्, पुनः कीदृशी गम्यते आश्रीयते श्रेयोभिरिति गतिः, प्रतिष्ठंते आसते सर्वगुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठा, १ निर्वाणं मोक्षस्तद्धेतुत्वात्, २ निर्वृत्तिः-स्वास्थ्यं दुर्ध्यानरहितत्वात्, ३ समाधिः समताशक्तिकारणात्, ४ शांतिः परद्रोहविरतिः, ५ कीर्तिर्यशः ख्यातिः, ६ कान्तिः शोभाकारणत्वात्, ७ रतिः-सर्वेषां रागहेतुत्वात्, ८ विरतिर्निवृत्तिः, ९-१० श्रुतं श्रुतज्ञानं तदेव अङ्गं कारणं यस्याः सा 'पढमं नाणं तओ दया' इति पाठात्, तृप्तिः संतोषस्तस्य हेतुत्वात् तृप्तिः, ११दया देहिरक्षा, १२तथा विमुच्यते प्राणीसकलवधबन्धनेभ्यो यया सा विमुक्तिः, १३क्षान्तिः क्रोधनिग्रहः तज्जनिताऽहिंसाऽपि क्षान्तिः, १४ सम्यक्प्रतीतिरूपं स्याद्वादे सम्यग् बोधो वा तस्य आराधना-सेवना, १५ महंती सर्वधर्मानुष्ठानानां मध्ये बृहती यदुक्तं-निं[2]दिट्ठं एत्थ वयं इक्कं चिय जिणवरेहिं सव्वेहिं,पाणाइवायवेरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा ॥१॥

१ बेट इति भाषा। २ निर्दिष्टं अत्र व्रतं एकमेव जिणवरैः सर्वैः, प्राणातिपातविरमणमवशेषाणि तस्य रक्षार्थम् ॥१॥

समिद्धी १९ रिद्धि २० विद्धी २१ ठिती २२ पुट्ठी २३ नंदा २४ भद्दा २५ विसुद्धी २६ लद्धी २७ विसिट्ठदिट्ठी २८ कल्लाणं २९ मंगलं ३० पमोओ ३१ विभूती ३२ रक्खा ३३ सिद्धवासो ३४ अणासवो ३५ केवलीण ठाणं ३६ सिवं

१६ बोधिः–सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः अहिंसा–अनुकम्पा सा च बोधिकारणं यथा–अणुकम्पऽकामणिज्जरबालतवे दाणविणयविब्भङ्गे संजोगविप्पजोगे वसणूसवइड्ढिसक्कारे ॥१॥ इत्यावश्यकनिर्युक्तिवचनात् १७ तथा बुद्धिः–साफल्यकारणत्वात् तथा च–बावत्तरिकलाकुसला पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव। सव्वकलाणं पवरं जे धम्मकलं न याणंति ॥१॥ धर्मश्चाहिंसैव, १८ धृतिश्चित्तदार्ढ्यं, १९समृद्धिः–आनन्दहेतुत्वात्, २० ऋद्धिः लक्ष्मीहेतुत्वात्, २१वृद्धिः पुण्यप्रकृतिसम्पादनात्, २२स्थितिः साद्यपर्यवसितमोक्षस्थितिहेतुत्वात्, २३ पुष्टिः पुण्योपचयकारणत्वात्, पुरा पापापचयः पुष्टिर्वा, २४ नन्दयति स्वं परं वा इति नन्दा, २५ भद्रं–कल्याणं स्वस्य परेषां वा करोतीति भद्रा। २६ तथा विशुद्धिः–पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात्, २७ लब्धिः केवलज्ञानादिलब्धिनिमित्तत्वात्, २८ विशिष्टदृष्टिः–प्रधानदर्शनं स्याद्वादमित्यर्थः अन्यदर्शनस्याऽप्राधान्यमेव यदुक्तं—

किं तीए पढियाए पयकोडीए पलालभूयाए, जत्थेत्तियं न नायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥१॥

२९ कल्यं–आरोग्यं तत्प्रापकत्वात्कल्याणं, ३० मङ्गलं–दुरितोपशमकत्वात्, ३१ प्रमोदः हर्षोत्पादकत्वात्, ३२ विभूतिः–सर्व-

१ अनुकम्पाऽकामनिर्जराबालतपोदानविनयविभङ्गाः। संयोगविप्रयोगौ व्यसनोत्सवर्द्धिसत्काराः ॥१॥

२ द्वासप्ततिकलाकुशलाः, पण्डितपुरुषाः अपण्डिताश्चैव। सर्वकलानां प्रवरां, ये न धर्मकलां जानन्ति ॥१॥

३ किं तया पठितया पदकोट्या, पलालभूतया। यत्रैयत् न ज्ञातं परस्य पीडा न कर्त्तव्या ॥१॥

३७ समिई ३८ सील ३९ संजमो ४० त्ति य सीलपरिघरो ४१ संवरो ४२ य गुत्ती ४३ ववसाओ ४४ उस्सओ ४५ जन्नो ४६ आयतणं ४७ जतण ४८ मप्पमातो ४९ अस्सासो ५० वीसासो ५१ अभओ ५२ सव्वस्सवि अमाघाओ ५३ चोक्ख ५४ पवित्ता ५५ सूती ५६ पूया ५७ विमल ५८ पभासा ५९ य निम्मलतर ६० त्ति एवमादीणि निय-

---

ऋद्धिसंपन्निमित्तत्वात्, ३३ रक्षा-जीवरक्षणस्वभावत्वात्, ३४ सिद्धयावासो-मोक्षनिबन्धनत्वात्, ३५ अनाश्रवः कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात्, ३६ केवलिनां स्थानं केवलिनामहिंसैव तत्र व्यवस्थितत्वात् योगनिरोधत्वात् अन्यथा जावं च णं आरम्भे समारम्भे वट्टइ इत्यादिसूत्रविरोधापत्तेरित्थं बहुवक्तव्यमस्ति तत्तु नोक्तं। ३७ शिवं-निरुपद्रवहेतुत्वात्, ३८ समितिः-सम्यक्प्रवृत्तिरूपत्वात् अहिंसासमितिः, ३८ शीलं समाधानरूपत्वात्, ४० संयमः-हिंसोपरतत्वात्, ४१ शीलं सदाचारो ब्रह्म वा तस्य गृहं चारित्रस्थानं, ४२ संवरश्च प्रतीतानाश्रवत्वेन, ४३, गुप्तिः अशुभानां मनःप्रभृतीनां रोधः, ४४ विशिष्टः शोभनः अवसायः अविकलभावसंपन्नत्वात् विशिष्टव्यापारः, ४५ उच्छ्रयो-भावोन्नतित्वं, ४६ यज्ञो-भावदेवपूजा, ४७ आयतनं-गुणानां आश्रयः, ४८ यजनं-अभयस्य दानं यतनं वा-प्राणरक्षणप्रयत्नः, ४९ अप्रमादः प्रमादवर्जनं, ५० आश्वासः परमतृप्तिहेतुत्वात्, ५१ विश्वासो-विस्रंभः प्राणिनां, ५२ अभयः-सर्वप्राणिगणस्य निर्भयत्वं, ५३ अमाघातः अमारिः मरणरहितत्वात्, ५४ चोक्षा पवित्रा पवित्रादपि पवित्रा एकार्थशब्दद्वयोपादानात् अत्यर्थं पवित्रा अथवा ५५ पविवत् वज्रवत् त्रायते इति पवित्रा, ५६ शुचिः-भावशौचरूपा आह च-

सत्यं शौचं तपः शौचं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमं ॥१॥ इति

५७ पूता पवित्रा पूजा वा भावतो देवताया अर्चनं, ५८-५९ विमलः प्रभासा च तन्निबन्धनत्वात्, ६० निर्मलं-कर्मरजोरहितं

गगुणनिम्मियाइं पज्जवनामाणि होंति अहिंसाए भगवतीए [सूत्रं २१] एसा सा भगवती अहिंसा जा सा भी-
याण विव सरणं, पक्खीणं पिव गमणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं,
चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्टियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे विसत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा
जा सा पुढविजलअगणिमारुयवणस्सइबीजहरितजलचरथलचरखहचरतसथावरसव्वभूयखेमकरी एसा भगवती

वतीं करोतीति निर्मलका एवमादीनि-एवं प्रकाराणि निजक-स्वकगुणनिष्पादितानि निर्म्मितानि यथार्थानीत्यर्थः, पर्यायनामानि
तदभिधानानि भवन्ति इत्यर्थः। अहिंसाया दयायाः भगवत्याः इति पूजावचनं।

एषा पूर्वोक्तनामार्थमाया भगवती पूज्या अहिंसा कीदृशी? या सा प्रसिद्धा भीतानां—भयप्राप्तानां देहिनां शरणमिव शरणं गृहं त्राणं १ पक्षिणां विहायोगमनमिव गमनं यथा पक्षिणां गतौ गमनाधारः आकाशं तद्वत् सकलधर्माणामाधारः अहिंसा २ तृषितानामिव सलिलं—जलं प्राणरक्षणत्वात् ३ क्षुधितानामिव अशनं भोजनं 'अन्नं प्राणा घृतं तेज इति वचनात् ४ समुद्रमध्ये पतितानां यथा पोतवहनं प्रवहणमारणं ५ चतुष्पदानां यथा आश्रमपदं-गोष्ठतुल्यं आश्रमे यथा चतुष्पदास्तिष्ठन्ति ६ दुःखस्थितानां च यथा ओषधिबलं यथापीडितानां औषधिस्तोपकारिणी ७ अटवीमध्ये यथा सार्थवाहागमनं यथा सार्थपतिररण्ये सुखकृत्तथा अहिंसा। एतेभ्योऽपि विशिष्टतरा प्रधानतरा अहिंसा शरणादीनामपि विशेषणेभ्यः या सा, पृथ्वी जल—अप्कायः अग्निस्तेजस्कायः मारुतो—वायुः वनस्पतिः बीजा शाल्यादयः हरितास्तृणादयः जलचरा मत्स्यादयः स्थलचराश्चतुष्पदाः खचराः—पक्षिणः त्रसा द्वीन्द्रियादयः स्थावराः पृथिव्यादयः एतेषां सर्वभूतानां क्षेमकरी कल्याणकरी एषा भगवती पूज्या अहिंसा या सा प्रसिद्धा एतादृशी अहिंसकैः

अहिंसा जा सा, अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सीलगुणविणयतवसंयमनायकेहिं तित्थंकरेहिं सव्वजगजीववच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचंदेहिं सुट्ठु दिट्ठा ओहिजिणेहिं विण्णाया उज्जुमतीहिं विदिट्ठा विपुलमतीहिं वि-

पुलैः प्रकाशिता तामाऽऽह–

अपरिमितं–अमेयं ज्ञानदर्शनं येषां ते तैरित्यर्थः, शीलं–समाधानं तदेव गुणः शीलगुणः विनयतपःसंयमाश्च तान् नयंति प्रापयन्ति ते नायकाः स्वस्य परेषां वा तैस्तीर्थकरैर्द्वादशाङ्गसङ्घप्रथमगणधरकृद्भिः तित्थं भंते 'तित्थं चाउवण्णे संघे पवयणे पढमगणहरे वा' इति वचनात्, सर्वजगज्जीववत्सलैः योगक्षेमकारित्वात् करुणोपेतैः, त्रैलोक्यमहितैस्तीर्थकरनामकर्मणः जगत्पूज्यनीयत्वात्, जिनचन्द्रैः–कारुण्यैकनिशाकरैः जिनाः–सामान्यकेवलिनस्तेषां मध्ये चन्द्रा इव चन्द्रास्तैः, सुष्ठु शोभनतया दृष्टा केवलालोकनतः स्वरूपतः कार्यतश्च। सम्यग् विनिश्चिता तत्र गुरूपदेशतः कर्मक्षयोपशमाद्वा बाह्याभ्यन्तरकारणतः, कार्यतस्तु अस्याः प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणकृदपि हिंसा प्रतिपक्षरूपत्वात् यतनापरिणामेनेति प्रोक्ता। विशिष्टावधिज्ञानिनस्तैरपि विज्ञाता ज्ञपरिज्ञया बुद्धा विशिष्टतया ज्ञाता, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सेविता। ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिर्येषां ते ऋजुमतयस्तैः ऋजुमतिभिर्दृष्टा अवलोकिता, विपुला–विशिष्टविशेषग्राहिणी मतिर्येषां ते विपुलमतयस्तैर्विपुलमतिभिर्विशेषतो दृष्टा, ऋजुमति–विपुलमतिर्द्विभेदा अपि मनःपर्यवज्ञानिनः कथ्यन्ते सार्द्धद्वयद्वीपस्थितसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमनोगतपर्यायवेदिनस्तैर्नितरां दृष्टा रिउसामण्णं तम्मत्तग्गाहिणी मइ रिउमईय घडमित्तं चिन्तियमणेण नाणं पायं मणोदव्वे, विउला विसेसगाहिणी मई सा विउलमई नाणम्मि मयसोवण्णिय वा पाडलीपुत्तो घडोऽणेण ॥२॥ इति विशेषस्तु नन्दीतो ज्ञेयः। उत्पादाग्रायणीयादिचतुर्दशपूर्वधरैरधीता श्रुतान्तर्गुम्फिता

दिता पुव्वधरेहिं अधीता वेउव्वीहिं पतिन्ना, आभिणिबोहियनाणीहिं, सुयनाणीहिं, मणपज्जवनाणीहिं, केवलनाणीहिं, आमोसहिपत्तेहिं, खेलोसहिपत्तेहिं, विप्पोसहिपत्तेहिं, जल्लोसहिपत्तेहिं, सव्वोसहिपत्तेहिं,

---

सती पठिता, विकुर्विभिः–वैक्रियलब्धिधारिभिः प्रतीर्णा आजन्म पालिता इत्यर्थः, आभिनिबोधिकज्ञानिभिः–मतिज्ञानवद्भिस्तथा श्रुतं–आचाराङ्गादि तदध्येतृभिः श्रुतज्ञानवद्भिः सम्यक्प्रकारेण यतनया अनुचीर्णा प्रतिक्षणं प्रतिक्षणं आचरिता, मनःपर्यवज्ञानिभिः केवलज्ञानिभिः आमर्शः–स्पर्शः स एव औषधिरिव औषधिः सर्वरोगप्रहर्तृत्वात् तपश्चरणप्रभावात् लब्धिविशेषः तेन प्राप्ता ये ते तैः एवं सर्वत्र योज्यं। खेलो–निष्ठीवनं तदेव औषधिरिव औषधिस्तां प्राप्तास्तैः, विड्रूपा–मूत्रपुरीषावयवा अथवा विडत्ति विट्–विष्टा पत्ति–प्रश्रवणं मूत्रं शेषं तथैव व्याख्यातं, जल्लः–शरीरमलस्तदेव औषधिरूपं येषां ते तैः जल्लौषधिलब्धिमद्भिः, सर्व एव आमर्शादयः लब्धयः उक्ता अन्ये च बहवः अवयवाः सर्वा अपि औषधयस्ताः लब्धाः–प्राप्तास्तैः,

अथ प्रसङ्गादागतं लब्धिस्वरूपं किञ्चिदवबोधाय लिख्यते

सम्मोणु सव्वविरई मल–विप्पोऽमोस खेलं सव्वोसही। विउव्वी आसीविस ओही रिउ विउलं केवलयं ॥१॥
संभिन्न चक्की जिणं हरि बले चारण पुव्व गणहर पुलाए। आहारग महुघयखीरआसवो कुट्ठवुद्धीय ॥२॥
थीपमई पयाणुसारी अक्खीणग तेयं सीयलेसाइ। इय सयल लद्धिसंखा भवियमणुयाणमिह सव्वा ॥३॥

इति पूर्वाचार्यप्रणीतगाथात्रयं विचार्यते—

तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यक्त्वं स्याद्वादमतप्रतीतिः अस्तित्वमस्तिभावेन, नास्तित्वं नास्तित्वभावनैः। उभयत्वमेकभावेषु तत्त्वं स्याज्जिनभाषितं ॥१॥ इत्यादिरूपं तच्चानेकविधं यदुक्तं—

दंसणमिह सम्मत्तं तं पुण नव्वत्थ[तत्तत्थ] सद्दहणरूवं। खइयं खओवसमियं तहोवसमियं च नायव्वं ॥१॥
वेयगमवि सासायण पञ्चविहं होइ चत्तमिच्छत्तं। आयारमट्ठभेयं जो पालेइ तस्स सम्मत्तं ॥२॥

इत्यादिरूपा लब्धिः–प्रापणं सम्यक्त्वलब्धिः १, पृथक्त्वपल्योपमस्थितिमिथ्यात्वाऽपनयतो अणुव्रतप्रापणलब्धिः–अणुलब्धिः, समतम्मि य लद्धे पलियपहुत्तेण सावओ होइ, चरणोवसमखयाणं सागरसंखंतरा हुंति ॥१॥ इति वचनात्, [प्रवचन० वृत्ति पृ० ४०४] जीवो यदा ग्रन्थिभेदं कृत्वा सम्यक्त्वं प्राप्नोति ततो पश्चात् अन्तःकोटिस्थितिमध्यात् पलियपहुत्तत्ति केऽपि द्विपल्यस्थितिन्यूना क्रियते केऽपि त्रिपल्योपमन्यूना क्रियते एवं यावत् नवपल्योपमपर्यन्तं तदा देशविरतस्य प्राप्तिः स्यात्। अणुशरीरकरणशक्तिः यथा विशच्छिद्रमपि प्रविशति तत्र चक्रवर्त्तिभोगानपि भुङ्क्ते इत्यणुलब्धिः २। तथा सर्वविरतिलब्धिः सप्तदशधा संयमप्रापणं पञ्चाश्रवविरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः दण्डत्रयविरतिप्रापणं तदेव लब्धिः सर्वविरतिलब्धिः ३। मलो–जल्लः कर्णवदननासिकानयनजिह्वासमुद्भवः शरीरसंभवश्च यत्प्रभावात्सुगन्धीभवन् सर्वत्र भेषजीभावं भजते सा लब्धिर्मललब्धिः, लब्धिशब्दस्य प्रतिपदं योजना कार्या, सा मलौषधिलब्धिः कस्याऽपि शरीरैकदेशे समुत्पद्यते कस्याऽपि सर्वस्मिन् शरीरे, यदि स तेन आत्मानं परं वा व्यपगतरोगमिति बुद्ध्या लिम्पति तदा व्याधेरपगमो भवति ४॥ मूत्रस्य पुरीषस्य वाऽवयवो विप्रुड् इत्युच्यते। अन्ये तु विप्रुड् विष्टा प्रश्रवणं च ते द्वे औषधी यस्य विप्रुडौषधिरित्याहुः, अन्ये विड्त्ति विष्टा ताः संति पत्ति पासवणं 'एए अन्ने य बहु जेसिं सुरहिणोऽव-

यवा रोगोत्सममसमत्थाते हुन्ति ओपहीपत्ता'।५। आमर्शणं आमर्शः संस्पर्शनं स एव औषधिर्यस्या सा वाऽमर्शौंपधिः,करादि-संस्पर्शमात्रादेव व्याध्यपनयनसमर्थः लब्धिलब्धिमतोरभेदोपचारात् साधुरेवाऽमर्शौंपध्यादिलब्धिमानित्यर्थः, एवं शेपपदेष्विति भावनीयं,इदमत्र तात्पर्यं तत्प्रभावात् स्वहस्तपादाद्यवयवपरामर्शमात्रेणैवाऽऽत्मनः परस्य वा सर्वेऽपि रोगाः प्रणश्यन्ति सा आमर्शौंपधिलब्धिः ६ खेलं-श्लेष्मा तल्लब्धिमन्तो यदि आत्मानं परं वा रोगापनयनबुद्ध्या परामृशन्ति तदा तद्रोगापगमः। तथा चोक्तं योगशास्त्रान्तरश्लोकवृत्तौ तथाहि-

तथाहि योगमाहात्म्यात् योगिनां कफविन्दवः। सनत्कुमारादेरिव, जायन्ते सर्वरुक्छिदः ॥१॥ [मुद्रित योगशास्त्रवृत्तौ पृ० १०-२]

योगिनां योगमाहात्म्यात् पुरीषमपि कल्पते। रोगिणां रोगनाशाय, कुमुदामोदशालि च ॥२॥

मलः किल समाम्नातो, द्विविधः सर्वदेहिनां। कर्णनेत्रादिजन्मैको द्वितीयस्तु वपुर्भवः॥३॥

योगिनां योगसंपत्ति-माहात्म्यात् द्विविधोऽपि सः। कस्तूरिकापरिमलो रोगहा सर्वरोगिणां ॥४॥

रोगिणां कायसंस्पर्शः, सिञ्चन्निव सुधारसैः। क्षिणोति तत्क्षणं सर्वानामयानामयाविनाम् ॥५॥

सर्वे एते विण्मूत्रकेशनखादयोऽवयवाः सुरभयो व्याध्यपनयनत्वादौपधयो यस्याऽसौ सर्वौंपधिः, अथवा सर्वा आमर्शौंपध्यादिकाः औपधयो यस्यैकस्याऽपि साधोः सा सर्वौंपधिः तथा चोक्तं—

नखा केशा रदाश्चान्यदपि योगिशरीरजं। भजते भैपजीभावमिति सर्वौपधिः स्मृता ॥१॥

तथाहि-तीर्थनाथानां, योगभृच्चक्रवर्त्तिनां। देहास्थिसकलस्तोमः, सर्वः स्वर्गेषु पूज्यते ॥२॥ [मुद्रित योगशास्त्र-वृत्ति पृ. १२-२]

किं च मेघमुक्तमपि वारि यदंगसंगमात्रदीवाप्यादिगतमपि सर्वरोगहरं भवति। तथा विषमूर्च्छिता अपि यदंगसङ्गे वातस्पर्शादेव निर्विषाः स्युः। विषसंपृक्तमप्यन्नं यन्मुखप्रविष्टं सदऽविषं स्यात्-महाविषव्याधिबाधिता अपि जीवा यद्वचः-श्रवणमात्राद्दर्शनाच्च वीतविकाराः स्युः, एष सर्वोऽपि सर्वौषधिप्रकारः ८।

वैक्रियलब्धिरनेकधा तद्यथा महत्त्वं-मेरोरपि महत्तरशरीरकरणसामर्थ्यं १ लघुत्वं-वायोरपि लघुतरशरीरताकरणं २ गुरुत्वं वज्रादपि गुरुशरीरतया इन्द्रादिभिरपि प्रकृष्टबलैर्दुस्सहता वा ३ प्राप्तिर्भूमिस्थस्याङ्गुल्यग्रेण मेरुपर्वताग्रप्रभाकरादिस्पर्शसामर्थ्यं ४ अप्सु भूमाविव प्रविशतो गमनशक्तिः अप्स्विव भूमावुन्मज्जननिमज्जने वा प्राकाम्यं ५ इशित्वं त्रैलोक्यस्य प्रभुता तीर्थकरत्रिदशेश्वरऋद्धिविकुर्वणं ६ वशीत्वं-सर्वजीववशीकरणलब्धिः ७ अप्रतिघातित्वं अद्रिमध्येऽपि निःशङ्कं गमनशक्तिः ८ अन्तर्धानमदृश्यरूपता ९ कामरूपित्वं युगपदेव नानाप्रकाररूपविकुर्वणशक्तिः १० इत्याद्यनेकविधवैक्रियलब्ध्यन्तर्गता अणिमादयः सिद्धयो भवन्ति ॥ ९॥

आसी-दाढा तग्गय महाविसासीविसा दुविह भेया। ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउविहविगप्पा॥१॥ आस्यो वदनमध्यगतदंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते 'आशीविषा,'आशीरिष्टप्रशंसायां दंष्ट्रायां पवनाशिनामित्यनेकार्थतिलकवचनात्' ते द्विधा जातितः कर्मतश्च, जातितो वृश्चिकमण्डकोरगमनुष्यजातयः, वृश्चिकविषं तूत्कर्पतोऽर्द्धभरतप्रमाणशक्तिः परं न केनाऽपि कृता कुर्वाणा कारिष्य-

माणा वा, मण्डूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणं, भुजङ्गविषं जम्बूद्वीपमानं, मनुष्यविषं समयक्षेत्रप्रमाणं शक्त्या इति जातितः, कर्मतश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनयो मनुष्या देवाश्चासहस्रारान्ता एते तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणत आशीविषवृश्चिकादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्ति, देवास्तु अपर्याप्तावस्थायां तच्छक्तिमन्तो ज्ञेयाः, ते हि पूर्वभवे समुपार्जिताशीविषलब्धयः सहस्रारान्तर्देवेष्वपि नवोत्पन्नाः प्राग्भवविकाशी विषलब्धिसंस्कारेण अपर्याप्तावस्थायामाशीविषलब्धयो व्यवह्रियन्ते, पर्याप्तावस्थायां संस्कारस्यापि निवृत्तिरिति न तद् व्यपदेशभाजः, तेऽपि शापादिना परं व्यापादयन्ति परं न तल्लब्धिव्यपदेशो, भवप्रत्ययतस्तथारूपसामर्थ्यस्य सर्वसाधारणत्वात्, गुणप्रत्ययो हि सामर्थ्यविशेषो लब्धिरित्याशीविषलब्धिः १०

ओहीत्ति अवशब्दो–अधः शब्दार्थः अवो–अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः, अथवा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानं तस्य लब्धिः–प्राप्तिरवधिलब्धिः। सा तु भवप्रत्ययगुणप्रत्ययिकभेदाभ्यां क्षयोपशमवैचित्र्यतः द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्मनः असंख्येयभेदास्ते तु आवश्यकवृत्तिनन्दीवृत्त्यादिभ्योऽवसेयाः ११ ।

ऋजुमतिरिति ऋज्वी–सामान्यग्राहिणी मतिर्घटोऽनेन चिन्तित इति,

रिउ–सामण्णं तम्मत्तग्गाहिणी रिउमइ मणोनाणं । पायं विशेषविमुहं घडमित्तं चिन्तियं मुणइ १

ऋजुमतिः–प्रायो बाहुल्येन विशेषविमुखं–देशकालाद्यनेकपर्यायपरित्यक्तं परेण चिन्तितं जानाति सा ऋजुमतिलब्धिः १२

विपुला–विशेषग्राहिणीमतिर्विपुलमतिः घटः सौवर्णः पाटलिपुत्रीयः ।

---

१ अढीद्वीपप्रमाणं । २ अष्टमदेवलोकं यावत् ।

विउलं वत्थुविसेसेण नाणं तग्गाहिणीमइ विउला। चिन्तियमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहिं ॥१॥

तथा विपुलं-विस्तीर्णं घटादेर्विशेषणानां देशकालादीनां मानसंख्यास्वरूपं तद्ग्राहिणी मतिः, सा च परेण चिन्तितं घटं प्रसङ्गतः पर्यायसहितैरुपेतं अनुसरति, सौवर्णो राजतो मृन्मयो वा अद्यतनो वा महान् अपवरकस्थित इत्याद्यपि प्रभूतविशेषविशिष्टघटं परेण चिन्तितमवगच्छतीत्यर्थः, इदमत्र तात्पर्यं मनःपर्यायज्ञानं द्वेधा ऋजुमतिर्विपुलमतिश्च, ततश्च सामान्यवस्तुमात्रचिन्तनप्रवृत्तिमनः-परिणामग्राहि किञ्चिदविशुद्धतरमर्द्धतृतीयाङ्गुलहीनमनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं ऋजुमतिः, पर्यायशतोपेतघटादिवस्तुविशेषचिन्तनप्रवृत्तमनो-द्रव्यग्राहि स्फुटतरं-सम्पूर्णं मनुष्यक्षेत्रविषयं ज्ञानं विपुलमतिः। तत्र ऋजुमतिज्ञानं याति विपुलमतिस्तु केवलज्ञानहेतुः। यद्यपि सामान्यविशेषे सत्यपि मनःपर्यवज्ञाने दर्शनं न भवति, कथं? सामान्यविशेषधर्मस्तु बोधे एव तिष्ठति, यथा मतिश्रुतयोः सामान्यविशेषे सत्यपि दर्शनं नास्ति तद्वदत्राऽपि ज्ञेयं, दर्शनस्याऽनाकाररूपत्वादत्र तु साकरोपयोगे सामान्यविशेषात्मको बोधधर्मो ज्ञेयः, न तु दर्शनावरण-गतदर्शनधर्मो विवक्षितः, अत्र बहुवक्तव्यं तत्तु तत्त्वार्थवृत्ति-विशेषावश्यकवृत्तितो ज्ञेयमिति मनःपर्यवज्ञानलब्धिः १३। [मु० तत्त्वार्थ-वृत्ति पृ० १०१

केवलं असहायं-मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्, निरावरणं, सम्पूर्णं केवललब्धिः प्रतीता १४।

संभिन्नत्ति-यः सर्वैरपि शरीरप्रदेशैः शृणोति स संभिन्नश्रोताः एकेनापीन्द्रियेण समस्तापरेन्द्रियैर्गम्यान् विषयान् योऽवगच्छति स इत्यर्थः। संभिन्नानि परस्परत एकरूपतामापन्नानि श्रोतांसि इन्द्रियाणि यस्येति वा-अथवा द्वादशयोजनविस्तृतस्य चक्रिसैन्यस्य युगपद् ब्रुवाणस्य तत्तूर्यसंघातस्य वा समकालमास्फाल्यमानस्य सम्भिन्नान् लक्षणतो विधानतश्च परस्परविभिन्नान् जननिवहसमुत्था-

न् शंखकाहलभेरीमाणढक्कादितूर्यसमुद्भवशब्दान् युगपदेव विशेषतया शृणोति स संभिन्नश्रोतोलब्धिमान् ॥१५॥

चक्रवर्तित्वं १६ अर्हत्त्वं १७ वसुदेवत्वं १८ बलदेवत्वं १९ एता ऋद्धयस्तु ग्रन्थान्तराद्वर्णनतः सुबोधाः ।

अथ अतिशयगमनागमनलब्धिसंपन्नाश्चारणास्ते च द्विधा जङ्घाचारणा विद्याचारणाश्च, ये चारित्रपवित्राः षष्ठाद्यनिदानतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतातिशयगत्या गतिलब्धियुक्तास्ते चारणाः, ते प्रथमोत्पातेन त्रयोदशं रुचकद्वीपं यान्ति, वलमानाः प्रथमोत्पातेन नन्दीश्वरे, द्वितीयोत्पातेन यत गतास्तत्राऽऽयान्ति, ऊर्ध्वमेकेनैव मेरुशिरसि पाण्डुकवनं, वलन्तो एकेन नन्दनवनं, द्वितीयेन स्वस्थानं, तेषां चारित्राऽतिशयप्रभावतो लब्धिः स्यात्ततो लब्ध्युपजीवनौत्सुक्यप्रभावतः प्रमादसम्भवाच्चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिरपि हीयते, ततो वलन्तो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थानं यान्तीति । ये पुनर्विद्यातिशयतः अष्टमादितपोविशेषतः समुत्पन्नगत्या गतिलब्धयस्ते विद्याचारणाः, ते चोत्पातेनैकेन मानुष्योत्तरं, द्वितीयेन नन्दीश्वरं यान्ति, वलन्तः स्वस्थानं एकेनैव, ऊर्ध्वमेकेन नन्दनवनं, द्वितीयेन पाण्डुकवनं, एकेनैव स्वस्थानं, ते रविकराऽऽतपं स्वीकृत्य गच्छन्ति । विद्याचारणा हि विद्यावशाद्भवन्ति, विद्या च–परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरा जायते,ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसंभवादेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायान्ति, एवं बहुधा जलचारणाः पत्रचारणाः पुष्पचारणाः अग्निशिखाचारणाः पर्वताग्रशृङ्गसंचारिण इत्यादिका लब्धिः चारणलब्धिः ॥२०॥

पूर्वाणि चतुर्दशापि उत्पादादयस्तदध्ययनगणनशक्तिः पूर्वलब्धिः ॥२१॥

गणधरलब्धिर्गणधरपदप्राप्तिस्तजन्मन्येव सिद्धेस्तीर्थकरशासनाधिपपदप्रापका प्रसिद्धा ॥२२॥ पुलाकलब्धिः पुलाकचारित्रजन्या।
जिणशासणपडिणीयं, चूण्णिज्जा चक्कवट्टिसेणं पि। कुविओ मुणी महप्पा, पुलायलद्धीइ संपुण्णो ॥१॥ ॥२३॥

आहारकशरीरकरणशक्तिः–कश्चिचतुर्दशपूर्वधरवित् यति ऋद्धिप्राप्तो निगोदादिसंशयविच्छेदनार्थं जिनर्द्धिफाति–दर्शनार्थं वा स्वशरीरं हस्तप्रमाणमनुत्तरसुराद्प्यतिभासुरं विकुर्व्य विदेहस्थजिनपार्श्वे मोचयति तत् पृच्छनमात्रेणव अत्रस्थस्य संशयो याति यया सा-ऽऽहारकलब्धिः ॥२४॥

मधु–शर्करादिमधुरद्रव्यं सर्पि–र्घृतं अतिशायि गन्धादि घृतं, क्षीरं चक्रवर्त्तिगोसत्कं दुग्धं तेषां य आसवोऽतिशायी रसो अथवा आसवा धातुदीप्रकारिणो द्रव्या वा एतत्स्वादोपमानवचना वैरस्वाम्यादिवत् तद्वत् आश्रवति स्वादुत्वं यद्वचनं याति, अथवा यत् पात्र-पतितं कदन्नमपि मधुक्षीरसर्प्पिवीर्यविपाकं जायते, यद्वचनं शरीरादिदुःखसंतप्तानां मधुसर्प्पिक्षीरादिवत् सन्तर्पकं भवति ॥२५॥

कोष्ठबुद्धि कोष्ठागारे स्थापितानामसंकीर्णधान्यवीजानामविनष्टानां भूयसां यथा कोष्ठेऽवस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानां श्रोता-नामर्थवीजानां भूयसामनुस्मरणमन्तरेणाऽविनष्टानामवस्थानात् कोष्ठबुद्धिः। यथा कोष्ठकनिक्षिप्तधान्यानि इव सुनिर्गला अविस्मृतत्वा-चिरस्थायिनः सूत्रार्था येषां ते, कोष्ठे इव धान्यं या बुद्धिः आचार्यमुखाद्यथावन्निर्गतौ सूत्रार्थौ तदवस्थानावेव धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिः २६

सुकृष्टे–वसुमतीक्षेत्रे क्षित्युदकाद्यनेककारणविशेषापेक्षं बीजमनुपहतं यथाऽनेकबीजकोटिप्रदं भवति तथैव ज्ञानावरणीयादिक्षयोप-शमातिशयलाभादेकार्थबीजश्रवणे सत्यनेकार्थबीजतां प्रतिपत्तिर्बीजबुद्धिः २७

पदानुसारिणस्त्रेधा अनुश्रोतः पदानुसारिणः, प्रतिश्रोतः पदानुसारिणः, उभयपदानुसारिणः, तत्र आदिपदस्यार्थं ग्रन्थं च परत उपश्रुत्य आअन्त्यपदादर्थग्रन्थं विचारयितुं समर्थमतयोऽनुश्रोतःपदानुसारिणः। अन्त्यपदस्यार्थं ग्रन्थं च परत उपश्रुत्य ततः प्रातिकू-

ल्येनादिपदाद् अर्थग्रन्थविचारपटवः प्रतिश्रोतःपदानुसारिलब्धयः। मध्यपदस्यार्थे ग्रन्थं च परकीयोपदेशादधिगमायतावधि परिच्छि-ग्नपदसमूहप्रतिनियतार्थग्रन्योदधिसमुत्तारणसमर्थाऽसाधारणातिशयपटवः उभयपदानुसारिणः

जो सुत्तपएण बहु, सुयमणुधावइ पयाणुसरि सो। जो अत्थ पएणऽत्थं, अणुसरइ स बीयबुद्धीयओ ॥१॥

इति वचनात् ॥२८॥

अक्खीण० येषामल्पमपि अन्नं पात्रे पतितं श्री गौतमादीनामिव बहुभ्यो दीयमानमपि न क्षीयते तेऽक्षीणमहानसाः,अक्षीणं येना-ऽऽनीतं भैक्षं बहुभिरपि-लक्षसंख्यैरप्यन्यैस्तृप्त्या भुङ्क्ते न क्षीयते यावदात्मना भुक्तं सत् निष्ठां यातीत्यक्षीणलब्धिः। कारणे कार्यो-पचारात् एवं अक्षीणमहानसलब्धिरपि। परिमितभूमिप्रदेशेऽपि अपरिमिते इव तत्राऽसंख्याता देवादयः परस्परं बाधारहिता ध्रुद्धलघुत्वात् स्थितिविवेकभाजः तीर्थकरपर्षदीव सुखमासत इति अक्षीणमहालयलब्धिवन्तः यतः—

अक्खीण महाणसीया भिक्खं जेणाणीयं पुणो तेण। परिभुत्तं चिय खज्जइ बहुएहिंवि न उण अन्नेहिं ॥१॥

अक्खीणमहालया जे, परिभूमिसु अपरिमिउव्वजणा। चिट्ठइ अव्वाबाहाऽसंखजणाबुड्ढलहुभावा ॥२॥ २९।

तेयत्ति तेजोलेश्यालब्धिः-क्रोधाधिक्यात् प्रतिपन्थिनं प्रति मुखेनाऽनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनदक्षतीव्रतरतेजोनिसर्जन-शक्तिः, इह यः खलु शमी निरन्तरं षष्ठतपः करोति पारणकदिने च सनखकुल्मापमुष्टया जलचूलुकेनैव एकेन आत्मानं यापयति तस्य षण्मासान्ते तेजोलेश्यालब्धिरुत्पद्यते ३०

सीयत्ति-शीतलेश्यालब्धिः-अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्याप्रशमप्रत्यलशीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यं। पुरा किल श्रूयते-गोशालः कूर्मग्रामे करुणारसिकान्तःकरणतया प्रभूतयूकार्सववितायिनं वैशिकायनं बालतपस्विनं अहेतुकलहकलनतया अरे!

यूकाशय्यातरेत्याधनर्थोक्तिभिः कोपाटोपाध्मातमकरोत् तदावैशिकायितपस्वी तस्य दुरात्मनो दाहाय वज्रदहनदेश्यां तेजोलेश्यां विससर्ज। तत्कालमेव भगवान् वर्धमानस्वामी प्रगुणितकरुणस्तत्त्राणत्राणाय प्रचुरपरितापोच्छेदछेकां शीतलेश्याममुञ्चदिति शीतलेश्यालब्धिः ३१

आदिशब्दात् प्रज्ञर्द्ध्यादयोऽपि प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूता अनधीतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वाऽपि सन्तो यमर्थं चतुर्दशपूर्वी निरूपयति तस्मिन् विचारकृच्छ्रेऽप्यर्थेऽतिनिपुणप्रज्ञाः प्रज्ञर्धिमन्तः श्रमणाः। एता लब्धयः स्युरिति संक्षेपार्थः।

अथ येषां येषां या या लब्धयो भवन्ति न भवन्ति पूर्वोक्तास्ताः प्रसंगतोऽवबोधाय लिख्यन्ते–संभिन्न १ चक्रि २ जिन ३ हरि ४ बल ५ चारण ६ पूर्व ७ गणहर ८ पुलाका ९ हार १० वर्जं शेषा एकविंशतिलब्धयो भव्यस्त्रीणां सिद्धिगमनयोग्यानां भवन्ति। तथा मल्लिस्वामिनः स्त्रीत्वे प्रभूतलब्धिसर्वत्वं तीर्थकरत्वं चाऽभूत् तदाश्चर्यभूतत्वान्न गण्यन्ते। अभव्यपुरुषाणामपि षोडश न भवन्ति पञ्चदश भवन्ति १सम्म २अणु ३सव्व ४विपुल ५केवल ६ऋजुमई एते षट्, पूर्वोक्ता दश एवं षोडशवर्जं शेषाः पञ्चदश भवन्ति, क्षीराश्रवलब्धिरपि अभव्यस्त्रीणां न भवति, अभव्यस्त्रीणां चतुर्दशैव भवन्ति, यदुक्तं—

अरिहंतचक्किकेशवबलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा। गणहर–पुलाय आहारगं च, न हु भवियमहिलाणं ॥१॥
अभवियपुरिसाणं पुण दस पुव्विलाउ केवलित्तं च। उज्जुमई विउलमई तेरस एयाओ नहु हुन्ति ॥२॥
अभविय महिलाणंपि हु एयाओ हुंति भणियलद्धीओ। महुखीरासवलद्धीवि नेय सेसा विय अविरुद्धा ॥३॥

नारकाणां सम्यक्त्व १ अवधि २ वैक्रिय ३ लब्धयो भवन्ति। सुरासुराणां तु पूर्वोक्तास्तिस्रः तेजोलेश्या सहिताश्चतस्रः, गर्भ-

जसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु देशविरतियुक्ताः पञ्च,युगलिषु सम्यक्त्वलब्धिश्चैका १ पर्याप्तस्थूलवायुषु वैक्रियलब्धिः १ स्थूलैकेन्द्रिय–अपर्याप्त पृथिव्यब्वनस्पत्यादिषु न कापि केचित् सास्वादनं च, अपर्याप्तविकलेषु न काऽपि लब्धिः, अपर्याप्तसुरनारकेषु सम्यक्त्वावधिलब्धी सम्मूर्च्छिमेषु सूक्ष्मेषु न काऽपि लब्धिः, रत्नप्रभादागतानां तद्भवसिद्धिकाणां सर्वा अपि ॥३१॥ शर्कराप्रभादागतानां चक्रिवर्जं त्रिंशत् ।३०। वालुकागतानां हरिबलवर्जं २८ भवन्ति। पङ्कादागतानां जिनवर्जं २७ भवन्ति। धूमादागतानां ऋजुमतिं यावत् द्वादशलब्धयो भवन्ति तद्भवसिद्धेरभावात्१२। तमःप्रभादागतानां सम्यक्त्वदेशविरती लब्धी द्वे सर्वविरतेरभावादन्यासां प्रतिषेधः २। तमःतमःप्रभादागतानां सम्यक्त्वलब्धिरेका नाऽन्यास्संभवन्ति। वैमानिकादागतानां तद्भवसिद्धिकानां सर्वा अपि ३१। भवनपति–व्यन्तर–वानव्यन्तर–ज्योतिष्केभ्य आगतानां जिन हरिवर्जे २९ भवन्ति। अनुत्तरविजयादिचतुर्भ्यः समागतानां ३०। तिर्यग्भ्यो नरेभ्यश्च समागतानां तीर्थकृचक्रिहरिबलवर्जाः २७ भवन्ति। पृथव्यब्वनस्पतिभ्यः समागतानां अपि एता एव २७ लब्धयो भवन्ति। विकलेन्द्रियेभ्य आगतानां विपुलमतिप्रभृतिलब्धिसमुदायं विहाय पूर्वोक्ताः सम्यक्त्वादिद्वादशलब्धयो। मिथुननिकरेभ्य आगतानां सुरवधतस्ः सम्मोहि वेउव्वि सतेया ४ इत्युक्तेः। सूक्ष्माग्निपवनेभ्य आगतानां न काऽपि लब्धयो भवन्ति। सङ्ख्यातायुष्कभव्यनराणां स्त्रीणां च प्रवरा शिवलब्धिर्भवति। एतावता विजयादिवत् युगलिनोऽपि मुक्तिगामिनः। सर्वार्थविमानात् च्युताः चतुःकृत्वः कृतोपशमश्रेणिकाहारकशरीराः जिनाः गणधराश्च नियमेनैव तद्भवे सिद्धिगामिनो भवन्ति। लोकान्तिकदेवाः सप्ताष्टभवैर्मुक्तिगामिनस्तदधिपतयः एकावतारिणश्चेत्यादयो लब्धिविचाराः आवश्यकवृत्तिप्रवचनसारोद्धारवृत्ति–लब्धिस्तोत्रादिग्रन्थान्तरादवसेयाः ७ अत्र तु ज्ञापनकृते किञ्चिल्लिखितं इति। [प्रवचनसारोद्धार–४२८–४३२]

त्रयोविंशतिरत्नपदवीविचारो यथा—

चक्कं छत्तं दंडो खग्गं चम्मं च मणीय कागणीया एगेंदी सत्त रयणाणि पणिंदिरयणाणि तह सत्त ॥१॥

सेणावई १गाहावई २ वड्ढई ३इत्थी ४ पुरोहिओ ५ तुरओ ६ गयरयणं ७ चक्कीणं चउद्दस एयाणि रयणाणि ॥२॥

तित्थयर १५ चक्कि १६ हरि १७ बल १८ केवलनाणं १९ मुणीय २० समत्तं २१ मंडलिय २२ देशविरई २३ तिगवीसं रयणपदवीणं ॥३॥

रत्नप्रभातो निर्गता सप्तैकेन्द्रियवर्जं षोडशपदव्यः[वीः] प्राप्नुवन्ति । शर्करात आगता चक्रिपदवर्जं पञ्चदश, वालुकातः आगताः हरिबलवर्जं त्रयोदश, पङ्कातः आगताः चक्रिहरिबलतीर्थवर्जं द्वादश, धूमातः आगताः केवलिवर्जं ११, तमःप्रभातः आगताः साधुपदवीवर्जं दश १०, तमस्तमःप्रभातः आगताः गजतुरगसम्यक्त्वरत्नपदवीत्रयं लभन्ते । भवनव्यन्तरज्योतिष्कदेवेभ्यो निर्गतास्तीर्थकरवासुदेवपदवी वर्जं २१ पदवीः प्राप्नुवन्ति । पृथिव्यब्वनस्पतिभ्य उद्वृत्तानां तीर्थकृच्चक्रिबलवासुदेवपदवीवर्जं १९ पदव्यो भवन्ति, तेजोवायुभ्यो निर्गताः सप्तैकेन्द्रियरत्नं गजाश्वरत्नानि चाऽनुभवन्ति । विकलेन्द्रियेभ्य उद्वृत्ताः तीर्थचक्रिबलहरिकेवलिवर्जं अष्टादशपदवीः प्राप्नुवन्ति, मनुष्येभ्यो तिर्यग्भ्यो निर्गताः तीर्थकृचक्रिहरिबलवर्जं एकोनविंशतिपदवीः १९ प्राप्नुवन्ति, सौधर्मैशानेभ्य आगतास्त्रयोविंशतिपदवीरनुभवन्ति, सनत्कुमारादिदशदेवलोकेभ्य आगतानां सप्तैकेन्द्रियरत्नपदवीवर्जं षोडश भवन्ति, नवग्रैवेयकेभ्य आगतानां सप्तैकेन्द्रियरत्नपदवी-अश्वगजरत्नपदवीवर्जं चतुर्दश भवन्ति १४, अनुत्तरविमानेभ्य आगताः तीर्थकृच्चक्रि-

बीजबुद्धीहिं, कुट्ठबुद्धीहिं, पदाणुसारीहिं, संभिन्नसोतेहिं, सुयधरेहिं, मणबलिएहिं, वयबलिएहिं, कायबलिएहिं नाणबलिएहिं, दंसणबलिएहिं, चरित्तबलिएहिं, खीरासवेहिं, मधुआसवेहिं, सप्पियासवेहिं, अक्खीणमहाणसिएहिं चारणेहिं, विज्जाहरेहिं, चउत्थभत्तिएहिं, एवं जाव छम्मासभत्तिएहिं, उक्खित्तचरएहिं, निक्खित्तचरएहिं, अंतचरएहिं, पंतचरएहिं, लूहचरएहिं, अन्नइलाएहिं, समुदाणचरएहिं, मोणचरएहिं, संसट्ठकप्पिएहिं, तज्जाय-

वलकेवलज्ञानमुनिसम्यक्त्वमांडलिकदेशविरतिप्रभृत्यष्टौ पदवी प्राप्नुवन्ति, शेषाः पञ्चदश न। प्रसङ्गादिति अपि लिखितम्। द्रव्य-लोकप्रकाश पृष्ठ-

अथ प्रस्तुतं वच्मः-बीजकल्पा बुद्धिर्येषां ते तैः, कोष्ठ इव बुद्धिर्येषां ते तैः, पदं प्रति अनुसरणशीला बुद्धिर्येषां ते तैः, संभिन्नानि एकार्थग्राहीणि इन्द्रियाणि येषां ते तैः संभिन्नश्रोतोभिः, श्रुतधरैः, मनसा बलं येषां ते दुर्द्धर्षेऽपि कार्ये अक्षोभ्यचेतसः, षण्मासं यावत् प्रत्युत्तरदानेऽप्रतिक्षोभ्यवचसा दुर्वादिनं प्रति निराकरणशीला वचनबलिनस्तैः, काया शरीरं परीषहादिभ्यः अकम्प्रबलं येषां ते कायबलिनस्तैः, ज्ञानेन मत्यादिना बलिनस्तैः दर्शनं निश्शंकितादितत्त्वश्रद्धानरूपं तेन बलवन्तस्तैः, चरित्तं-षट्कायसंयमः कर्मणां चयस्य रिक्तीकरणं चारित्रं तेन बलवद्भिः, क्षीराश्रवलब्धिमद्भिः, मध्वाश्रवलब्धिमद्भिः, सर्पिः घृतं तदास्वादवाक्यलब्धिमद्भिः, अक्षीणा महानसिकलब्धिमद्भिः एतेषां सर्वेषामपि पदानां अर्थो व्याख्यातोऽस्ति, अङ्गुष्ठादिप्रश्नोत्तरविद्यामद्भिः, चतुर्थभक्तिमद्भिः-एकान्तरोपवासकारिकैः चतुर्थभक्तशब्दः-एकक्षपणपर्यायः, एवं षष्ठभक्तकैः-उपवासद्वयकारकैः, अष्टमभक्तकैः-उपवासत्रयकारकैः, एवं, दसम-दुवालस-चोदस-सोलस-मास-दोमास-तिमास-चउमास-पञ्चमास-षण्मासा एतत्तपःकारकैः, एवं तपोधिकारात् द्रष्टव्यम्।

संसृष्टादि-विचारः

उत्क्षिप्तं पाकभाजनात् उद्धृतं तं चरन्ति-गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरास्तैः, निक्षिप्तं पाकस्थालीस्थितं गवेषयन्ति ते निक्षिप्तचरास्तैः, अंतं वल्लचणकादिधान्यं चरन्ति ते तैः, तदेव धान्यं भुक्तावशेषं प्रान्तं तद् गवेषयन्ति ते अन्तप्रान्तचरास्तैः, रूक्षं निःस्नेहं विदलादि तं चरन्ति ते तैः, एतादृशं भैक्ष्यप्राप्ताऽप्राप्तौ सत्यां ग्लानं-दैन्यं न धारयन्ति तादृशैर्वाचंयमैः, समुदानं बहुगृहं समुदायिभैक्षं तं चरन्ति ते तैः, मौनं-पार्थना-चाटुवाक्यसंयमः तं चरन्ति ते तैः, निर्दोषाश्नभोजिभिरित्यर्थः, संसृष्टकल्पिकैः-संसृष्टो-अभिग्रहरूपकल्प आचारो येषां ते संसृष्टकल्पिकास्तैः, संसृष्टादिविचारस्त्वेवं-

संसट्ठेयरहत्थो मत्तोविय दव्व सावसेसेहिं। एएसु अड्डभंगा नियमा गहणेसु ओजेसु ॥१॥

दातुः सम्बन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति येन च कृत्वा भिक्षां ददाति, तदपि पात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा, द्रव्यं सावशेषं इतरद्वा निरवशेषं एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्त-संसृष्टपात्र-सावशेषद्रव्यरूपाणां परस्परसंयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति, ते चाऽमी-संसृष्टो हस्तः संसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं १ संसृष्टो हस्तः संसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं २ संसृष्टो हस्तः असंसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं ३ संसृष्टो हस्तः असंसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टपात्रं सावशेषं द्रव्यं ५ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं ७ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ८ एतेषु चाऽष्टभङ्गेषु मध्ये ओजस्सु-विषमेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणमोदनस्य कर्त्तव्यम्, न च समेषु-द्वितीय-चतुर्थ-षष्ठाष्टमेषु भङ्गेषु। इयं चाऽत्र भावना-इह हस्तो पात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे वा भवतः, असंसृष्टे तद्वशेन पश्चात्कर्म सम्भवति किं तर्हि द्रव्यावशेषे न, तथाहि-यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैव साध्वर्थं खरंटिते अपि न दात्री प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसम्भवात् यत्र तु निरवशेषं-द्रव्यं तत्र साधूनां दानानन्तरं नियमत-

संसट्ठकप्पिएहिं, उवनिहिएहिं, सुद्धेसणिएहिं, संखादत्तिएहिं, दिट्ठलाभिएहिं, अदिट्ठलाभिएहिं, पुट्ठलाभिएहिं, आयंबिलिएहिं, पुरिमड्डिएहिं, एक्कासणिएहिं, निव्वितिएहिं, भिन्नपिंडवाइएहिं, परिमियपिंडवाइएहिं, अंताहारेहिं, पंताहारेहिं, अरसाहारेहिं, विरसाहारेहिं, लूहाहारेहिं, तुच्छाहारेहिं, अंतजीविहिं, पंतजीविहिं, लूहजी-

स्तद् द्रव्याधारस्थाल्यां हस्तं पात्रं वा प्रक्षालयति, ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्म सम्भवात् न कल्पते विसमेषु पश्चात्कर्म असम्भवात् कल्पते इति संसृष्टादिविचारः पिण्डनिर्युक्त्यादिभ्योऽवसेयः ।[1]

तज्जातं तत्प्रकारेण जातं यद्द्रव्यं तदेव कल्पो येषां ते तैः, उपनिधिप्रत्यासन्नं चरन्ति ते उपनिधिकास्तैः, शुद्धैषणिकैः शङ्कितादिदोषपरिहारिणस्तैः, संख्याप्रधानाभिः पञ्चमादिपरिमाणवतीभिर्दत्तिभिः सकृद्भक्तादिपात्रप्राप्तलक्षणाभिश्चरन्ति ये ते संख्यादत्तिकास्तैः, दत्तिलक्षणं चैतत् ।

दत्तिओ जत्तिए वारे खिवइ य होंति तत्तिया अवोच्छिन्ननिवाया दत्तीओ होंति दव्वम्मि ॥१॥

दृश्यमानस्थानादानीतं गृह्णन्ति ते दृष्टिलाभिकास्तैः, एवं अदृष्टपूर्वेण दीयमानं गृह्णन्ति ते तैः, इदं साधूनां कल्पते इत्येवं प्रश्नपूर्वकं ये लब्धं गृह्णन्ति ते पृष्टलाभिकास्तैः, सर्वदा आचाम्लमेव येषां ते तैः, पुरिमार्द्धे पारणकेऽपि येषां ते तैः, एतावता षष्ठाष्टमादि पारणेष्वपि तत्तपोवद्भिः, एकाशनकं पारणेऽपि येषां तैः, निर्वृत्तिकतपोवद्भिः, भिन्नपिंडेत्ति भिन्नः-स्फुटितः पिण्डस्य-ओदनस्य पातः-पात्रपतनं येषां ते भिन्नपिण्डपातिकास्तैः, एतावता दायकहस्तेभ्यः स्वयमेव निसृष्टपिण्डग्राहि अभिग्रहवद्भिः, परिमितग्रहमवे-

१ पिण्डनिर्युक्ति पृष्ठ २५-२, यतिदिनचर्या पृष्ठ १७८-२

विहिं, तुच्छजीविहिं, उवसंतजीविहिं, पसंतजीविहिं, विवित्तजीविहिं, अखीरमहुसप्पिएहिं, अमज्जमंसासिएहिं,

ज्ञादिना वृत्तिसंक्षेपेण पिंडपातिकास्तैः, अन्तं-धान्याऽपेक्षया वल्लकचणकादि प्रान्तं पूर्वकरणात् गवेषणायाः पूर्वं अथवा प्रान्तं तदेव शीतपर्यूषितं तदेव आहारो येषां ते तैः, अरसं हिंग्वादिभिरसंस्कृतं, विरसं-पुराणत्वात्, गतरसं-निःसारं, रूक्षं-स्निग्धविकृत्यादिभिः रहितं, तुच्छं तदपि अल्पत्वात् तदाहारादिभिः, अन्तं पूर्वोक्तं तेन जीवितं येषां ते तैः। सदाकालं यावत् इति सर्वत्र योज्यं। अन्तजीविभिः प्रान्तजीविभिः रूक्षजीविभिः, तुच्छजीविभिः, प्राप्ताऽप्राप्तौ सत्यां उपशान्ततया जीवितं येषां ते तैः, उपशान्तत्वं बहिर्वृत्त्या वदनचक्षुरादिना, प्रशान्तत्वं-अन्तर्वृत्त्या क्रोधादुपशमेन वा, विविक्तैर्दोषविकलैर्भक्तादिभिर्जिवितं येषां ते तैः, अक्षीरमधुसर्पिष्कैः एतावता दुग्धमधुरक्षौद्रघृतवर्जकैः, नास्ति मद्यमांसादीनामशनं येषां ते तैः, स्थानं स्वयवर्त्तनस्थानाभिग्रहविशेषेण आददते इति स्थानादिकास्तैः अथवा स्थानं-निषीदनं तिष्ठन्ति ते तैः, प्रतिमया स्थायिभिः-कायोत्सर्गेण भिक्षुप्रतिमया मासिक्यादिकया तिष्ठन्ति ये ते तथा तैः, अथ प्रसङ्गादागतं प्रतिमास्वरूपं लिख्यते-

मासाइ सत्तंता ७पढमा ८बिय ९तइय १०सत्तराइदिणा। अहोराई ११ एगराई १२ भिक्खुपडिमाण बारसगं ॥

मासादयो-मासप्रभृतयः सप्तांता सप्तमासावसानाः एकैकमासवृद्ध्या सप्त प्रतिमा भवन्ति, तत्र एको मासः परिमाणमस्याः सा एकमासिकी १, एवं द्विमासिकी द्वितीया २, त्रिमासिकी तृतीया ३, यावत् सप्तमासिकी सप्तमी ७, पढमत्ति सप्तानां प्रतिमानां उपरि प्रतिमा प्रथमा द्वितीया तृतीया एताश्च तिस्रोऽपि क्रमेण अष्टमी नवमी दशमी सप्तरात्रिदिवा परिमाणा, अहोराइत्ति अहोरात्रं परिमाणं

१ पञ्चाशकग्रन्थान्तरान्तिमपञ्चाशके भिक्षुप्रतिमाधिकारः

अस्या सा अहोरात्रिकी एकादशी प्रतिमा ११, एगराइत्ति-एकारात्रिर्यस्यां सा एकरात्रिकी द्वादशी प्रतिमा इत्येवं भिक्षुप्रतिमाणां-साधुप्रतिज्ञाविशेषाणां द्वादशकं भवन्ति।

अथैताः कीदृशो मुनिः प्रतिपद्यते ? तत्र संहननं वज्रऋषभनाराचादेराद्यत्रयान्यतरदेतद्युक्तो ह्यत्यन्तपरीषहसहनसामर्थ्यवान्, धृतिश्चित्तस्वास्थ्यं तद्युक्तः, महासत्वः सात्विकः अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गेष्वपि हर्षविषादं न कृतवान्, सद्भावनाभावितान्तःकरणः प्रतिमानुष्ठानेन भावितात्मा तुलनापञ्चकेनापि धृतिमान् यदुक्तं-

तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण वयेण य। तुलना पंचहा वुत्ता पडिमं पडिवज्जओ ॥१॥

भावितात्मा कथं ? सम्यग्-यथागतं तथा गुरुणाऽऽचार्येण वाऽनुज्ञातः यदा गुरुरेव प्रतिपत्ता तदा व्यवस्थापिताऽऽचार्येण गच्छेन वाऽनुमतस्तदा गच्छ एव साधुसमुदायमध्येऽवतिष्ठन् निर्मात आहारादिविषये प्रतिमाकल्पपरिकर्मणि परिनिष्ठितः, परिकर्मपरिमाणं तु मासिक्यादिषु सप्तसु या यत्परिमाणा प्रतिमास्तस्यास्तत्परिमाणमेव परिकर्म, तथा वर्षासु नैताः प्रतिपद्यन्ते, न च परिकर्म करोति, यथा-आद्यद्वयमेकत्रैव वर्षे, तृतीयचतुर्थ्यौ चैकैकस्मिन् वर्षे, अन्यासां तिसृणां एकत्र एकत्र वर्षे प्रतिकर्म्म, अन्यत्र च प्रतिपत्तिस्तदेवं नवभिर्वर्षैराद्याः सप्त समाप्यन्त इति। श्रुतमपि उत्कृष्टतस्तु दश असम्पूर्णानि पूर्वाणि-किञ्चिदूनानि। सम्पूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वात् धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात् प्रतिमादिकल्पं न प्रतिपद्यते। जघन्यतस्तु नवमपूर्वस्य प्रत्याख्याननामकस्य तृतीयवस्त्वाचाराख्यं तद्भागविशेषं यावदित्यर्थः। साजघन्योऽल्पीयानपि श्रुताधिगमः श्रुतज्ञानं सूत्रतोऽर्थतश्च। एवत् श्रुतविरहितो हि निरतिशयज्ञानरहितत्वात् कालादीन् न जानाति, तीर्थकरादीनां वचनानुसारतः स्कन्धकादिवत् करोत्यल्पश्रुतवानपीत्यर्थः।

तथा त्यक्तदेहममत्वः, दिव्यमानुषतैरश्चोपद्रवसहिष्णुर्जिनकल्पिकवत् परीषहसहः, एषणापिण्डग्रहणेऽप्येतादृशः—

१संसट्ठमसंसट्ठा २उद्धड ३तह अप्पलेवडा चेव४। उग्गहिया५ पग्गहिया६ उज्झियधम्मा य७ सत्तमिया ॥१॥

तद्व्याख्यानं यथा—

पिण्डः-समयभाषया भक्तं तस्य एषणा-ग्रहणप्रकारः असंसृष्टा हस्तपात्राभ्यां १ संसृष्टा हस्तपात्राभ्यां २ पूर्वोक्ताष्टभेदं उद्धृतं पाकस्थानात् स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृत्तं ततोऽसंसृष्टे हस्ते संसृष्टे पात्रे संसृष्टे हस्ते असंसृष्टे पात्रे गृह्णतः ३ अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं वल्लकचणकादि गृह्णतः ४ अवगृहीता भोजनकाले भोक्तुकामस्य शरावादिषूपहृतमेव भोजनजातं यत् तद्गृह्णतः ५ प्रगृहीता भोजनवेलायां भोक्तुकामाय दातुमुद्यतेन करादिना प्रगृहीतं यद्भोजनजातं भोक्त्रा भोक्तुं वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णतः ६ उज्झयत्ति-कायपरित्यागार्हमन्नं अन्यच्च द्विपदादयोऽपि नेच्छन्ति तदर्हं त्यक्तं वा गृह्णतः, तासां सप्तानामेषणानां मध्ये आद्ययोर्द्वयोरग्रहणं पञ्चसु ग्रहणं। तन्मध्ये पुनरपि विवक्षितदिवसे अन्त्यानां पञ्चानां द्वयोरभिग्रहः एका भक्ते एका च पानके इति आहारनिर्मितिः। उपधिरपि एषणाद्वयलब्धा एव वस्त्रैषणा चतुष्टयमस्ति तदिदं कासिकाद्युद्दिष्टमेव च वस्त्रं ग्रहीष्यामि १ प्रेक्षितमेव ग्रहीष्यामि २ परिभक्तभायमेवोत्तरीयादि ३ तदपि उज्झितधर्मिकमेवेति ४

अथ एवं कृतपरिकर्मा गच्छाद्विनिष्क्रम्य तत्र यद्याचार्यादि प्रतिपत्ता तदाऽल्पकालिकं साध्वन्तरे स्वपदनिक्षेपं कृत्वा शुभेषु द्रव्येषु शरीरं वासित्वा शरत्काले सकलसाध्वामन्त्रणं क्षामणपूर्वकं निःशल्यो निष्कषायो मासिकीं प्रतिमां प्रतिपद्यते। दत्तिरविच्छिन्नदानरूपा एकैवान्नस्याऽज्ञातोञ्छरूपस्य उद्वृत्तादुत्तरैषणा पञ्चकगृहीतस्याऽलेपकारिणः कृपणादिभिरजिघृक्षितस्य एकस्वामीसत्कस्यैव

गुर्विणी बालवत्सा पीयमानस्तनीभिः देहलीकस्यान्तः पदमेकं विनस्याऽपरं बहिर्व्यवस्थाप्य दीयमानस्य तथा पानकाहारस्यैकैव तत्र मासिक्यां प्रतिमायां दत्तिर्भवेदिति ॥ यथा जलस्थलदुर्गादौ स्थितस्य यत्राऽस्तं याति सूर्यस्तत् स्थानात् जलाऽन्यादेः पदमात्रमपि क्षेत्रं न गच्छति आदित्योदयं यावत्। तथा ज्ञातो-ज्ञातः प्रतिमापन्नोऽयं तत्र ग्रामादौ अहोरात्रमेवाऽवतिष्ठति नत्वधिकमिति, अज्ञाततया तु द्विरात्रमवतिष्ठति न परतः। तथा दुष्टव्याघ्रहस्तिसिंहश्वापदादीनां भयं न, मरणभीत्या पदमात्रमपि न गच्छति दूरतः, एवमादिनियमसेवी छायातः उष्णे उष्णतः छायायां गमनमपि न कुर्वति शरीरहेतोः। ग्रामानुग्रामं विचरति यावदखण्डो मासः, अन्येऽपि बहवो नियमा प्रतिपत्तव्याः, तथा चरणप्रविष्टदारुकण्टकशर्करादिकं न स्फेटयति, अक्षिगतं रेणु तृणमलादिकं वा नापनयति, तथा संस्तारकोपाश्रयादीनां याचनार्थं संशयितसूत्रार्थौ वा गृहादेर्वा प्रश्नार्थं तृणकाष्ठादीनामनुज्ञापनार्थं प्रश्नितसूत्रादीनां वा कृते द्विर्वारं वा वक्ति न तु वारंवारं भाषान्तरं वक्ति प्रतिमां यावत्। तथा आगन्तुकागारविवृतागारवृक्षमूल एव वसतित्रयं वसति नत्वन्यत्र। तत्र यत्र कार्पटिकादय आगत्य वसन्ति तदागन्तुकागारं, यदधः कुड्याभावादुपरि चाच्छादनाभावात् विवृतगृहं, अनाच्छादितं वृक्षमूलं करीरादितरुमूलं साधुवर्जनीयदोपरहितं तथा चाऽग्नि प्रदीप्ताग्निभयादुपाश्रयान्न निर्गच्छति।

अथ कदाचित् कोऽपि बाह्वादौ गृहीत्वा कर्षति तदा निर्यात्येव करचरणमुखादिकं प्राशुकजलेन नांगं प्रक्षालयति तदन्यसाधवो हि पुष्टालम्बने पादादि प्रक्षालयन्ति अपि। इत्याद्यनेकाभिग्रहक्रियायुक्तो मासपूरणानन्तरं साधुसमुदायं उपैति विभूत्या, कथं ? गच्छस्थानासन्नग्रामे आगत्य आचार्यास्तु तत्प्रवृत्तिमन्विच्छन्ति ततो नृपादीनां निवेदनं यथा प्रतिपालितप्रथमाप्रतिमारूपमहातपाः साधुरागतः ततो नृपादिलोकैः श्रमणसंघेन चाऽभिनन्द्यमानस्तत्र प्रवेशं कुरुते। ततो बहुमानार्थं तदन्येषां च श्रद्धावृद्ध्यर्थं प्रवचनप्रभावनार्थं

स एवं प्रथमा उक्ता।

शेषाः एवमनेनैव क्रमेण द्विमासिकी त्रिमासिकी यावत् सप्तप्रतिमाः सप्तमासिक्यः नवरं केवलं प्रथमायाः सकाशादियान् विशेषो यत्तो दत्तयस्तासु वर्द्धन्ते, तत्र द्वैमासिक्यां भक्तपानस्य प्रत्येकं दत्तिद्वयं, त्रिमासिक्यां भक्तपानस्य प्रत्येकं दत्तित्रयं यावत् सप्तमासिक्यां भक्तस्य पानस्य च सप्तदत्तय इति।

अथाष्टमी सप्तम्या अनन्तरं अष्टमी प्रथमसप्तरात्रिंदिवा प्रथमा, तत्र चतुर्थं चतुर्थेन-एकान्तरोपवासेन आसितव्यं, अपानकेन चतुर्विधाहाररहितेनेत्यर्थः। इह च पारणके आचाम्लं कर्त्तव्यं दत्तिनियमस्तु नास्ति इति विशेषः। तथा उत्तानके-उर्ध्वमुखे पार्श्वे वा शयितो निषद्यावान् समपुततयोपविष्टो वा तथा कायचेष्टाविशेषनिवर्त्तनं स्थानं पूर्वोक्तं कृत्वा ग्रामबहिः स्थित्वा घोरान् रौद्रान् देवताकृतादीन् मानुष्यतैरश्चिकृतानुपसर्गान् सहन्ते, अविकम्प्रमनाः शरीराभ्यामचल इति ८

द्वितीयाऽपि द्वितीया सप्तरात्रिंदिवा द्वितीया प्रतिमा इदमयेव सर्वासु क्रियासु, परं उत्कटिकासनो-भूमौ अविन्यस्तपादतया उपविष्टः तथा लगुडद्वसंस्थितं काष्ठं तद्वत् शयनः मस्तकपार्ष्णिकाभिरेव पृष्ठप्रदेशेनैव वा स्पृष्टभूमागः, तथा दण्डवत् यष्टिवदायतो-दण्डायतः पादप्रसारणेन भूमिन्यस्तायतः शरीरः स एव दण्डायतकः, वा दिवा रात्रौ दिव्याद्युपसर्गान् सहते ९

तृतीयाऽपि सप्तरात्रिंदिवा तृतीयाऽप्येतादृश्येव नवरं स्थानं गोदुहिका-गोदोहनसमाकारं गोदोहनप्रवृत्तस्यैव पुतयोः पार्ष्णिभ्यां संयोगेऽग्रपादतलाभ्यामवस्थानक्रिया। तथा वीराणां दृढसंहननतानामासनं वीरासनं, सिंहासनाद्यधिरूढस्य भूमिन्यस्तपादस्य सिंहासनाद्यपनयने सत्यपि अचलितः सन् तथैवास्थानरूपं तत्स्थानं स्थितं, यद्वा वामपादो दक्षिणस्योरोरुपरि यत्र क्रियते वामकरस्य

तलस्योपरि दक्षिणकरतलमुत्तानं नाभिलग्नं च यत्र विधीयते तद्वीरासनं। अथवा आम्रकुब्जो वा आम्रफलवद्वक्राकारेणावस्थितः,एवमेतास्तिस्रोऽपि प्रथमसप्तरात्रिदिवाद्या एकविंशतिदिवसैर्यान्तीति १०

अथैकादशी एवमेवोक्तरीत्या अहोरात्रिकी भवति, नवरं केवलं षष्ठं भक्तं भोजनवर्जनीयतया षष्ठभक्तं--उपवासद्वयरूपं, तत्र उपवासद्वये हि चत्वारि भक्तानि वर्ज्यन्ते, एकाशनेनैव तदारभ्यते तेनैव निष्ठां यान्तीत्येवं षड्भक्तवर्जनरूपं भवति। तदपि अपानकं चतुर्विधाहारवर्जनमित्यर्थः तथा ग्रामनगरेभ्यो बहिस्ताद्व्याघारितपाणिके प्रलंबभुजस्य स्थानमवस्थानं भवति। इयं चाहोरात्रिकी प्रतिमा दिनत्रयेण याति इत्येकादशी ॥११॥

अहोरात्रिक्यनन्तरं अहोरात्रिकी प्रतिमावदेकरात्रिकी प्रतिमा भवति, अष्टमभक्तेन उपवासत्रयेण अपानकेन स्थानमवस्थानं तत् कर्त्तु बहिष्टाद्ग्रामात् तथा इषत् प्राग्भारगत ईषत् कुब्जो नद्यादिदुस्तरीस्थितो वाऽसौ स्यात्, तथाऽनिमेषनयनो-नियतपुद्गलदृष्टिर्यथा स्थितगात्रो गुप्तेन्द्रियः संहृत्य द्वौ अपि पादौ जिनमुद्रया व्याघारितपाणिस्तिष्ठति लम्बितबाहुर्वा तादृग्रूपा पालने कियान् लाभो भवति। तदाह—

एगराइयं च णं भिक्खु पडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स। इमे तओ ठाणाहियाओ भवन्ति तं जहा ओहिनाणे समुप्पज्जेज्जा, मणपज्जवनाणे वा समुप्पज्जेज्जा, केवलनाणे वा असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा, विराहणे पुण उम्मायं वा लभेज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा, इति वचनात्।

१ पञ्चाशकपृष्ठ २८३-२

ठाणाइएहिं, पडिमंठाईहिं,ठाणुक्कडिएहिं, वीरासणिएहिं, णेसज्जिएहिं, डंडाइएहिं, लगंडसाईहिं, एगपासगेहिं, आयावएहिं, अप्पावएहिं, अणिट्ठुभएहिं, अकंडुयएहिं, धुतकेसमंसुलोमनखेहिं, सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं,

इयं प्रतिमा रात्रेरनन्तरं अष्टमकरणात् चतूरात्रिदिवसमाना स्यात्, यदुक्तं:—

साहट्टु दोवि पाए वग्घारियपाणि ठायइ ठाणं । वाघारियलंबिभूओ अंते य इमाइ लद्धीओ ॥१॥

इति लेशतः प्रतिमास्वरूपं लिखितं विस्तरस्तु दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिवृत्तितः तथा प्रवचनसारोद्धारावश्यकनिर्युक्तिवृत्तितोऽवसेयमिति ।

स्थानं उत्कटिका येषां ते तैः,वीरासनं भून्यस्तपादस्य सिंहासनोपवेशनमिव तदस्ति येषां ते तैः, निषद्या समपुतोपवेशना तया चरन्ति ते तैः, दण्डस्येव आयतं स्थानं येषां ते तैः, लगंड–दुःसंस्थितं काष्ठं तद्वत् शिरः मपार्ष्णीनां चूलाग्रेण शेरते ये ते लगंडशायिनस्तैः, उक्तं--

वीरासणं तु सिंहासणे व्व जहमुक्कजाणुगणिविट्ठो । दंडगलगंड उवमा आयत कुज्जे य दोण्हं पि ॥१॥

इति वृत्तौ एक एव पार्श्वं भूम्यां शय्यंते न द्वितीयेन पार्श्वेन भवन्ति इत्येकपार्श्विकास्तैः, आतापनैरातापनाकारिभिस्तैः—

आयावणाउ तिविहा उक्कोसा मज्झिमा जहन्ना य । उक्कोसओ णिवन्ना णिसण्ण मज्झा ठियजहन्ना ॥१॥

१ अथान्यपञ्चाशकान्तर्गतविंशतितमः श्लोकः २ आतापना तु त्रिविधा उत्कृष्टा मध्यमा जघन्या च । उत्कृष्टा तु सुप्तस्य मध्यमा निषण्णस्य स्थितस्य जघन्या ॥१॥

समणुचिन्ना, सुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं धीरमतिबुद्धिणो, य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा, निच्छयववसाय-पज्जत्तकयमतीया, णिच्चं सज्झायज्झाणअणुबद्धधम्मज्झाणा, पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता, समिता समितिसु, समि-

---

प्रावरणेन वर्जितः–वस्त्राच्छादनरहितैः, अनिष्ठाः अपरित्यक्ताः शरीरतो निष्ठीवनं मुखश्लेष्माणां अपरिष्ठापकास्तैः, अकण्डुयनकारकैः, धूताः–संस्कारापेक्षया त्यक्ताः केशश्मश्रुरोमनखा यैस्ते तैः, तत्र केशाः–शिरोजाः श्मश्रु–दंष्ट्रिका कूर्चं लोम तदन्यद् सर्वं अंगरोमाणि, नखाः–करचरणप्रवृद्धाः। किंबहुना सर्वगात्रे सर्वस्मिन्नपि देहे प्रतिकर्म अभ्यंगादि तस्मात् विप्रमुक्तैः रहितैः इत्यर्थः। विभूषाऽभावात् तादृशैः साधुभिरियमहिंसा समनुचीर्णा आसेविता इत्यर्थः। श्रुतधराः–सूत्रधरास्तैर्विदितो ज्ञातः अर्थकायः–तत्त्वज्ञानराशिः श्रुताभिधेयो यया सा विदितार्थकाया तादृशी बुद्धिर्येषां ते तैः। तथा धीरा–अक्षोभ्या स्थिरा वा मतिरवग्रहादिका बुद्धिः–उत्पत्यादिका वा येषां ते तथा, ये ते तथा आशीविषा–नागास्ते च–उग्रतेजसश्च–तीव्रप्रभावाः तीव्रविषास्तत्तुल्यास्तत् सदृशाः शापादिदानेनोपघातकारित्वात्तेऽपि। तथा निश्चयो–वस्तुनिर्णयो व्यवसायः उद्यमः पुरुषाकारस्तयोः पर्याप्तयोः–परिपूर्णयोः कृता विहिता मतिर्बुद्धिर्यैस्ते। तथा पाठान्तरे णिच्छयववसाय विणीय पज्जत्त कयमतीया तत्र निश्चयव्यवसायौ विनीतौ आत्मनि प्राप्तौ ये ते पर्याप्ता चमत्कृता चमत्कारं प्रापिता मतिर्यैस्ते। पुनः नित्यं–सदा स्वाध्यायो–वाचनादि, ध्यानं–चित्तनिरोधरूपं दुर्ध्यानत इति गम्यं तदेव अनुबद्धं सततं धर्मध्यानमाज्ञाविचय १ अपायविचय २ विपाकविचय ३ संस्थानविचयरूपं येषां ते तथा, पञ्चमहाव्रतरूपं चारित्रं तेन युक्ता ये ते तथा, समिताः सम्यग् प्रवृत्तिप्रवृत्ताः, वा अथवा सुष्ठु शोभनं समिति एकीभावेन [गतं] पापं येषां ते तथा शमि-

---

१ श्लेष्मादिक बाहिर न काढे २ खरज पाणि न खणे इति भाषा ३ दाढी मुंछि।

तपावा, छव्विहजगवच्छला, निचमप्पमत्ता, एएहिं अन्नेहि य जा सा अणुपालिया भगवती इमं च पुढविदगअगणिमारुयतरुगणतसथावरसव्वभूयसंयमदयट्ठयाते सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अकतमकारिमणाहूयमणुद्दिट्ठं, अकीयकडं, नवहि य कोडिहिं सुपरिसुद्धं,

तपापाः त्यक्तकल्मषा वा, षड्विधजगद्वत्सलाः-षड्जीवनिकायहिताः, नित्यं-सदा अप्रमत्ताः-प्रमादरहिताः सर्वत्राऽपि कर्मधारयः। एते पूर्वोक्तगुणयुक्तास्तैः अन्यैरपि अनुक्तलक्षणैर्गुणवद्भिः या पूर्वोक्तनामाऽलंकृतवती सा अहिंसा भगवती पूज्या तादृशगुणैर्महर्षिभिः अनुपालिता संवरद्वारहार्देन ।

अथ अहिंसाप्रथमसंवरद्वारपालकस्य यद्विधेयं तत् उच्यते-इमं प्रत्यक्षतया प्राप्तं पृथिवी दकं-पानीयं अग्निः मारुतो-वायुः तृणगणो-वनस्पतिसमुदायः त्रसा-द्वीन्द्रियादयः स्थावराः-पृथिव्यादिपञ्चकं सर्वभूतप्राणिनां संयमो-रक्षणस्तन्निमित्ता या दया-कृपा तस्या अर्थे किं कर्त्तव्यमित्याह—

शुद्धं-निर्दूषणं अशनादि गवेषितव्यं, उञ्छं-उत्पाटितक्षेत्रगतकणादानं यथा क्षेत्रे पतितकणग्रहणं उञ्छः तथा साधुनाऽपि गृहस्थार्थं कृतनिष्पादितान्नग्रहणं अन्वेषितव्यं, तत् कीदृशं ? अकृतं-साध्वर्थं दायकेन अनिष्पादितं, न चाऽन्यैः सह कारापितं, आकारितं, अनाहूतो [तस्य] गृहस्थेन साधोरनिमन्त्रणपूर्वकदीयमानं अनुद्दिष्टं यावन्तिकादिभिर्विवर्जितं, अक्रीतकृतं तदेव प्रपञ्चितं नवभिश्च कोटिभिः सुपरिशुद्धं न हन्ति १ न घातयति २ घ्नन्तं नाऽनुजानन्ति ३ न पचति ३ न पाचयति ५ पचन्तं नाऽनुजानन्ति ६ न क्रीणाति ७ न क्रापयति ८ क्रीणन्तं नाऽनुजानन्ति ९ तथा दशभिश्च दोषैर्विप्रमुक्तं यदुक्तं—

दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं,

संकिय १ मक्खिय २ निक्खित्तं ३ पिहिय ४ साहारिय ५ दायगु ६ म्मीसे ७। अपरिणय ८ लित्त ९ छड्डिय १० एसणदोसा दस हवंति ॥१॥ पिंड० नि० गा० ५२१

उद्गम उत्पादन एषणा–गवेषणा दायकजाताः उद्गमाः १६ उत्पादना ग्राहकाजाताः १६ एषणा पिंडदोषाः १० तथा शुद्धो यः पिण्डः स तथा तादृशं उञ्छं।

अथ शुद्धउञ्छग्रहणार्थं पिण्डदोषानाऽऽह—

सोलस उग्गमदोसा सोलस उप्पायणा य जे दोसा। दस एसणाय दोसा गासे पण मिलिय सगयाला ॥१॥

तत्र उद्गमनं उद्गमः पिण्डस्योत्पत्तिस्तद्विषया आधाकर्मादयो दोषा उद्गमदोषाः षोडश दायकात् समुत्पद्यन्ते सदूषितपिण्डस्यैव। तथा उत्पादनं उत्पादः स एव उत्पादना मूलतः शुद्धस्याऽपि पिण्डस्य धात्र्यादिभिः प्रकारैः उत्पादनं तद्विषया दोषा उत्पादना दोषा ग्राहकात् उत्पद्यन्ते तेऽपि षोडश। तथा दश एषणा दोषाः एषणं–गवेषणं एषणा अशनादेर्ग्रहणकाले शंकितादिभिः प्रकारैः अन्वेषणं तद्विषया दोषा एषणा दोषा दश। त्रयोऽपि मिलिता द्विचत्वारिंशद्भवन्ति। तत्रोद्गमदोषानामग्राहमाह—

१ पिं० वि० पृ० १४६

शङ्कितः म्रक्षितः निक्षिप्तः पिहितः संहृतः दायकदुष्टः उन्मिश्रः। अपरिणतो लिप्तः छर्दितः एषणादोषा दश भवन्ति ॥१॥

अहाकम्मु१देसिय२ पूइकम्मे य३ मीसजाए य४। ठवणा५ पाहुडियाए६ पाओयर७ कीय८ प्पामिचे९ ॥१॥
परियट्टिए१० अभिहडे११ब्भिन्ने१२ मालाहडे इय१३ अच्छिज्जे१४
अणिसट्ठे१५ अज्झोयरए१६ सोलसपिंडुग्गमे दोसा ॥२॥

व्याख्याः—तत्र आधानं-साधुनिमित्तं मनसः प्रणिधानं यथा अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पाचनीयं तया आधया कर्म प्रतिकर्मक्रिया आधाकर्म तद्योगात् भक्ताद्यपि आधाकर्म इह दोषाभिधानप्रक्रमेऽपि यद्दोषवतो (भक्तादि) अभिधानं तद्दोषदोषवतोरभिधानाभेदविवक्षया एकमेव द्रष्टव्यं। तथा तदाधाकर्मादि ग्राहिणं पृथिव्याद्युपमर्दोद्भूतपानाशनादिग्राहिणं साधुं तदायकं वा अधःसंयमाद्वा अधो नरकगतौ नयन्ति तदधःकर्म। तथा आत्मानं चरणात्मानं तस्य हंतीति निश्चयनयमाश्रित्य चरणविघाते ज्ञानदर्शनविघातोऽवश्यं स्यात् यतस्तयोश्चरणफलत्वात् न तयोर्विघातः पृथगुक्तः, अन्त्यग्रहणे पूर्वयोर्ग्रहणं कृतमेव।

अथ व्यवहारनयमाश्रित्य चरणघाते इतरयोर्विनाशः स्याद्वा नवेति कथं यदा मिथ्यात्वं याति तदा न ते तदभावे तु ते तयोः सद्भावादिति-स्यातामिति। चरणविघाते तयोर्विघातसद्भावादिति आत्मगुणान् हन्तीति आत्मघ्नमपि उच्यते। तत्राधाकर्मणः तं पुण जं जस्सेत्यादिद्वाराष्टकव्याख्यानं तु सोदाहरणं पिण्डनिर्युक्त्यादिभ्योऽवसेयमत्र तु शब्दार्थेन व्याख्यायते—

उद्देसियत्ति-उद्देशेन उद्देशनमुद्देशो यावदर्थिकादिचिन्तनं तेन निवृत्तं उद्देशिकं तच्च द्विविधं ओघेन १ विभागेन २ तत्र ओघः— ॥१७॥

प्रथम संवरद्वारे पिण्डोद्गम-दोषाः

१ पिंडनिर्युक्ति गा० ९२-९३
२ तं पुण जं जस्स जहा जारिस मसणे य तस्स जे दोसा ५। दाणे य ६ जहा पुच्छा ७ छलणा सुद्धीय तह वोच्छं ॥८॥ पिंडविशुद्धि

सामान्यविभागः पृथक्करणं अत्र भावना अदत्तं सत् केनाऽपि किमपि न लभ्यते भिक्षाचरा बहवः कतिपयाः भिक्षा वयं दद्म इति विचार्य कतिपयाधिकतंदुलप्रक्षेपेण यन्निवृत्तमशनादि तदोघोद्देशिकं सामान्येन स्वपरविभागाकरणभावात्।

तथा विवाहप्रकरणादिषु यदुद्धरितं तत् पृथक् कृत्वा दानाय कल्पितं तद्विभागोद्देशिकं, विभागेन स्वसत्ताया उत्तार्य पृथक् कृतत्वात् विभागौद्देशिकं। तत्रौघोद्देशिकं प्रायेण भवति इति कश्चिदनुभूतदुर्भिक्षक्षुत्क्षुक्षः संप्राप्तसुभिक्षो गृहस्थश्चिन्तयति यथा जीविताः स्मो वयं कथमपि दुर्भिक्षे तदिदानीं प्रति अर्थिजनसम्पूर्णभोजनशक्त्यभावे मम कियत्यपि भिक्षा दातुं युक्ता। यतो 'अदत्तफलात् कुत्राऽपि किमपि नोपलभ्यते कृतस्यैव प्राप्तिरिति' श्रुतिः, ततो गृहिणा पुण्योपार्जनबुद्ध्या प्रतिदिवसं भक्तपानं पच्यते, यः कोऽपि समागमिष्यति तस्य भिक्षादानार्थमेतावत् स्वार्थमेतावत् इति विभागरहितमेव तन्दुलानधिकतरान् प्रक्षिपति तदुद्देशिकं।

विभागोद्देशिकं पुनस्त्रिधा–उद्दिष्टं १ कृतं २ कर्म्म ३ च तत्र स्वार्थमेव निष्पन्नमशनादि भिक्षाचराणां दानाय यत् पृथक् कल्पितं तदुद्दिष्टं १, यत्पुनरुद्धरितं शाल्योदनादि भिक्षादानाय करम्बादिरूपतया कृतं तत् कृतं २, यत्पुनर्विवाहप्रकरणादिषूद्धरितं मोदकचूर्णादि तद्भूयोऽपि गुडपाकदानादिना भिक्षाचराणां दानाय मोदकादिरूपतया कृतं तत्कर्म्म ३।

एवमेकैकमपि चतुर्द्धा–उद्देश १ समुद्देश २ आदेश ३ समादेशभेदात्, तत्र त्रिविधमपि विभागोद्देशिकं यावन्तो भिक्षवः समागमिष्यन्ति तेषां देयमित्युद्देशः। यदा पुनः पाखण्डिनां देयत्वेन कल्पितं तदा समुद्देशाख्यं २। यदा श्रमणानां शाक्यादीनां देयमिति चिन्तितं तदादेशाख्यं ३ यदा निर्ग्रन्थानां महव्रतीनामेव दास्यामीति तदा समादेशकं नाम ४। यदार्ष–

जावंति समुद्देसं पाखंडीणं भवे समुद्देसं। समणाणं आएसं निग्गंथाणं समाएसं॥१॥ पि० नि० गा० २३०

सर्वसंख्यया विभागौद्देशिकं द्वादशधा भवति ।

अथाऽधाकर्मोद्देशकयोः को विशेष ? इत्युच्यते—यत् प्रथमत एव षट्कायोपमर्द्देनेन साध्वर्थं निष्पादितं तत् आधाकर्म, यत् पुनः प्रथमतः स्वार्थनिष्पादितं सत् भूयोऽपि पाककरणेन पच्यते तत् उद्देशिकं २ ।

पूतिकर्म्मेति—उद्गमादिरहिततया स्वतः पवित्रस्य भक्तादेरपरस्याऽविशुद्धकोटिकभक्तादेरवयवेन सह संपृक्तं मिलितं पूतैःकर्म—करणं पूतिकर्म, अयं भावः यथा सौरभ्यमनोहरत्वादिगुणैर्विशिष्टमपि शाल्योदनादिभोज्यं कुथिताऽशुचिगन्धादिद्रव्यलवेन युक्तं अपवित्रं स्यात्, सज्जनजनैः परिहार्यं च, तथा निरतिचारचारित्रिणो यतेः सातिचारतयाऽपवित्रत्वकरणेन अविशोधिकोटीनामवयवमात्रेणाऽपि संयुक्तः शुद्धोऽप्याहार उपभुज्यमानो भावपूतेः कारणत्वात् पूतिरिव दुर्गन्ध इव, आधाकर्म्मिकाऽवयवलेशेनाऽपि संसृष्टा स्थाली चट्टुककरोटिकादयोऽपि पूतित्वाद्वर्जनीया इति ३

मीसजाएत्ति—मिश्रेण कुटुम्बमनःप्रणिधानं साधुप्रणिधानमीलनरूपेण भावेन जातं पाकादिकं यद्भक्तं तन्मिश्रजातं, आत्मना कुटुम्बेनाऽपि साधुनाऽपि भुज्यते इत्येवं मिश्रं । तदपि त्रिधा, यावदर्थिकमिश्रं १, पाखंडिमिश्रं २, साधुमिश्रं च ३, तत्र मिश्रत्वं तु यावदर्थिकादि त्रिभिरात्मयोग्यं च एकत्र पच्यते तन्मिश्रं, श्रमणमिश्रं पाखण्डिष्वन्तर्भावात् पृथग् नोक्त ४

ठवणत्ति—स्थाप्यते साधुनिमित्तं कियन्तं कालं निधीयते सा स्थापनं स्थापना साधुभ्यो देयमिति बुद्ध्या रक्षणं सा स्वस्थाने चुल्लीस्थाल्यादौ परस्थाने सुस्थितभाजनादौ तदपि चिरकालं इत्वरकालं च साधुदाननिमित्तं धार्यमाणमशनादिकं वा ५

पाहुडिए त्ति कस्मैचित् पूज्याय इष्टाय वा बहुमानपुरस्सरीकरणाय यदीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतकमुच्यते, प्राभृतमेव प्राभृतिका

प्रथम संवरद्वारे पिण्डोद्गम-दोषाः

प्र इति प्रकर्षेण, आ इति साधुदानलक्षणमर्यादया, भृता–निवर्तिता यका भिक्षा सा प्राभृतिका। सा च द्विविधा सूक्ष्मबादरभेदात्, तत्र बादरारम्भविषया बादरा स्थूला इत्यर्थः, स्वल्पारम्भविषयतया तु सूक्ष्मा. एकैकाऽपि द्विविधा ओसक्कणेन अवसक्कणेन च, तत्र स्वप्रयोगप्रवृत्तिकालं मर्यादीकृत्य उर्ध्वं परतः आरम्भस्य यत् करणं तत् ओसक्कणं, तथा स्वप्रयोगप्रवृत्तिकालावधेः अर्वाग् यत् आरंभस्य करणं यत् अवसक्कणमभिधीयते। इह हि केनाऽपि श्रावकेण कुत्राऽपि नगरे निजापत्यस्य विवाहं कर्तुमारेभे, लग्नं च भव्यं दत्तं ज्योतिष्केण, परं तस्मिन् समये अन्यत्र विहृतत्वेन तत्र गुरवो न सन्ति, ततोऽसौ श्राद्धो विकल्पयति अस्मिन् विवाहलग्ने संखड्यामनेकाशनखाद्यादिमनोरमायां क्रियमाणायां जनखाद्यमेव सर्वं व्रजति न तु व्रतिनां किञ्चिदुपयोगं याति। कियद्दिनानन्तरं विहारक्रमेण श्री गुरवोऽपि आगन्तारः श्रूयन्ते तत् समय एव विवाहः कर्तुम् युज्यते येन साधूनामशनादिकं पुष्कलं ददामि इत्यादि विचिन्त्य निष्टङ्कितं लग्नात्परतो गुरूणामागमनसमये विवाहं करोति एवं च विवाहदिनस्योत्ष्वष्कणं कृत्वा यदुपस्क्रियते भक्तादि सा बादरा ओसक्कणप्राभृतिका १। तथा कश्चित् श्रावकः स्वपुत्रादेर्विवाहदिनं निष्टङ्कितं तद्दिनादर्वागेव साधवस्तत्रागतास्ततोऽसौ विचारयति मया साधूनां विपुलं विशिष्टं भक्त्यादि पुण्यार्थं देयं, परं विवाहादिके पर्वणि विशालं भक्त्यादि भवति परं मत्पुत्रविवाहं यदि जानंति तदा गुरवोऽन्यत्र विहरिष्यन्ति इति विचार्य तत्रस्थ एव अन्यलग्नं स्थापयति, अत्र च भविष्यत्कालभाविनो विवाहलग्नस्य अवष्कणं कृत्वा यदुपस्क्रियते भक्तादि सा बादरावष्कणप्राभृतिका २।

१ विवाहादिप्रकरणं.

अथ काचित्कुटुम्बिनी सूत्रकर्त्तनादिव्यापारपरायणा रुदता शिशुना भोजनं याचते 'मातर्मे भोजनं देहि' तत्र तदवसरे प्रत्यासन्नगृहे भिक्षामटन् साधुसंघाटकस्तया दृष्टस्तं दृष्ट्वा कर्त्तनादिलोभतः रुदन्तं शिशुं प्रत्यवक् मा रोदीस्त्वं ? इह गृहानुगृहं प्रविशन् साधुसंघाटकः समेष्यति तस्य दानाय उत्थिता सती तवाऽपि तत्समय एव भोजनं दास्यामीति उक्त्वा क्रमेणागते साधुसंघाटके तस्मै दत्वा बालकस्याऽपि प्रदत्तं भोजनं। इह च यत्र समये बालकेन याचितं तदैव तथा कर्तुमुचितस्य पुत्रभोजनदानस्य भविष्यत्कालभाविना साधुभिक्षादानेन समये यत्करणं तदुत्ष्वष्कणं, तत्र या प्राभृतिका सा सूक्ष्मोत्ष्वष्कणप्राभृतिका १। तथा काचित् गृहस्थिनी कर्त्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं बालकं प्रति वदति कर्त्तयामि तावत्पूणिकामेकां पश्चात्ते भोजनं दास्यामीति, अत्रान्तरे साधुरागतस्तत उत्थाय तस्मै भिक्षां ददती बालकस्य भोजनं ददाति। इह च यत्पूणिकाकर्त्तनसमाप्त्यनन्तरं दातव्यतया बालकाय प्रतिज्ञाते साधुनिमित्तमर्वागुत्थानेन यदर्वागेव बालकस्य भोजनदानं तदवष्कणदानं सा सूक्ष्मावष्कणप्राभृतिका २ इयं च प्राभृतिका साध्वर्थमुत्थिताया बालकभोजनदानं तदनंतरं हस्तधावनादिनाऽप्कायमर्दनहेतुत्वात् अकल्पनीयं ६

पाउयरत्ति साधुदाननिमित्तं वह्निप्रदीपमण्यादिस्थापनेन भित्त्याद्यपनयनेन वा बहिर्निष्कास्य धारणेन वा प्रादुःप्रकटनं देयवस्तुनः करणं प्रादुष्करणं, तच्च द्विधा प्रकाशकरणं प्रगटकरणं च। तत्र कोऽपि श्रावकः साधु भक्तिमान् अचक्षुर्विषयतया साधुनामकल्प्यमिति विचिन्त्य तस्य भक्तादेः प्रकाशनार्थं भास्वरमणिं तत्र स्थापयति अग्निप्रदीपं वा कुरुते गवाक्षजाल्यादि उद्घाटयति लघुतरं द्वारं बृहद्द्वारं करोति कुड्यच्छिद्रादि विदधाति इत्थं यत् स्थानं स्थितस्यैव देयवस्तुनः प्रकाशनं तत्प्रकाशकरणं। यत्पुनर्गृहमध्यवर्त्तिचुल्ल्यां स्वगृहार्थं राद्धाशनादेरन्धकारादपसार्य बहिः चुल्यास्तद्व्यतिरिक्तेऽन्यस्मिन् प्रकाशप्रदेशे साध्वर्थं स्थापनं प्रगटकरणं

एतच्च द्वयोरपि प्रादुष्करणयोः षट्कायोपमर्दमशुचिदोषादिसद्भावात् साधुभिर्वर्जनीयमिति ७।

क्रीयति-क्रीतं यत्साध्वर्थं मूल्यादिना गृहीतं तच्चतुर्द्धा यथा आत्मद्रव्यक्रीतं १ आत्मभावक्रीतं २ परद्रव्यक्रीतं ३ परभावक्रीतं ४ तत्र आत्मना स्वयमेव द्रव्येणोज्जयन्तादितीर्थशेषरूपपरावर्त्तादिकारिगुटिका-सौभाग्यादिसंपादकरक्षादिरूपेण प्रदानतः परमावर्ज्य भक्तादि गृह्यन्ते तदात्मद्रव्यक्रीतम् । दोषाश्चात्र-उज्जयन्ताद्रितीर्थशेषादिसमर्पणानन्तरमेव दैवयोगेन तस्य गृहिणो अकस्मादेव ज्वरादिमान्द्ये जातेऽनेन साधुनाऽहं निराकुलः सन् ग्लानीकृत इत्यादि प्रजल्पतः शासनस्य मालिन्यं स्यात्, तद्राजादिना ज्ञाते सति राजादयः कर्षणकुट्टनादिकं विदध्युः, तथाऽग्रतो मन्दः सन् तेन शेषादिना समर्पितेन नीरोगः संपद्यते तदा चाटुकारिण एते यतयः इत्युड्डाहो लोकस्य जल्पतो भवेत्, तथा निर्माल्यादिप्रदानेन प्रगुणशरीरस्य गृहव्यापारादिप्रयोजकतया षड्जीवघातपातः कर्म्मबन्धः स्यादित्यादयः, तथा आत्मना स्वयमेव भक्ताद्यर्थं धर्मकथकवादिक्षपकतपःकविप्रमुखैर्धर्म्मकथाद्युपलक्षणेनाऽन्येन भावेन आक्षिप्तेभ्यो जनेभ्यो यदशनादि गृह्यते तदात्मना क्रीतम् । दोषाश्चात्र निजनिर्मलतपोनुष्ठानमलिननिष्फलीकरणादयः । तथा गृहस्थेन यतिनिमित्तं सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन द्रव्येण कृत्वा यदशनादिक्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतं । अत्र षट्कायविराधनादयः प्रतीता एव दोषाः । तथा परेण [1]मंखेन-विज्ञानप्रदर्शनधर्मकथादिरूपेण वा भावेन परमावर्ज्य यत्नतो गृहीतं यत्तत्परभावक्रीतं, इत्थंभूते परे भावक्रीते त्रयो दोषाः, एकं तावत्क्रीतं, द्वितीयं अन्यस्मात् गृहात् आनीय नीतमित्यभ्याहृतं, आनीयानीय चैकत्र स्थाप्यते तत्स्थापितमिति क्रीतरीतिः ८।

---

१ मंखः-केदारको यः पटं पट्टिकं वा उपदर्श्य लोकमावर्ज्जयति स मंखः।

पामिच्चेति अपमित्यं भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत्साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यकं प्रामित्यकं वा तद् द्विविधं लौकिकं लोकोत्तरं च। तत्र लौकिकं यद्गृहस्थेन परस्मादुच्छिन्नं गृहीत्वा घृतादिवस्तु व्रतिभ्यो दीयते। दोषाश्च दासत्व-निगडत्व नियन्त्रणादयः। लोकोत्तरं च वस्त्रादिविषयं साधूनामेव परस्परमवसेयं, तदपि द्विविधं कोऽपि कस्याऽपि सत्कं एव वस्त्रं गृह्णाति यथा कियद्दिनानि परिभुज्य पुनरपि तत् समर्पयिष्यामि कोऽपि पुनरेवं तावत् दिनानामुपरि तवैतत् सदृशं परं वस्त्रं दास्यामि। तत्र प्रथमे प्रकारे शरीरादिमलेन मलिनीभूते यदि वा पाटिते चौरादिना गृहीते मार्गपतिते वा तस्मिन् वस्त्रादिके कलहादयो दोषाः, द्वितीये च प्रकारेऽन्यवस्त्रादिकं याचमानस्य तस्य दुष्कररुचेर्विशिष्टतरेऽपि दत्ते महता कष्टेन रुचिरापादयितुं शक्यते ततस्तमाश्रित्य कलहादयो दोषा सम्भवन्तीति ९। परियट्टति परिवर्त्तितं यत् साधुनिमित्तं कृतपरावर्त्तं तद्द्वैधं लौकिकं लोकोत्तरं च, एकैकं द्विविधं तद्द्रव्यविषयं च अन्यद्रव्यविषयं च, तद्द्रव्यविषयं यथा-कुथितं घृतं दत्त्वा साधुर्निमित्तं सुगन्धिघृतं गृह्णाति इत्यादिरूपं, अन्यद्रव्यविषयं यथा कोद्रवकूरं समर्पयित्वा साधुनिमित्तं शाल्योदनं गृह्णाति इदं च लौकिकमेव। लोकोत्तरं अपि साधोः साधुना सह वस्त्रादिपरिवर्त्तनस्वरूपं द्विधा भावनीयं दोषाश्चात्राऽपि प्राग्वदेव १०।

अभिहडेत्ति-अभि साध्वभिमुखं हृतं गृहस्थेन स्थानान्तरादानीतं अभिहृतं, तद्द्विधा, आचीर्णं अनाचीर्णं, तत्राऽनाचीर्णं द्विविधं प्रच्छन्नं च प्रगटं च, सर्वथा साधूनां अभ्याहृतत्वेन यदपरिज्ञातं तत्प्रच्छन्नं यत्पुनः अभ्याहृतत्वेन जातं तत्प्रगटम्। एकैकमपि द्विविधं स्वग्रामविषयं परग्रामविषयं च, यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति स किल स्वग्रामः, शेषस्तु परग्रामः, काचित् भक्तिमती श्राविका साधूनां प्रतिलाभनायाभ्याहृता शङ्कानिवृत्त्यर्थं प्राहुणमिषेणोपाश्रये मोदकाद्यानीय साधुसम्मुखमेवं वदति यथा भगवन्! भ्रात-

मातृगेहादौ संखडयां इदं लब्धम्। यदा मया स्वजनानां गृहे प्रहेणकमिदं गृहान्नीतं तैश्च रोषादिना केनाऽपि कारणेन न गृहीतं, सम्प्रति वन्दनार्थं प्रविष्टा यदि युष्माकमिदमुपकरोति तदा गृह्यतां। ततः सा यद् ददाति तत्प्रच्छन्नं स्वग्रामविषयमभ्याहृतं। यदेतत् साधुभ्यो दीयते तदा महत्पुण्यं–

अथ केचित् साधवो दूरे तिष्ठन्ति केचित् प्रत्यासन्नाः परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेऽप्कायविराधनाभयान्नागमिष्यन्ति, आगता अपि प्रचुरमोदकानि वीक्ष्य शुद्धमिति कथ्यमानेऽप्याधाकर्मशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्नं गृहीत्वा व्रजाम इति तथैव कृते ते भूयोऽपि चिन्तयन्ति यदि साधूनाऽऽहूय दास्यामस्ततस्तेऽशुद्धमाशङ्क्य न ग्रहीष्यन्ति, तस्मात् द्विजातिभ्योऽपि किमपि दद्म इत्येवं चिन्तयित्वा कस्मिंश्चित् प्रदेशे द्विजातिभ्यः स्वोकं दातुमारब्धं, तत उच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः केचन साधवो दृष्टाः ततस्ते निमन्त्रिताः, भो साधव! अस्माकमुद्धरितमोदकादिकं प्रचुरमवतिष्ठति ततो यदि युष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत्प्रतिगृह्यतां, साधवोऽपि शुद्धमिति ज्ञात्वा गृह्णन्ति, एतत्प्रच्छन्नं परग्रामविषयमभ्याहृतम्। परंपरया ज्ञाते च परिष्ठापनीयमिति। तथा कश्चित् साधुर्भिक्षामटन् क्वाऽपि गृहे प्रविष्टः, तत्र गौरवार्हस्वजनभोजनादिकं प्रारब्धं वर्त्तते, तदानीं साधवे भिक्षादानाऽवसरो नास्ति इत्यादिभिः कारणैः केचित् श्राद्धाः स्वगृहात् साधोरुपाश्रये मोदकादिकमानीय यद् ददाति तत्प्रकटं स्वग्रामविषयमभ्याहृतं, एवं परग्रामविषयमपि प्रकटं अनाचीर्णं ज्ञेयम्। अथाचीर्णं पुनर्द्विधा क्षेत्रविषयं गृहविषयं च, तत्र क्षेत्रविषयमपि त्रिविधं उत्कृष्टं मध्यमं जघन्यं च, तत्र कस्मिंश्चित् महति गृहे भूरिभुञ्जानकजनपङ्क्तिरुपविष्टा तस्याश्चैकस्मिन् पर्यन्ते साधुसंघाटको

१-प्रेषितं। २ आचीर्णानाचीर्णभेदभिन्नाभ्याहृतदोषस्वरूपम् पिं० नि० १०२

द्वितीयेषु देयमशनादि तिष्ठति, न च साधुसंघाटको जनसंकुलछुप्तिभयात् तत्र गन्तुं न शक्नोति। ततो हस्तशतप्रमितक्षेत्रादानीतं यद्गृह्णाति तदुत्कृष्टक्षेत्रादपहृतमाचीर्णम्। हस्तशतात्परतस्त्वानीतं निषिद्धमेव। मध्यमक्षेत्राभ्याहृतं पुनः करपरिवर्त्तादुपरि यावद्धस्तशतं किञ्चिन्न्यूनं भवति तावद्विज्ञेयम्। करपरिवर्त्तक्षेत्रं तु जघन्यम्। करपरिवर्त्तो नाम हस्तस्य किञ्चित्प्रलम्बनं, यथा काचित् दात्री उर्ध्वा उपविष्टा वा स्वयोगेनैव निजकरगृहीतमोदकमण्डकादिका प्रसारितबाहुस्तिष्ठति सा च तथा स्थिता साधुसंघाटकं दृष्ट्वा करस्थितमोदकादिभिस्तं निमन्त्रयते स च करस्याधः पात्रकं धारयति सा च भुजां चालयति किञ्चिन्मुष्टिं शिथिलयति ततो मण्डकादिपात्रे पततीदं जघन्यक्षेत्रविषयमाचीर्णं। गृहविषयमभ्याहृतं पुनरित्थं पङ्क्तिस्थितानि त्रीणि गृहाणि सन्ति। तत्र यदि साधुसंघाटको भिक्षां गृह्णाति तदा एकः साधुः एकत्र धर्मलाभिते क्षेत्रे गृह्यमाणभिक्षागृहे उपयोगं ददानो भिक्षां लाति, अपरस्तदनुवर्त्ति द्वितीयः साधुसंघाटकस्तु धर्मलाभितगृहादपरयोर्गृहयोरानीयमानभिक्षयोरुपयोगदायकहस्तविषयादिकं ददाति यदि शुद्धं जानाति तदा गृहत्रयादानीतमशनादिकं आचीर्णं चतुर्थगृहादेस्त्वनाचीर्णमिति ११। उंभिन्नेति–उद्भेदनं उद्भिन्नं साधुभ्यो घृतादिदाननिमित्तं कुतुपादेर्मुखस्य गोमयादिस्थगितस्योद्घाटनं तद् द्विधा–पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च, तत्र यत् छगणकाग्नितापितजन्तुसचित्तपृथ्वीकायप्रभृतिभिः लेपद्रव्यैः पिहितद्वारं प्रतिदिनमपरिभोगं खण्डगुडघृतादिभृतकुतुपकशूलादिकं साधुदानाय उद्घाटयति तद् दीयमानं खण्डादि पिहितोद्भिन्नं, यत्पुनरपवरकादेर्निश्चलनिभृतदत्तकपाटस्य प्रतिदिनमनुद्घाटितद्वारस्य साधुदाननिमित्तं कपाटमुद्घाट्य खण्डादि यत् दीयते तत् कपाटोद्भिन्नम्। प्राग्वर्णितदोषाः षड्जीवविराधनादिकास्तथाहि–कुतुपादिमुखमुद्घाट्य घृतादिकं साधुदानाऽनन्तरं शेषरक्षणार्थं ॥२१॥

१ पिं० नि० पृ० १०५

भूयोऽपि कुतुपादिमुखं सचित्तेन पृथवीकायेन जलेनार्द्रीकृत्योपलिम्पति पृथिवीकायान्तः समुद्गककीटिकादयोऽपि संभवन्ति तेषामपि विराधनाऽथवा कोऽप्यभिज्ञानार्थं जतुकादिकं ददाति ततस्तेजकायघातो यत्राऽग्निस्तत्र वायुरपीति षट्कायघातस्तथा च कुतुपादिलेपनिमित्तं दाता कदाचित् वृश्चिकादिभिर्दश्यते तदा प्रवचनमालिन्यं। तथा पुत्रादिदाने क्रये विक्रये चाऽपि पापप्रवृत्तिः। तथाऽपिधानीकृते विस्मृत्या मूषिकादयो जीवा विनश्यन्ति। कपाटोद्भिन्नेऽप्येवं दोषाः तथाहि–कपाटात् प्राक् कथमपि पृथिवीकायो जलभृतः करको वा बीजपूरादिकं वा मुक्तं भवति, तदा तस्मिन्नुद्घाटिते तद्विराधना जलभृते च करकादौ च लुठ्यमाने भिद्यमाने वा पानीयं प्रसर्प्पन्नासन्नचुल्यादौ प्रविशेत्तदा अग्निकायविराधनाऽपि, यत्राऽग्निस्तत्र वायुरपि, अथ भूमिकाविवरगतं जलं कीटिकादिकमपि विनाशे त्रसकायविराधना, अतो द्विविधमपि उद्भिन्नं न ग्राह्यं। यदा तु कुतुपादीनां मुखबन्धः प्रतिदिनं छोड्यते बध्यते जतुमुद्राव्यतिरेकेण केवलवस्त्रादिग्रन्थिना बध्यते तदा साध्वर्थं उद्भिद्य दीयते तदा साधुना गृह्यते, कपाटोद्भिन्नमपि यत्र प्रतिदिनं उद्घाटयते कपाट–उद्घालक–अर्गलिका यदि भूमिघर्षितो न भवति तदा कपाटोद्भिन्नमपि कल्पत इति १२

मालापहृतेति–मालातः सिक्ककादेरपहृतं साध्वर्थं आनीतं यद्भक्तादिकं तन्मालापहृतं। तच्चतुर्धा–ऊर्ध्वमालापहृतं, अधोमालापहृतं, उभयमालापहृतं, तिर्यग्मालापहृतं। तत्र ऊर्ध्वमालापहृतं–त्रिधा, जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात्, तत्र ऊर्ध्वं विलगितोच्चसिक्ककादेर्गृहीतमशक्तत्वेनोत्पाटिताभ्यां पार्ष्णिभ्यां पादाधोभागाग्रेतनफणाभ्यां भूमिन्यस्ताभ्यां दात्र्या निजचक्षुपाऽदृष्टं यद्गृहीतमशनादि तत्पार्ष्णिमात्रोत्पाटनस्तोकक्रियागृहीतत्वाज्जघन्यमूर्ध्वमालापहृतं, यच्च निश्रेण्यादिकमारुह्य प्रसादोपरितालाद् दात्र्या गृहीतं तन्निश्रेण्यादिरो-

१ पिं० नि० पृ० १०७

हणाद्गुरुक्रियागृहीत्वात् उत्कृष्टं मालापहृतं, अनयोर्मध्यवर्त्ति मध्यमम् । तथा साध्वर्थं भूमिगृहादौ प्रविश्य तत्र स्थितं भक्तादि यदानीय ददाति तदधोवर्त्तिमालापहृतं। तथोष्ट्रिकाकलशमञ्जुषाकोष्टकादिस्थितं किञ्चित् सकष्टतया दात्री ददाति तदुभयमालापहृतं, तथा ह्यच्चरोच्चैस्तरकुम्भ्यादिमध्ये स्थितस्य देयस्य ग्रहणाय दाता पार्ष्ण्युत्पाटनं करोति तेनोर्ध्वाश्रितव्यापारता, येन त्वधोमुखं बाहुं व्यापारयति तेनाऽधोगतव्यापारता, यदा च पृथुलभित्त्यादिस्थिते स्कन्धसमोच्चप्रदेशप्राये दीर्घगवाक्षादौ तिर्यग्प्रसारितबाहुक्षिप्तेन हस्तेन गृहीत्वा यद्देयं प्रायेण दृष्ट्याऽदृष्टं दाता दत्ते तत् तिर्यग्मालापहृतं तिर्यग्माला-भित्त्यादिस्थितगवाक्षादिरूपादपहृतं वा इति ज्ञेयम् । मालाशब्देन उच्चप्रदेश एवाभिधीयते तत्कथं भूमिगृहाधोगृहादीनां मालाशब्दः कथ्यते ? इति न वाच्यं, यतो लोकरूढ्या उच्चप्रदेशवाचको मालाशब्दः इह तु मालाशब्दः समयप्रसिद्ध्या भूमिगृहोर्ध्वाऽधोभूम्यादिषु सर्वत्र कथ्यते, दोषाश्चाऽत्र मञ्चकमञ्चिकोदूखलादिष्वारुह्य पार्ष्णिं वा उत्पाटय उर्ध्वावलगितसिक्ककादिस्थितमोदकादिग्रहणे कथमपि स्खलति निपतति दात्री तदाधः स्थितानामपि पीपिलिकादीनां पृथिव्यादीकायानां च विनाशः, दात्र्याश्च हस्तपादाद्यवयवभङ्गं विसंस्थूलपतनतासंभवात् प्राणव्यपरोपणमपि स्यात् , तथा च प्रवचनोड्डाहो यथा–साध्वर्थं भिक्षां ददानः परासुरभूत्तस्मादमी अदृष्टाः सन्तः कल्याणकारिणः इत्यादयो बहवो दोषास्तस्मात् मालापहृतं साधुभिर्न ग्राह्यं, यच्च पुनर्ददरसोपानादीनि सुखावतराणि सुखावलोक्यानि तान्यारुह्य ददाति तन्मालापहृतं न भवति, केवलं साधुरपि तदेषणाशुद्धिनिमित्तं प्रासादस्योपरि दर्दरादिना चटति, अपवादपदे दौर्लभ्यलामे च भूमिस्थोऽपि ततोऽप्यानीतं गृह्णाति १३ ॥२२॥
आच्छेद्यम् इति आच्छिद्यते अनिच्छतोऽपि भृत्यकपुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय यदशनादि गृह्यते तदाच्छेद्यं, तत् त्रिविधं स्वामिविषयं,

१ पिं० नि० पृ० ११०

प्रभुविषयं, स्तेनविषयं च । तत्र ग्रामादिनायकः–स्वामी गृहमात्रनायकः–प्रभुः स्तेनश्चौरः, ततो ग्रामादिस्वामी संयतान्निरीक्ष्य भद्रकतया कलहेनाऽकलहेन वा बलादपि साधुदानाय कौटुम्बिकेभ्यः सकाशात् आच्छेद्य यतिभ्यो ददाति तत् स्वामिविषयं । तथा यद्गोरक्षककर्मकरपुत्रपुत्रीवधूभार्यादिसत्कमेतेभ्यो अनिच्छद्भ्योऽपि गृहीत्वा गृहस्वामी साधुभ्यो दुग्धादिकं ददाति तत्प्रभुविषयं आच्छेद्यं । तथा स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति भद्रका भवन्ति ततस्ते मार्गे आगच्छन्तः कदाचित् तथाविधसार्थसार्धमागतान् भोजनार्थं कृतावस्थितैः सार्थस्य मध्ये भिक्षामटन्तः परिपूर्णतामप्राप्नुवन्तश्च संयतान् दृष्ट्वा तन्निमित्तमात्मनो वाऽर्थाय सार्थिकेभ्यो बलादाच्छिद्य पाथेयादि यद्दत्तवन्तस्तत्स्तेनविषयमाच्छेद्यं । एतत् त्रिविधमप्याच्छेद्यं साधूनामकल्प्यं । अप्रीतिकलहात्मघातान्तरायप्रद्वेषाद्यनेकदोषसंभवात् । केवलं स्तेनाऽऽच्छिद्येऽयं विशेषो येषां सम्बन्धिभक्तादि बलादाच्छिद्य चौराः साधुभ्यो ददति त एव सार्थिका यदि स्तेनैर्बलादाप्यमाना एवं ब्रुवन्ते अस्मदीयं सर्वं चौरैर्गृहीतव्यं, ततो यदि चौरा युष्मभ्यं दापयन्ति ततो अस्माकं महान् संतोष इति यदि तैरनुज्ञाता मुनयो दीयमानं चौरैरपि गृह्णन्ति पश्चाच्चौरेषु अपगतेषु भूयोऽपि ततो गृहीतं द्रव्यं तेभ्यः समर्पयन्ति यदा तदानीं चौरभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते गतास्तदात्मीयं द्रव्यं यूयं गृह्णीथ, एवमुक्ते यदि ते समनुजानते यदा युष्मभ्यमेवास्माभिर्दत्तं तर्हि भुञ्जते कल्पनीयत्वादिति १४ अनिसृष्टम्–न निसृष्टं स्वामिभिः साधुदानार्थमननुज्ञातं यत्तदनिःसृष्टं, तत्त्रिधा साधारणानिसृष्टं, जड्डानिसृष्टं, चोल्लकानिसृष्टं । तत्र साधारणं बहुजनसामान्यं, चोल्लकं स्वस्वामिना पदातिभ्यः प्रसादीक्रियमाणं कौटुम्बिकेन वा क्षेत्रादिस्थितकर्म्मकरेभ्यो दीयमानं देशीयभाषया भक्तमुच्यते, जड्डो हस्तिभिरनिसृष्टमननुज्ञातं न कल्पते साधूनां, तत्र साधारणा-

· पिं० नि० ११३

निसृष्टं यत्र इट्टगृहादिस्थितिलकुट्टितैलवस्तुलड्डुकदध्यादिदेयवस्तुमेदेनाऽनेकधा, तत्र घाणकादियन्त्रे तिलकुट्टीतैलादिकं हट्टे वस्त्रादिकं गृहेऽन्नादिकं बहुजनसाधारणं च सर्वैः स्वामिभिरननुज्ञातं यदेकः कश्चित् साधुभ्यो प्रयच्छति तत्साधारणानिसृष्टं । तथा चोल्लको द्विविधः छिन्नोऽच्छिन्नश्च, तत्र कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्याऽपि पार्श्वे कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति, स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक् पृथक् भाजनं कृत्वा प्रस्थापयति तदा स चोल्लकच्छिन्नो । यदा तु सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेषयति तदा सोऽच्छिन्नः, तत्र यथोल्लको यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन दीयमानो मौलस्वामिना कौटुम्बिकेन दृष्टोऽदृष्टो वा साधूनां कल्पते छिन्नेन तस्य स्वकीयीकृतस्य दत्तत्वात्, अच्छिन्नोऽपि कौटुम्बिकेन येषां हालिकानां योग्यः सचुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय अनुज्ञातो दृष्टाऽदृष्टो वा कल्पते तैः पुनरननुज्ञातो न कल्पते एव द्वेपान्तरायपरस्य कलहादिदोषसम्भवात् । तथा जड्डा निसृष्टं हस्तिनो भक्तं मिण्ठेनानुज्ञातं अपि राज्ञा हस्तिना वाऽननुज्ञातत्वात् न कल्पते, हस्तिनो भक्तं राज्ञः सम्बन्धि ततो राज्ञाननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणाकर्षणवेपोद्दालनादयो दोषा भवन्ति । तथा मदीयाज्ञामन्तरेणैव साधवे पिण्डं ददाति कदाचित् मिण्ठं स्वाधिकाराद्भ्रंशयति ततस्तस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधोरन्तराय इति । राज्ञाऽननुज्ञातत्वाद् अदत्तादानदोषश्च । तथा गजस्य पश्यतो मेण्ठस्याऽपि सत्कं न गृहीतव्यं गजो हि सचेतनस्ततो मदीयकवलमध्यात् मुण्डैरपि पिण्डो गृह्यते इत्येवं विचार्य यथायोगं मार्गे परिभ्रमन् उपाश्रये तं साधुं दृष्ट्वा तमुपाश्रयं पातयति साधुं च कथमपि मारयति १५ ।

अज्झोयरत्ति अधि–आधिक्येन पूरणं स्वार्थदत्ताग्नादेः साध्वागमनमधिगम्य तद्योग्यभक्तसिद्ध्यर्थं प्राचुर्येण भरणमध्यवपूरः

१ पिं० नि० गृ० ११८

प्रथम संवरद्वारे पिण्डोद्गमदोषाः

तन्निधा स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः, स्वगृहपाखण्डिमिश्रश्च,
स एव अध्यवपूरकः स्वार्थे कप्रत्ययविधानात् तद्योगाद्भक्ताद्यप्यध्यवपूरकः। स्वगृहश्रमणमिश्रस्तु स्वगृहपाखण्डिमिश्रेऽन्तर्भावित इति पृथग् नोक्तः। तत्र यावदर्थिकात्–प्रथममेवाग्निसंधुक्षणस्थालीजलप्रक्षेपादिरूपे आरम्भे स्वार्थे निष्पादने पश्चात् यथासंभवं त्रयाणां यावदर्थिकादीनां अर्थाय अधिकतरान् तण्डुलादीन् प्रक्षिपति एषोऽध्यवपूरकः अत एवाऽस्य मिश्रजाताद्भेदो यथा मिश्रजातं तदुच्यते–यत्प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च मिश्रं निष्पाद्यते, यत्पुनः प्रथमं आरभ्यते स्वार्थं पश्चात् प्रभूतान् अर्थिनः पाखण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्यते तेषामर्थायाधिकतरं जलतण्डुलादि प्रक्षिप्यते सोऽध्यवपूरक इति। अत्र च स्वगृहं यावदर्थिके मिश्रेऽध्यवपूरके शुद्धभक्तमध्ये यावन्तः कणाः कार्प्पटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्ताः तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथग् क्रियते कार्प्पटिकेभ्यो वा दत्ते सति शेषमुद्धरितं भक्तं सत् साधूनां कल्पते। अतएव चाऽयं विशोधिकोटिर्वक्ष्यते तथा स्वगृहपाखण्डिमिश्रे स्वगृहसाधुमिश्रे च शुद्धभक्तमध्ये पतिते पूतिर्भवति यदि तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं दत्तं वा पाखण्डयादिभ्यस्तथापि शेषं न कल्पते। यतः सकलमपि तद्भक्तं पूतिदोषदुष्टं भवतीति १६ उक्ताः षोडश उद्गमदोषाः[1]। अथोत्पादना दोषानाऽऽह–

धाइ दूइ निमित्ते–इति गाथाद्वयं पूर्वोक्तं वाच्यं, तत्र धयन्ति पिबन्ति बालका यां इति धीयन्ते धार्यन्ते बालकानां दुग्धपानाद्यर्थमिति वा, धात्री बालपालिका, सा च पञ्चधा–क्षीरधात्री १ मज्जनधात्री २ मण्डनधात्री ३ क्रीडनधात्री ४ उत्संगधात्री ५ च। इह

१ षोडशोद्गमदोषस्वरूपम् पिंडनिर्युक्ति पृष्ठ ३४–११६ यावत्

२ धाई दुइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य। कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥१॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य। उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मुलकम्मे य ॥२॥ पिं० नि० गा० ४०८–४०९

च धात्रीत्वस्य यत्करणं कारापणं वा धात्रीशब्देनोक्तं, तथा धात्र्याः पिण्डो धात्रीपिण्डो, एवं दूत्यादिष्वपि भावनीयमिति, इयमत्र भावना-कश्चित् साधुर्भिक्षार्थं पूर्वपरिचितगृहे प्रविष्टो, रुदन्तं बालकं विलोकयन् तन्मातरमाह यतोऽयं दारकोऽद्यापि क्षीराहारः क्षीरं विना रुदति तन्मह्यं भिक्षां मंक्षु दत्वा पश्चादेनं स्तन्यं पायय, यद्वा प्रथममेनं पायय पश्चात् भिक्षां देहि, यदि वा अलं भिक्षया, संप्रति एनं पायय, अहमन्यत्र गत्वा पुनः समेष्यामि, यदि वा तिष्ठ त्वं निराकुला अहमेवाऽस्मै कुतोऽपि क्षीरमानीय दास्यामीति स्वयं धात्रीत्वं करोति। तथा मतिमान् निरोगश्चिरायुः बालः स्तन्यं पायितः स्यात् इति श्रुते अपमानितस्तु विपरीतो भवति दुर्लभं खलु लोके पुत्रमुखदर्शनं अतः सर्वाण्यन्यानि कर्माणि मुक्त्वा बालकं स्तन्यं पाययेति एवं च क्रियमाणे बहवो दोषा भवेयुः। तथाहि-बालकमाता भद्रकत्वादाहृतमानसा सत्याऽऽधाकर्मादिकं कुर्यात्, तथा बालकः स्वजातो वा अन्यो वा प्रातिवेश्मिकादि बालकमात्रा सह साधोः संभावयेत्, चाटुकरणदर्शनात् यदि वसा वा बालजननी भवेत्तदा रोषं वहेदहो प्रव्रजितस्य महती परकीया तप्तिः, तथा वेदनीयकर्मविपाकवशात् बालकस्य कदाचिन्मान्द्ये संजाते मदीयपुत्रोऽनेन लोचनीकृत इत्यादि साधुना सह कलहकरणात् प्रवचनमालिन्यं इति दोषाः। अथवा कस्यापीभ्यगृहे बालधापनपरां धात्रीं स्वबुद्धिप्रपञ्चेन अन्यां भार्यां तत्र स्थापयन् धात्रीत्वं करोति, यथा कश्चित् साधुभिक्षाचर्यां प्रविष्टः महेभ्यगृहे सशोकां काञ्चिदवलोक्य पृच्छति-किमद्याऽधृतिपरा दृश्यसे! सा प्राह साधर्मिकमुने! दुःखं दुःखसहायकस्यैव कथ्यते, को दुःखसहायो भवत्याः? सा प्राह यो निशम्य दुःखप्रतिकारं करोति। मुनिः प्राह-मां मुक्त्वा कोऽन्यस्तथाभूतः। सा प्राह भगवन्! स्फेटिताऽहं अपरधात्र्या इभ्यगृहात् तेन विषण्णा, ततः साधुरुत्पन्नाभिमानो वक्ति तत्र स्थापयामि ततो यथेप्सितां भिक्षां ददामीति इत्यभिधाय स्फेटितुमिष्टाया धात्र्या अदृष्टत्वात् स्वरूपं अजानन् तस्या एव पार्श्वे [अभिनव स्थापितायाः

स्वरूपं] पृच्छति। सा किं तरुणी मध्यमा वृद्धा वा प्रवनुस्तनी स्थूलस्तनी कूर्परस्तनी वा मांसला कृशा कृष्णा गौरी वेत्यादि पृष्ट्वा च, तत्रेश्वरगृहे गतः सन् तं बालकमालोक्य गृहस्वाम्यादि समक्षं धात्रीदोषान् वक्ति। यथा-वृद्धा धात्री अबलस्तन्या तां धयन् दारकः अबलः संपद्यते, कृशा धात्री स्तोकस्तन्या तां धयन् शिशुरपि परिपूर्णस्तन्याभावात् शिशुरपि कृश एव, स्थूलस्तन्या स्तन्यं धयन् कोमलाङ्गत्वात् कुचचंपितवक्त्रघ्राणः सन् चिपिटघ्राणः स्यात्, कूर्पराकारस्तन्यास्स्तनं धयन् बालः सदैव स्तनाभिमुखदीर्घीकृतमुखतया शूचीसदृशवदनचिर्पटनेत्रश्च स्यात्। यत उक्तं-

निःस्थामा स्थविरां धात्रीं, सूच्यास्यः कूर्परस्तनीम्। चिपिटः स्थूलवक्षोजां, धयंस्तन्वीं कृशो भवेत् ॥१॥

जाड्यं भवति स्थूरायाः, तनुक्यास्त्वबलंकरं। तस्मान्मध्यबलस्थायाः, स्तन्यं पुष्टिकरं स्मृतं ॥२॥

तथाऽभिनवस्थापिता धात्री येन वर्णेन उत्कटा भवति तेन तां निन्दति यथा—

कृष्णा भ्रंशयते वर्णं, गौरी तु बलवर्जिता। ततः श्यामा भवेद् धात्री, बलवर्णैः प्रशंसिता ॥१॥ इत्यादि।

एतद्वचः गृहस्वामी श्रुत्वा स्थविरत्वादिस्वरूपां वर्तमानधात्रीं परिभाव्य स्फेटयति तां साधुसंमतां धात्रीं करोति। सा च प्रमुदिता तस्मै साधवे विपुलां भिक्षां प्रयच्छति इति-धात्रीपिण्डोऽनाचीर्णः। अत्र बहवो दोषाः तद्यथा-या स्फेटिता सा विद्वेषं याति वक्ति चाऽनया सह साधुर्यथेच्छं रमते इत्यलं दत्ते। अतिद्विष्टा सती विषादिदानतो मारयत्यपि। या चिरंतनी स्थापिता साऽपि चिन्तयति चित्ते यथा-ऽनेनाऽग्रेतनीं स्फेटयित्वा मां धात्री कृता तथा कदाचिदन्ययाऽभ्यर्थितो मामपि स्फेटयिष्यति ततस्तथा करोमि यथाऽयं

१ पिं० नि० पृ० १२३-२

न भवति इति विचिन्त्य विपादियोगेन मारयेदित्यादयो बहवो दोपाः। एवं मज्जनधात्रीत्वकरणे कारापणे क्रीडनकअङ्कधात्रीत्वकरणे कारापणे दोपाः परिभावनीयाः ॥१॥

दूती परस्परसंदिष्टार्थकथिका ततो दूतीत्वकरणेन-सन्देशकथनेन यः पिण्ड उपार्जितो यतिना स दूतीपिण्डः स द्विविधः स्वग्रामे परग्रामे च। तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्वसति तस्मिन्नेव ग्रामे यदि सन्देशं कथयति तदा स्वग्रामदूती। यदा तु परग्रामे गत्वा सन्देशं कथयति तदा परग्रामदूती। सैकैकाऽपि द्विधा प्रकटा, प्रच्छन्ना च, प्रच्छन्ना पुनर्द्विधा एका लोकोत्तरविपया द्वितीयसंघाटिकसाधोरपि गुप्ता इत्यर्थः। द्वितीया पुनर्लोक-लोकोत्तरविपया पार्श्ववर्त्तिनो जनस्य संघाटिकद्वितीयसाधोरपि गुप्ता इति भावः। ततः कश्चिद् साधुर्भिक्षाकृते व्रजन् विशेपतस्तल्लाभार्थं तस्यैव ग्रामस्य सम्बन्धिनः पाटकान्तरे ग्रामान्तरे वा जनन्यादेः सत्कं पुत्रिकादि पुरतो गत्वा सन्देशं कथयति, यथा सा तव माता सा तव पिता भ्रातादिर्वा, त्वयाऽत्राऽऽगन्तव्यमित्यादि तत्संमुखं वदति। एवं स्वपक्षपरपक्षयोर्निःशङ्कं शृण्वतोः कथनात् स्वग्रामपरग्रामविपयं दूतीत्वं। तथा कश्चित्साधुः कयाचिदुहित्रा मात्रादिकं प्रति स्वग्रामे परग्रामे वा सन्देशकथनाय प्रार्थितः। ततस्तत्सन्देशकं अवधार्य तज्जनन्यादि पार्श्वे गतः, सन्नैवं चिन्तयति दूतीत्वं तु गर्हितं सावद्यत्वात् ततो द्वितीयसंघाटकसाधुर्मा दूतीदोपदुष्टं माज्ञासीत्, तदर्थं भङ्ग्यन्तरेणेदं भणति, यथा-श्राविकेऽतिमुग्धा सा तव पुत्री यतः-सावद्ययोगरहितानस्मान् प्रति वदति यथेदं प्रयोजनं मदीयागमनादिकं मातुस्त्वया कथनीयमिति साऽपि दक्षतयाऽभिप्रायं ज्ञात्वा द्वितीयसंघाटकचित्तरक्षणार्थं प्रति भणति यथा-वारयिष्याम्यहं तां पुनस्त्वां न वदिष्यति इति संघाटकसाधोरपि गोपयितुमिष्टं न लोकस्येति लोकोत्तरप्रच्छन्नं स्वग्रामपरग्रामविपयं दूतीत्वं। उभयप्रच्छन्नं पुनरेवं यथा काचित् साधुं प्रति वदति मज्जनन्यास्त्वमेवं कथयेस्तत्कार्ये तव प्रतीतं यथा

त्वं जानासि तथैव संपन्न इति, इह च साधुसंघाटकस्य शेषलोकानां च सन्देशार्थनिवर्गमादुभयप्रच्छन्नदूतीत्वं। दोषाश्च सर्वत्र गृहस्थव्यापारादिना जीवोपमर्दादय इति दूतीदो॰ २

निमित्तेत्ति निमित्तं अतीताद्यर्थपरिज्ञानहेतु शुभाशुभचेष्टातद्धेतुकं ज्ञानं निमित्तज्ञानं, तत्करणेन पिण्डो निमित्तपिण्डः। यथा कोऽपि साधुः कथयति तत्र अतीतदिने सुखदुःखलाभालाभादि जातं, आगामिदिने वा राजप्रसादिकं भविष्यति, संप्रति वाऽद्यैव दिने अमुकं अमुकं भवतीति भविष्यति वा, तेऽपि गृहस्था लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणादिविषयं निमित्तं पृष्टमपृष्टं वा धृष्टेन तेन कथ्यमानमालोक्यावर्जितमानसास्तस्मै मुनये मोदकादिकां विशिष्टविपुलां भिक्षां ददते दापयन्ति वा स निमित्तपिण्डः साधूनामनाचीर्णः, आत्मपरोभयविषयाणां वधादिदोषाणामनेकेषामत्र संभवादिति ३

आजीवत्ति आजीवनं वृत्तिराजीविका सा पञ्चधा-जातिविषयः १ कुलविषयः २ गणविषयः ३ कर्मविषयः ४ शिल्पविषयश्च ५। एकैकोऽपि द्विधा-सूचया १ ऽसूचया२ च। सूचा-वचनरचनाविशेषेण कथनं, असूचा-अस्फुटवचनेन, तत्र सूचया-स्वजातिप्रकटनेन-तज्जातिमुपजीवति। यथा कश्चित् साधुर्भिक्षामटन् द्विजवेश्म प्रविष्टः, तत्र द्विजपुत्रं यागहोमादिक्रियां सम्यक्कुर्वन्तं वीक्ष्य तज्जनकाग्रे स्वजातिप्रकटनाय वक्ति यथा समिधमन्त्र-आहुतिस्थानं यागकालघोषादयः क्रियाः सम्यक् असम्यक् वा भवन्ति। तत्र समिधः पिप्पलादीनामार्द्रशाखाखण्डरूपाः, मन्त्राः प्रणवादिका वर्णरचनाः, आहुतिः अग्न्यादौ घृतक्षेपरूपा स्थानं-उत्कटिकादि यागोऽश्वमेधादि, कालः प्रभातादि, घोष उदात्तादि, सर्वं यथा प्रतिपादितं तथा क्रियते सा सम्यक्क्रिया तद्विपरीता न्यूना अधिकतया वा विपर्ययेण वा क्रियते साऽसम्यक्क्रिया। अयमपि त्वत्पुत्रः सम्यक् क्रियां कुर्वाणः श्रोत्रियस्य पुत्रः ज्ञायते इत्येवमुक्ते स द्विजो वक्ति अवश्यं

त्वं ब्राह्मणोऽसि तच्छ्रुत्वा मौनेन स्थितं एतच्च सूचया जाति प्रकटनं। असूचया तु पृष्टोऽपृष्टो वा आहारार्थं स्वजातिं प्रकटयति यथाऽहं ब्राह्मणः, अत्र चाऽनेके दोषाः स द्विजो यदा भद्रकस्तदा स्वजातिपक्षपातात् प्रभूतमाहारादिकं पक्त्वाऽपि ददाति आधाकर्मदोषः। अथ अप्रीतस्तदा भ्रष्टोऽयं पापात्मा ब्रह्मत्वं त्यक्तवानिति विचिन्त्य स्वगृहान्निष्कासनादि करोति एवं क्षत्रियादिजातिकुलादिष्वपि भावनीयं ४

प्रथम संवरद्वारे पिण्डोत्पादनदोषाः

वणीमग्गति वनु याचने प्रायो दायकाभिमतेषु श्रमणादिष्वात्मानं भक्तं दर्शयित्वा पिण्डं याचते इति वनीपकः। कश्चिद्यति-निर्ग्रन्थशाक्यतापसपरिव्राजकाजीविकद्विजप्राघूर्णश्वानकाकशुकादिभक्तानां गृहस्थानां गृहं भिक्षां भ्रमन् प्रविष्टस्ततस्तेषां पुरतोऽशनादि-लाभार्थं निर्ग्रन्थादिगुणवर्णनेनात्मानं तद्भक्तं दर्शयति। तथाहि-स कदाचित् प्रविष्टो निर्ग्रन्थभक्तश्रावकगृहे निर्ग्रंथानाश्रित्य वदति-भो श्रावक! तथैते गुरवः सातिशयज्ञानभूषिता बहुश्रुता इत्यादिकां प्रशंसां, शाक्योपासकगृहे शाक्यान् एवं तापस-परिव्रजकाजी-विकद्विजानप्याश्रित्य तद्दानतद्गुणप्रशंसाकरणेन वनीपकत्वं विज्ञेयं। तथाऽतिथिभक्तानां पुरत एवं वक्ति इह प्रायो लोकः परिचितेषु उपकारकेषु वा ददाति, पुनः अखिन्नं अतिथिजनं पूजयति तस्यैव दानं जगति प्रधानमिति, श्वानभक्तास्तु किन्तु एते श्वानः कैलासप-र्वतादागत्य यक्षा एव श्वानरूपेण पृथ्वीं संचरन्ते, तत एतेषां दानेन वैश्रमणः प्रसन्नीभूय धनं ददाति। एवं काकादिष्वपि भावनीयं, इत्थं वनीपकत्वकरणेन पिण्डो बहुदोषाय भवति। यथाऽधार्म्मिके धार्म्मिके वा पात्रे दानं दत्तमपि न निष्फलं भवतीत्येवमुक्तेऽपात्रदा-नस्य पात्रतया प्रशंसनेन स त्यक्ताचारः स्यात्, किं पुनः कुपात्रानेव शाक्यादीन् साक्षात् प्रशंसतः उक्तं च— ॥२६॥

दाणं न होइ अफलं पत्तमपत्तेसु संनिजुज्जंतं। इय. भणिए.विय दोसो, पसंसओ किं पुण अपत्ते ॥१॥

एवं शाक्यादिप्रशंसने लोके मिथ्यात्वं स्थिरीकृतं भवति। यथा साधवोऽप्यमून् प्रशंसंति तस्मादेतेषां धर्मः सत्य इति। यदि ते शाक्यादिभक्ता भद्रकास्तदा इत्थं प्रशंसां श्रुत्वा तद्योग्यमाधाकर्मादि कुर्वते तद् गृद्धतया कदाचित्तद्धर्ममपि प्रतिपद्येरन्, लोकेऽपि वचनीयता चाटुकारिण आहारार्थं श्वान इव लाटपटचकारिणः। यदि ते प्रत्यनीकास्तदा गृहनिष्काशनादि कुर्युरिति साधूनां तेषां प्रशंसने मृषावादः। अनुमोदनद्वारा प्राणातिपातादयोऽपि स्युरित्यर्थः ५ चिकित्सा इति० चिकित्सनं चिकित्सा-रोगप्रतीकारः तदुपदेशो वा सा पि द्विधा सूक्ष्मा बादरा च, तत्र सूक्ष्मा औषधवैद्यकज्ञापनेन वा, बादरा स्वयं चिकित्साकरणेन अन्येभ्यः कारापणेन वा। यथा कश्चिद्गृही ज्वराक्रान्तस्तस्य गृहे गतं साधुं दृष्ट्वा पृच्छति भगवन्मदीयस्य व्याधेः प्रतीकारं जानीषे ? स वक्ति भोः श्रावक! यादृशो व्याधिस्तव ममाऽपि तादृश्येवमभूत् परममुकेनौषधेन शान्त इति। अनेन अज्ञगृहस्थस्य भैषज्यकरणाऽभिप्रायेणौषधसूचनं कृतं। अथवा रोगिणा चिकित्सा पृष्टा वदति किमहं वैद्यो येन प्रतिकारं जाने एवं चोक्ते रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतोऽस्मिन् विषये वैद्यं पृच्छन्ति सूचनं कृतं सूक्ष्मा विचिकित्सा। बादरा तु यदा स्वयं वैद्यीभूय साक्षादेव वमनविरेचनक्वाथादिकं करोति कारापयति वा, तदा एवं कृते गृही मुदितो भिक्षां विपुलां यच्छति इति द्विविधोऽपि पिण्डोऽप्यनाचीर्णः। अनेके दोषाः संभवन्ति, यथा-चिकित्साकरणकाले कन्दमूलफलादि जीवबाधा, क्वाथादिकरणे षट्कायविराधना, तप्तायोगोलकसमो गृही प्रगुणीकृतोऽनेकजीवघातं कूर्यात्। तथा यदि दैवयोगाद् चिकित्स्यमानस्याऽपि रोगिणो व्याधेराधिक्यं जायते, तदा कुपितस्तत्पित्रादिभिराकृष्य राजकुलादौ ग्राहयेत्, तथाहारादिलुब्धमानाः चिकित्सादि कुर्वन्तीति प्रवचनमालिन्यं स्यादिति ६

कोहेत्ति क्रोधः कोपस्तद्धेतुकः पिण्डः क्रोधपिण्डः, किमुक्तं भवति ? कस्यचित् साधोः सम्बन्धिनमुच्चाटनमारणशापादिकं विद्याप्रभावं तपःप्रभावं सहस्रयोधित्वादिस्वबलं च राजकुलवल्लभत्वं च ज्ञात्वा शापदानेन वा कस्यचित् मारणाद्यनर्थरूपं क्रोधफलं साक्षादेव दृष्ट्वा भयात् गृहस्थेन यत्तस्मै दीयते स क्रोधपिण्डः। अथवा अन्येभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो दीयमानो याचमानोऽपि साधुर्यदा न लभते तदा अलब्धिमान् सन् कुप्येत् कुपिते च सति तस्मिन् साधुः कुपितो भव्यो न भवतीति यद्दीयते स क्रोधपिण्डः। अथ च सर्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने मुख्यकारणं द्रष्टव्यं, विद्यातपःप्रभृतीनि तु तत् कारणान्येवेति। न विद्यापिण्डादिभिरस्य भिन्नत्वं आशङ्कनीयं क्रोधादिष्वेवान्तर्भावात् इति ७

मानो-गर्वस्तद्हेतुकः पिण्डो मानपिण्डः अयमर्थः-कश्चिद्यतिः कैश्चिदपरैः साधुभिरिति उक्तस्त्वं लब्धिमान् ज्ञास्यसे यद्यद्य भोजयिष्यसि इत्यादि वाक्यैरुत्तेजितो अथवा नन्वयम् किमपि[न]सिद्ध्यति इत्यपमानतो वा गर्वध्मातचेता अथवा लब्धिप्रशंसादिकं परैर्वाच्यमानमाकर्ण्य यत्र कुत्राऽप्यहं व्रजामि तत्र सर्वथाऽपि लभे, तथैव जनो मां प्रशंसति इत्येवं प्रवर्द्धमानमानः कस्याऽपि गृहिणः पार्श्वे गत्वा तं गृहिणं तैस्तैर्वचनजातैर्दानविषयेऽभिमाने च दापयति। स च गृही तथाऽभिमानपरः शेषकलत्रादिके निजे लोके दातुमनिच्छत्यपि यदशनादिकं ददाति स मानपिण्डः ८

मायत्ति माया-परवञ्चनात्मिका बुद्धिस्तया कश्चित् साधुर्मन्त्रयोगाद्युपायकुशलः स्वकीयरूपपरावृत्त्यादि कृत्वा यन्मोदकादिकं उपार्जयति स मायापिण्डः, इयमत्र भावना-कश्चिद्यतिः अद्याऽहं सिंहकेसरादिमोदकादिकं गृहीष्यामीति बुद्ध्या अन्यद् वल्लचणकादिल- ॥२७॥

१ पिं० नि० १३३। २ एतद्भावो पिण्डनिर्युक्तौ ४८१ गाथायां लोभपिण्डे न्यस्तोऽत्र तु मायापिण्डे

भ्यमानमपि यत्र गृह्णाति तन्मायापिण्डः ९

लोभेन सारस्य लांपट्यात् पूर्वं तथाविधबुद्ध्यभावेऽपि यथाभावं प्रचुरं लभ्यमानं लपनश्रीप्रभृतिकं भद्रकरं इति कृत्वा यद्गृह्णाति स लोभपिण्डः, यथा पायसादिलब्धेऽपि खण्डशर्करादि कुतोऽपि लभ्यते तदा शोभनतरमिति रूपो योऽध्यवसायः पर्यटन् सल्लभते स लोभपिण्ड इदं च क्रोधादिकचतुष्टयमपि साधूनां न कल्पते, प्रद्वेषकर्मबन्धप्रवचनलाघवादिदोषसंभवात् १० यथा—

कोहे घेवर खवगो, माणे सेवइय खुड्डओ नायं। मायाइसाढभूइ, लोभे केसरय साहु त्ति ॥१॥

इति पिण्डनिर्युक्तिगतोदाहरणत्वात्। पुव्विं पच्छासंथवोत्ति संस्तवो द्विधा, वचनसंस्तवः सम्बन्धसंस्तवश्च। तत्र वचनं श्लाघा तद्रूपो यः संस्तवो वचनसंस्तवः। सम्बन्धिनो–मात्रादयः स्वस्रादयश्च तद्रूपो यः संस्तवः सम्बन्धसंस्तवः। एकैकोऽपि–द्विधा पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च। तत्र देये लब्धे पूर्वमेव दातारं गुणैर्वर्णयति स पूर्वसंस्तवः। यत्तु लब्धे सति दातारं गुणैर्वर्णयति स पश्चात् संस्तवः। इयमत्र भावना–कश्चिद्यतिर्भिक्षार्थं भ्रमन् कञ्चिदीश्वरगृहं निरीक्ष्य सत्यैरसत्यैरौदार्यादिगुणैः स्तौति पूर्ववार्त्तादिभिर्यादृशा उदारत्वेन संश्रुतास्तादृशा एव दृष्टाः यस्येदृशा गुणाः सर्वत्र प्रस्फुरन्ति इत्यादि संस्तवपूर्वं दानात्। तथा पश्चात् त्वदीयदर्शनेनाऽस्माकं मनोलोचने च शीतले जाते इत्याद्यनेकचाटुवचनानि वक्ति, उभयरूपेऽप्यस्मिन् मायामृषावादाऽसंयमानुमोदनादयो बहवो दोषा भवन्ति सम्बन्धेऽप्येवमेव भाव्यं। तथा असति सम्बन्धे युनक्ति यादृशी तव माता तादृशी ममाऽपि अस्ति तामालोक्याश्रूणि क्षरन्ति, अथवा तव भार्या सदृशी मयाऽपि भार्या भुक्ता, अथवा यादृशास्तव पुत्रास्तादृशाः ममाऽपि सन्ति इत्यादिसम्बन्धो योजयति, अथवा कल्प-

१ क्रोधमानमायालोभपिण्डोपरि दृष्टान्तचतुष्कं पि० नि० पृ० १३३–१३९। २ पिं० नि० पृ० १३९

यति त्वं जननीप्राया ममाऽस्ति भगिनीदुहिताप्राया इत्येवं कृते हि बहवो दोषास्तथा हि-ते गृहिणो यदि भद्रकास्तदा साधौ तत्प्रतिबन्धो भवेत् प्रतिबन्धे च सति आधाकर्म्मादिकं कुर्वंति, अथ प्रान्तास्तर्हि अयमस्माकं स्वस्य कार्पटिकप्रायस्य जनन्यादिकल्पनेनापभ्राजनां विधत्ते, तत् एवं विचिन्त्य निष्काशनादिकं कुर्युः, अश्रुत्याश्रुमोचनादि कुर्वन् मायावी एषोऽस्माकं आवर्जनादिनिमित्तं चाटुकानि करोतीति निन्दा। तथा ममेदृशी माता आसीदिति मृतस्य पुत्रस्य स्थानेऽयं मत्पुत्र इति बुद्ध्या तस्मै स्वस्नुषादिदानं श्वश्रूरीदृशी ममासीदित्युक्ते विधवां कुरण्डां वा निजसुतां दद्यादित्यादयश्च बहवो दोषास्ततः संस्तवपिण्डो यतीनामकल्प्य इति ११

विज्जामंते य त्ति द्वारद्वयं वक्ष्यते तत्र विद्या-प्रज्ञप्त्यादिस्त्रीरुपदेवताधिष्ठिता जपहोमसाध्याक्षरविशेषपद्धतिः, पुरुषरूपदेवताधिष्ठितपाठमात्रसिद्धो वाऽक्षरपद्धतिर्मन्त्रः, तद्व्यापारणेन य उपजीव्यते पिण्डः, दोषाश्चात्र यो विद्यपाऽभिमन्त्रितः सन् दानं दाप्यते स स्वभावस्थो जातः कदाचित् प्रद्विष्टोऽन्यो वा तत्पक्षपाती प्रद्विष्टः सन् प्रतिविद्यया स्तम्भनोच्चाटनमारणादि कुर्यात्, तथा विद्यादिना परद्रोहकरणरूपेण जीवनशीलाश्चैते लोकगर्हा तथा कार्मणकारिण इमे इति राजकुले च राजा ग्रहणाकर्षणवेषपरित्यागजनकदर्थनमारणादीनि कुर्यादित्यादयः १२-१३

चूर्णयोगत्ति द्वारद्वयं चूर्णयोगः अञ्जनयोगश्च, तत्र चूर्णो नयनाञ्जनादि, अन्तर्धानादिफलः योगः पादलेपादि सौभाग्यदौर्भाग्यकरः, एतद्व्यापारणेन यः उपार्ज्यते पिण्डः स चूर्णपिण्डः, योगपिण्डश्च। दोषाश्चात्राऽपि पूर्ववज्ज्ञातव्याः। ननु चूर्णयोगयोर्द्वयोः क्षोदरूपत्वे सति अनयोः परस्परं को विशेषः येन भिन्नतया उक्तः। सत्यं उच्यते-परं कायस्य बहिरुपयोगी चूर्णः अंतश्चोपयोगी

प्रथम संवरद्वारे पिण्डोत्पादनदोषाः

१ पिं० नि० पृ० १४१। २ पिं० नि० पृ० १४३

योग इति। यतोऽसावभ्यवहार्योऽनाहार्यश्च तदा द्विविधो भवेत्तत्र जलपानादिना अभ्यवहार्यः, पादलेपादिनाऽन्यभ्यवहार्यः इति विशेषः १४-१५

मूलकम्मेयत्ति मूलकर्म-अतिगहनभववनस्य मूलं कारणं सावद्यक्रिया मूलकर्म, तत्र गर्भस्थंभन-गर्भाधान-गर्भपात-गर्भशात-उरक्षितयोनित्वकरणादिना उपार्ज्यते पिण्डः स मूलकर्मपिण्डः, अयं च साधूनां न कल्पते सकारणनिष्कारणेऽपि प्रद्वेषप्रवचनमालिन्य-जीवविघाताद्यनेकदोषसंभवात्, तथाहि-गर्भस्तंभन-गर्भशातने च साधुकृते सति प्रद्वेषो भवति। ततः शरीरस्याऽपि नाशः गर्भाधान-वत्तयाऽयोनित्वकरणे यावज्जीवमैथुनप्रवृत्तिः गर्भाधानादिपुत्रोत्पत्तौ इष्टा भवति, क्षतयोनित्वकरणात् पुनर्भोगान्तरायादीनि स्युरिति १६ उक्ताः षोडशाऽप्युत्पादना दोषाः। अथ एषणादोषानाऽऽह—

संकिय १ मक्खिय २ निक्खित्त ३ तत्र शङ्कितमाधाकर्मादिदोषसम्भावितं अत्र चतुर्भङ्गी--ग्रहणे शङ्कितो भोजनेऽपि शङ्कित इति प्रथमः १ ग्रहणे शङ्कितो भोजने न द्वितीयः २ भोजने शङ्कितो न ग्रहणे तृतीयः ३ न ग्रहणेनाऽपि भोजने चतुर्थः ४ तत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु षोडशोद्गमदोषनवैषणारूपाणां पञ्चविंशतिदोषाणां मध्ये येन दोषेणाशङ्कितं भवति तं दोषमाप्नोति, किमुक्तं भवति यदा-धाकर्मत्वेन शङ्कितं गृह्णाति भुङ्क्ते वा तेन दोषेन सम्बध्यते चतुर्थभङ्गे तु वर्तमानः शुद्धो न केनाऽपि दोषेण सम्बध्यत इत्यर्थः। एतेषां चैवं संभवः, यथा कश्चित् साधुः स्वभावतो लज्जावान् क्वाऽपि गृहे भिक्षार्थं गतः, प्रचुरां भिक्षां लभमानो मनसि शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति, एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव भुङ्क्ते इति प्रथमभङ्गवर्ती, तथा कश्चित् साधुभि-

१ पिं० नि० पृ० १४४। २ पिं० नि० पृ० १४७

क्षार्थं गतः तथैव शङ्कितचेताः प्रचुरां भिक्षामादाय स्ववसतिमागत्य भोजनावसरे दोलायमानं तं दृष्ट्वा अपरः साधुर्विज्ञातभिक्षादातृ-गृहव्यतिकरस्तदाशयं ज्ञात्वा भणति भोः साधो ! यत्र या भिक्षा प्राप्ता तस्य गृहे महत्प्रकरणं लाभनकं वा प्रचुरं कुतोऽप्यागतं तत् श्रुत्वा विगतशङ्कस्तद्भुङ्क्ते इति द्वितीयभङ्गवर्त्ती, तथा कश्चित् साधुरिभ्यगृहात् प्रचुरां भिक्षां निशङ्कितो लात्वा वसतावागत्य अन्यान् साधून् वा गुरोः पुरतः स्वभिक्षातुल्यां भिक्षां आलोचयतः श्रुत्वा संजातशङ्कितश्चिन्तयति, यथा यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृशी अन्यैरपि साधुसंघाटकैर्लब्धा तन्मनसाधाकर्मादिदोषदुष्टं भुञ्जानस्तृतीयभङ्गभाक् ॥१॥

मक्खियत्ति म्रक्षितं, पृथिव्यादिना अवगुण्ठितं, तद् द्विधा सचित्तम्रक्षितं अचित्तम्रक्षितं, तत्र सचित्तम्रक्षितं त्रिविधं पृथव्यब्वन-स्पतिकायम्रक्षितं च, तत्र शुष्केण–आर्द्रेण वा पृथ्वीकायेन देयं मात्रकं हस्तो वा यदि म्रक्षितो भवति तदा सचित्तपृथ्वीकायम्रक्षितम् । अप्कायम्रक्षिते चत्वारो भङ्गाः पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धं उदकार्द्रं च, तत्र दाता दानपूर्वं साध्वर्थं कर्म हस्तमात्रादेर्जलप्रक्षालनादि पुरः क्रियते, तत् पूर्वकर्म। यत् पुनर्भक्तादेर्दानात् पश्चात् क्रियते तत् पश्चात्कर्म । सस्निग्धमीषल्लक्ष्यमाणजलखरण्टितं हस्तादि, उदकार्द्रं स्पष्टोपलभ्यमानजलसंसर्गं, तथाभूत[पनस]फलादीनां सद्यः कृतैः श्लक्ष्णखण्डैः खरण्टितं यत् हस्तादि तद्वनस्पतिकायम्रक्षितं, शेषैस्तु तेजःसमीरत्रसकायैर्म्रक्षितं न भवति तेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोके म्रक्षितशब्दप्रवृत्त्यदर्शनात् । अचित्तम्रक्षितं द्विधा गर्हितमगर्हितं च, गर्हितं वसादिना लिप्तं इतरत् घृतादिना, तत्र सचित्तम्रक्षितं न कल्प्यते, अचित्तम्रक्षितं तु लोकनिन्दादिना न ग्राह्यं, घृतादिना म्रक्षितं तु कल्प्यते २

---

१ पिं० नि० पृ० १४९

[1]निक्खित्तेत्ति निक्षिप्तं सचित्तोपरि स्थापितं, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसत्वेन षोढा, पुनरेकैकं द्विधा अनन्तरं परम्परं च, अनन्तरं अव्यवधानेन तत्र सचित्ते मृदादौ यत्पक्वान्नमण्डकादिकं आनन्तर्येण व्यवस्थापितं तदनन्तरनिक्षिप्तं, तदेव नवनीतादि पक्वान्नादि वा जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थितं परम्परनिक्षिप्तं, तथा वह्नौ पर्पटादि यत् प्रक्षिप्यते एतदनन्तरनिक्षिप्तं यत्पुनरग्रे उपरि स्थापिते पिठरादौ क्षिप्तं तत्परम्परनिक्षिप्तं, तथा वातोत्पाटिता शालिपर्पटकादि अनन्तरनिक्षिप्तं यद्येनोत्पाट्यते तत्तत्र निक्षिप्तमुच्यते इति विवक्षया परम्परनिक्षिप्तं तु पवनपूरितदृत्यादि उपरिस्थितमण्डकादि। तत्र वनस्पत्यनन्तरनिक्षिप्तं सचित्तव्रीहिकाफलादिषु अपूपामण्डकादिन्यस्तं, परम्परानिक्षिप्तं तु हरितादीनामेवोपरिस्थितेषु पिठादिषु निक्षिप्ता अपूपादयः। तथा त्रसेऽनन्तरनिक्षिप्ते बलीवर्दादिपृष्ठोपरिस्थितेषु पिठरादिषु अपूपमोदकादयो निक्षिप्ताः, परम्परनिक्षिप्तं तु बलीवर्दादिपृष्ठनिवेशितकुतूपादिभाजनेषु निक्षिप्ता घृतमोदकादय इति। अत्र च पृथिव्यादिषु सर्वेष्वप्यनन्तरनिक्षिप्तं देयवस्तु यतीनामकल्पनीयमेव भवति सचित्तपृथ्वीकायाद्युपरि स्थितत्वेन संघट्टादिदोषसम्भवात्। परम्परनिक्षिप्तं पुनः सचित्तादिसंघट्टादिपरिहारेण यतनया ग्राह्यमपीति।

अथ केवलं तेजस्काये परम्परनिक्षिप्तस्य ग्रहणमाश्रित्य विशेषं प्रतिपाद्यते, यथेक्षुरसः पाकस्थानेऽग्नेरुपरिस्थिते कटाहादौ यदि कटाहः सर्वतः पार्श्वेषु मृत्तिकया अवलिप्तो भवति दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिशाटो नोपजायते सोऽपि च कटाहो विशालमुखो भवति, सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्तो भवति इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति स यदा दीयते तदा कल्पते, इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुः बहिः पतति तर्हि सलेप एवाऽऽवर्त्तते। ननु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति ततो मृत्तिकयावलिप्त इत्युक्तं, तथा विशा-

१ पिं० नि० पृ० १५०.

रुमुखाद[दा]कृष्यमाणउदञ्चनपिठरस्य कर्णे न लगति ततः पिठरस्य न भङ्ग इति[न], तेजस्कायविराधनेन गृह्यते, अत्युष्णे च आत्मविराधनादयो दोषाः तथा च षट्कायविराधनेति संयमविराधना चेति ३ ।

'पिहियत्ति पिहितं सचित्तेन स्थगितं तदपि षोढा पूर्ववत्, एकैकमपि द्विधा अनन्तरं परम्परं च पूर्ववद्भावनीयम् । तथाऽपि लिख्यते—

सचित्तपृथिवीकायेनाऽवष्टब्धं मण्डकादिसचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहितं पृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितं सचित्तपृथिवीकायपरम्परपिहितं, तथाऽदि-हिमादिनाऽवष्टब्धं मण्डकादिसचित्ताप्कायाऽनन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताऽप्कायपरम्परापिहितं, तथा स्थाल्यादौ संस्वेदिमादीनां मध्येऽङ्गारं स्थापयित्वा हिङ्ग्वादि वासो यदा दीयते तदा तेनाऽङ्गारकेण केषाञ्चित् संस्वेदिमादीनां संस्पर्शोऽस्तीति तेजस्कायानन्तरपिहितं चनकादिकमपि मुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितं ज्ञातव्यं, अङ्गारभृतेन शरावादिना वा स्थगितं पिठरादि परम्परपिहितं तथा तत्रैवाऽङ्गारधूपितादौ अव्यवहितमनन्तरपिहितं तथैव वायौ द्रष्टव्यं, यत्राऽग्निस्तत्रवायुरिति वाक्यात् समीरणभृतेन तु बस्तिना पिहितं परम्परपिहितं तथा फलादिना अतिरोहितेन पिहितं वनस्पत्यनन्तरपिहितं फलभृतेन [छब्बपिठरादौ छब्बकस्थाल्यादौ स्थितेन फलेन] ब्बकादिना पिहितं परम्परपिहितमपीति तथा मण्डकमोदकादिकमुपरि सञ्चरत् पिपीलिकापङ्क्तिं त्रसाऽनन्तरपीहितं कीटिकाद्याक्रान्तशरावादिना पिहितं त्रसपरम्परपिहितं, तत्र च पृथिवीकायादिभिरनन्तरपिहितं न कल्पत एव यतीनां संघट्टादिदोषसम्भवात्, परम्परया पिहितं तु यतनया ग्राह्यमपीति, तथाऽचित्तेनाऽप्यचित्ते देयवस्तुनि पिहिते चतुर्भङ्गी

प्रथम संवरद्वारे एषणा दोषाः

१ पिं० नि० गृ० १५४

यथा–गुरुकेण गुरुकं पिहितं १, गुरुकं लघुकेन २ लघुकं गुरुकेन ३ लघुकं लघुकेन ४। तत्र प्रथमतृतीयभङ्गयोरग्राह्यं गुरुद्रव्यस्योत्पाटने हि कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्गसम्भवात्, द्वितीयचतुर्थयोस्तु ग्राह्यं, उक्तदोषाऽभावात् देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि ततः करोटिकादिना दोषाऽसम्भवात् ४।

संहारियत्ति–संहृतं अन्यत्र प्रक्षिप्तं यत्र येन करोटिकादिना कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छती दात्री तत्राऽन्यत्र दातव्यं किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वा क्षिप्तं ततस्तद् देयमपि अन्यत्र स्थानान्तरे क्षिप्त्वा तेन ददाति एतत् संहृतमुच्यते। तच्च देयं कदाचित् सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु ततो मिश्रस्य सचित्तेऽन्तर्भावात्, सचित्ताचित्तपदाभ्यां चतुर्भङ्गी यथा सचित्ते सचित्तसंहृतं १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तं ३ अचित्ते अचित्तं ४ तत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु सचित्तसंघट्टादिदोषसंभवात् न ग्राह्यं। चतुर्थभङ्गे तु तथाविधदोषाभावे सति कल्पते। अत्राऽप्यनन्तरपरम्परप्ररूपणा पूर्ववत् कर्त्तव्या। यथा–सचित्तपृथिवीमध्ये यदा संहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकायसंहृतं, यदा तु सचित्तपृथ्वीथिकायस्योपरिस्थिते पिठरादौ संहरति तदा परंपरसचित्तपृथिवीकायसंहृतं एवमप्कायादिष्वपि भावनीयं, अनन्तरसंहृते न ग्राह्यं परंपरसंहृते तु सचित्तपृथिवीकायाद्यसंघट्टने ग्राह्यमिति ५

दायगत्ति दायकदोषदुष्टं दायकश्चानेकप्रकारः तथाहि स्थविरः, अप्रभुः, पंडकः, कम्पमानकायः, ज्वरितः, अंधो, बालो, मत्तः, उन्मत्तः, छिन्नकरः, छिन्नचरणो, गलत्कुष्टो, बद्धः, पादुकारूढः, कण्डयन्ती, पेषयन्ती, भर्ज्जमाना कृतं लोठयन्ती, पंजयन्ती, दलयन्ती, विरोलयन्ती, भुञ्जाना, आपन्नसत्त्वा, बालवत्सा, षट्कायान् संघट्टयन्ती, तानेव विनाशयन्ती, सप्रत्यपाया चेति, तत एव-

---

पिं० नि० पृ० १६६। २ पिण्डनिर्युक्तिगत ५७२–५७७ गाथासु बाले वुड्ढे...वज्जणिज्जाए यावत् दायकदोषस्य चत्वारिंशद् भेदाः वर्णिताः

मादिस्वरूपे दातरि ददति न कल्पते

तत्र स्थविरः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरे षष्टिवर्षाणामुपरिवर्त्ती स च प्रायो गलल्लालो भवति ततो देयमपि वस्तु गलल्लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा अप्रभुः गृहस्य अस्वामी अन्येन केनाऽपि दीयमानं न कल्पते, धनिकस्याऽभिप्रायाऽज्ञातत्वादिना द्वेषः स्यात्, तथा धनिकेन दत्ताज्ञस्तदा कल्पतेऽपीति । तथा कम्पमानहस्तश्च भवति, तद्धस्तकम्पनवशाद्देयं वस्तु भूमौ निपतति, तत्र षट्जीवनिकायविराधना । तथा च प्रायो स्थविरो गृहस्य अप्रभुर्भवति ततस्तेन दीयमाने कोऽस्याऽधिकारो वृद्धस्येति गृहस्वामिनियुक्तान्यस्य प्रद्वेषः स्यादिति, तथा स्वरूपेण दृढशरीरो भवति स्वयं अधिकारी भवति, तदा दीयमानं कल्पतेऽपीति । तथा नपुंसकादभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयात्तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा वेदोदयो भवेत्, ततो नपुंसकस्य साध्वाद्यालिङ्गनाद्यासेवनेनोभयस्याऽपि कर्मबन्धः, तथा एते अहो नपुंसकादपि निष्कृष्टाः गृह्णंति इति जननिन्दा भवेत् ततो न ग्राह्यं अपवादतस्तु वर्द्धितकचिप्पिनकमन्त्रोपहतऋषिशप्तदेवशप्तादिषु केषुचिदप्रतिसेवितेषु नपुंसकेषु ददत्सु गृह्यतेऽपीति । तथा कम्पमानकायोऽपि भिक्षादानसमये देयं समानयन् भूमौ परिशाटयेत्, तथा साधुभाजनाद्बहिर्भिक्षा क्षपयेत्, देयपात्रकं वा पातनेन स्फोटयेत् ततो न कल्पते, सोऽपि यदि दृढभिक्षाभाजनग्राही भवेत् पुत्रादिभिर्दृढहस्तो भिक्षां दाप्यते तदा कल्पतेऽपीति । एवं ज्वरितेऽपि दोषाः भावनीयाः किञ्चिज्ज्वरिताद्भिक्षाग्रहणे ज्वरसंक्रमणमपि साधोर्भवेत् तथा जने उड्डाहो यतोऽमी आहारलम्पटा ज्वरपीडितादपि गृह्णन्ति, यदि असंचरिष्णुज्वरो भवेत् तदा गृह्यतेऽपीति । तथा अन्धात् भिक्षाग्रहणे उड्डाहः यदमी औदरिका भिक्षां दातुमशक्नुवतोऽपि भिक्षां गृह्णन्तीति, तथाऽपश्यन् पद्भ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधाति इत्यादयो दोषाः, अथ स यदि पुत्रादीनां धृतहस्तो भवति तदा गृह्यतेऽपीति ।

तथा बालो जन्मतोऽष्टवर्षाभ्यन्तरवर्त्ती तस्मिन् दीयमाने न कल्पते, मात्रायसमक्षं यदाऽऽदत्ते तदा एते लुण्टाका इव दृश्यन्ते साधवः, सद्वृत्ता न इति जनापवादः, मात्रादीनां च व्रतिनामुपरि विद्वेषः स्यादतो न ग्राह्यं, यदि मात्रादिभिः कार्यवशादन्यत्र गच्छद्भि-र्बालकस्य कथितं भवेदेतत् त्वया गृहागतानां साधूनां देयमिति ततो गृह्यतेऽपीति कलहादेरभावादिति। तथा च मत्तः पीतमदिरादि-भिस्स च भिक्षां ददन् मत्ततया साधोरालिङ्गनं ददाति, भाजनं वा भिनत्ति कश्चिद्ददन् आसवं वमति, वमन् साधुपात्रं खरण्टयति, ततो लोकगर्हा 'धिगमी अशुचयो ये मत्तादपि गृह्णन्ति, कोऽपि मत्तो जल्पति वा रे मुण्ड ! किमत्रायातस्त्वमिति ब्रुवन् घातमपि करोति, ततो न कल्पते, यदि तस्य पार्श्वे कश्चिद्भवति तदपरोद्धा तदा कल्पतेऽपीति। तथा उन्मत्तो दृप्तो ग्रहग्रहीतो वा तस्मिन्नप्येते एव वमनवर्ज्जा दोषा भावनीयाः, तथा मत्तोऽपि यदि भद्रकोऽलक्ष्यमदश्च भवति तथा उन्मत्तोऽपि यदि शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा कल्पत इति। तथा च्छिन्नकरो मूत्राद्युत्सर्गादौ जलशौचाभावात् अशुचिरेव तेन च दीयमानं ग्रहणे जनगर्हा इत्यादयो दोषाः, परि-शाटिहस्तात्पतने षड्जीवघातः पात्रस्फोटनादयो भाव्याः। च्छिन्नचरणेऽप्येत एव भाव्याः केवलं पादाभावात् तस्य भिक्षादानाय चलतः प्रायो नियमतः पतनं भवेत्, तथा सति भूम्याश्रितपिपीलिकाप्रभृति प्राणीविनाशः तथा च्छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाऽभावे ददाति तदा यतनया गृह्यतेऽपीति। च्छिन्नचरणोऽपि यदि उपविष्टो ददाति असागारिकं च स्थानं भवेत् तदा गृह्यते। तथा गलत्कु-ष्ठीपुरुषाद्गृह्यमाणेऽपि तदीयोच्छ्वासत्वक्संस्पर्श–अर्धपक्वरुधिरस्वेदमललालादिभिः साधोः कुष्टसंक्रमो भवेत् , सोऽपि चेन्मण्डलप्रसृति-रूपकुष्टकीर्णकायः सन् सागारिकाभावे यदा ददाति तदा कल्पते न शेषकुष्ठिनः सागारिके वा पश्यति। तत्र मण्डलानि वृत्ताकारदद्रु-विशेषरूपाणि प्रसृतिर्नखविदारणेऽपि चेतनायाः ससंवेदनं[असंवित्तिः] भवति। तथा करविषयकाष्ठमयबन्धनरूपेण हस्तांदुना पादविष-

यलोहबन्धनरूपेण निगडेन च बद्धे दातरि भिक्षा प्रयच्छति दुःखं तस्य स्यात्, तथा मूत्राद्युत्सर्गादौ शौचाऽभावात् ततो भिक्षाग्रहणे लोकजुगुप्सा ततो न ग्राह्यं, यदा पादबद्धहीनस्ततश्च पीडामन्तरेण गन्तुं शक्तस्तदा ग्रहीतुं कल्पतेऽपीति, बद्धोऽपि यदोपविष्टः सन् दत्ते सागारिको न पश्यति तदा ग्राह्यमपीति बन्धस्तु प्रतिषेध एव न भजना। तथा पादुकयोः काष्ठमयोपानहोरारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद् दुःस्थितत्वेन पतनं स्यात् अतो न ग्राह्यं, अथ पादुकारूढोऽपि यद्यचलो भवति तदा कारणे कल्पते। तथा कण्डयन्त्या उदूखले तंदुलादिकं छण्टयन्त्या न गृह्यते यतः सा उदूखलक्षिप्तशाल्यादि बीजसंघट्टादि करोति, तथा दानात् पूर्वं पश्चाद्वा जलेन हस्तधावनादि दोषं वा विदध्यात् ततो न ग्राह्यं, अत्राऽपि अपवादतः कण्डनायोत्पाटितं मुशलं न च तस्मिन् मुशले काञ्च्यां बीजलग्नमस्ति अत्राऽवसरे समायातः साधुस्ततो यदि सा पतनाद्यनर्थरहिते गृहकोणादौ मुशलं स्थापयित्वा ददाति तदा कल्पतेऽपीति। तथा पिंषन्ती शिलायां तिलामलकादि प्रमृद्नन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्नखिका सचित्ता अपि हस्तादौ लगिताः संभवन्ति ततो भिक्षादानाय हस्तादि प्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासंपर्कतस्तासां विराधना भवति पूर्वकर्मपश्चात्कर्मादयोऽपि अप्कायविराधना संभवति, अतो नैव (कल्पते), एषाऽपि पेषणसमाप्तौ प्रासुकं वा पिंषती यदि ददाति तदा कल्पते। तथा भर्ज्यमाना चुल्लया कडिल्लकादौ चनकादीन् स्फेटयती तस्यां भिक्षां ददत्यां वेलालगनेन कडिल्लकक्षिप्तगोधूमचणकादीनां दाहे सति प्रद्वेषादयो दोषा स्युः। अत्राऽपि यत् सचित्तं गोधूमादि कडिल्लके क्षिप्तं तत् प्रष्टोत्तारितमन्यच्च नाद्यापि करे गृहीतमस्मिन्नवसरे आयातः—साधुरागतः ततो यदि उत्थाय ददाति तदा कल्पते। तथा कृंतत्यां वस्त्रेण रूतपोणिकां—सूत्ररूपां कुर्वन्त्यां तथा लोठयन्त्यां—लोढत्यां कर्पासः कणकेन रूततया विदधत्यां तथा विक्षुवत्यां रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वन्त्यां तथा ॥२२॥

पिञ्जयन्त्यां पिञ्जनेन रूतं विरलं कुर्वन्त्यां न गृह्यते। देयलिप्तहस्तधावनादि पश्चात्कर्मादयो दोषाः। कार्पासकादिसचित्तसंघट्टसंभवो भवति, इह च कर्त्तने यदि सूत्रस्य श्वेततातिशयोत्पादनाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ न खरण्टयति खरण्टनेऽपि यदि जलेन न प्रक्षालयति तदा कल्पते, लोठनेऽपि यदि हस्ते धृतः कर्पासो न स्यात् कार्पासिकाद्वा यदि उत्तिष्ठती न घट्टयति तदा गृह्यते, विक्षुवत्यां पिञ्ज-यन्त्यां च यदि पश्चात्कर्म न भवति तदा कल्पतेऽपीति। तथा दलयन्ती घरट्टेन गोधूमादि चूर्णयन्त्यां-हि दलयन्त्यां घरट्टक्षिप्तबी-जसंघट्टहस्तधावने जलविराधना वा दलयंत्यपि सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती। अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यदि उत्तिष्ठति अचेतनं वा भ्रष्टमुद्गादिकं दलयती तर्हि तद्धस्तात् कल्पते ५. तथा विरोलयन्ती दध्यादि मथ्नाति यदि दध्यादि संसक्तं मथ्नाति तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्तकरत्वात् भिक्षां ददती तेषां रसजीवानां वधं विदध्यात्, अत्राऽपि चेदं असंसक्तं दध्यादि मथ्नाति तदा कल्पते। तथा भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थं आचमनं करोत्याचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते, अथ न करोत्या-चमनं तर्हि लोके जुगुप्सा उक्तं च—

छक्कायदयावन्तोऽपि संजओ दुल्लहं कुणइ बोहिं। आहारे नीहारे दुगंछिए पिंडगहणे य ॥१॥

तथा आपन्नसत्त्वायां भिक्षां ददत्यां न ग्राह्यं, यतस्तस्या दानार्थमुर्ध्वीभवन्त्या गर्भबाधा भवेत्, तत्राऽपि स्थविरकल्पिकानां मासाष्टकं यावत् तत्करणे कल्पते वेलामासे न कल्पते। अथ च यथोपविश्यतया वेलामासे दीयते तदा गृह्यते।

तथा बालवत्सा-बालकं भूमौ मञ्चिकादौ वा यदि स्थाप्य भिक्षां ददाति तर्हि बालकं तं मार्जारसारमेयादयो मांसखण्डं शश-

कश्चिच्छुरिवाऽऽकृष्य विनाशयेयुः, तथा आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ कर्कशौ भवतस्ततो भिक्षां दत्त्वा पुनर्दात्र्या हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा स्यात्, अथ च यस्या बालको आहारे लगति भूमौ मुक्तः सन् न रोदिति तर्हि तस्या हस्तात् कल्पतेऽपीति, स्थविरकल्पिकानां, तथा आहारं गृह्णन् बालः प्रायः शरीरेण पुष्टो भवति ततस्तं मार्जारादयः पीडां [न] कुर्वन्ति, ये तु जिनकल्पिका भगवन्तस्ते निरपवादत्वात् श्रुतबलेन गर्भाधानादि ज्ञात्वा मूलत एव आपन्नसत्त्वां सबालवत्सां च सर्वथा परिहरन्तीति ।

तथा षट्कायान्-पृथव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपान् संघट्टयन्ती हस्तपादाभ्यां शरीरावयवेन स्पृशती तानेव षट्कायान् व्यापादयन्ती स्वभावतो वा संयतं प्रेक्ष्य यदि ददाति तदा तद्धस्तात् ग्रहीतुं न कल्पते ।

तथा सप्रत्यपाया-सम्भाव्यमानविघातस्तत्र अपायास्त्रिधा तद्यथा तिर्यगुर्ध्वमधश्च, तत्र तिर्यग् गवादिभ्यः, ऊर्ध्वं उत्तरंगकाष्ठादेः, अधः सर्पकण्टकादेः, इत्थं त्रिविधानामपायानामन्यतममपायं बुद्ध्या सम्भावयन् न ततो भिक्षां गृह्णीयादिति। अथ षट्कायं संघट्टयन्त्यां सप्रत्यवायायां नापवादः सर्वथा न कल्पत एव, शेषेषु तु पुनरपवादो दर्शितः । तथा क्षिपती यतीन् दृष्ट्वा साधुदानोद्यता षट्कायान् भूमौ क्षिपति-भूमौ मुञ्चति, तथा साधारणं-बाह्वायत्तं वा स्वयं ददती, चोरिकया गृहीतं वा ददती, तथा परकीयं ददती, परार्थं कार्पटिकादीनां कल्पितं तदेव ददती, तथा या स्त्री साधुदानोद्यता स्वाभीतः स्थापयती बलीरग्रकूरं, तथा उद्वर्त्तयती नमयन्ती पिठरादिस्थाल्यादि, अत्र च कण्डूयन्तीत्यारभ्य सर्वाणि विशेषणानि स्त्रीमुख्यत्वादुक्तानि, पुरुषेष्वपि भावनीयानीति, अत्राऽपवादोऽपि तथाविधदौर्लभ्यद्रव्ये सातिशयज्ञानपूर्वकत्वात् ग्राह्यमपीति, प्रायः दायकदोषाश्चत्वारिंशदुक्ताः एवमन्येऽपि दायकदोषाः स्वयं शास्त्रान्त- ॥३३॥

रतश्च परिभाव्य परिहर्त्तव्याः ६ पद्यः ।

उंम्मीसत्ति उन्मिश्रं–सचित्तसंमिश्रं–इह कश्चित् गृहस्थः केवलं वस्तु इदं व्रतिने वितीर्यमाणमल्पं स्यादिति लज्जया पृथग्वस्तुद्वयदाने वेला लगति इत्यौत्सुक्येन मिलितं वस्तुद्वयं मिश्रं भवतीति भक्त्या तथा सचित्तभक्षणभङ्गो भवत्वेतेषां इति प्रत्यनीकतया, अनाभोगेन वा साधूनां कल्पनीयतया उचितपूरणादिकं अकल्पनीयतया मुनीनामनुचितेन करमन्दकदाडिमकुलिकादिना मिश्रयित्वा यद् ददाति तन्मिश्रम् । अत्र च कल्पनीयाऽकल्पनीये द्वे अपि वस्तुनी मिश्रयित्वा यद् ददाति तदुन्मिश्रं, संहरणं तु यद्भाजनमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वाऽपि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति तदुन्मिश्रसंहृतयोर्भेदः ७ ।

अपरिणयत्ति अपरिणतं–अप्रासुकीभूतं तद्–ओघतो द्विधा द्रव्यतो भावतश्च पुनरेकैकं द्विधा दातृविषयं गृहीविषयं च । तत्र द्रव्यरूपमपरिणतं यत् पृथिवीकायादिकं स्वरूपेण सजीवं । यत्पुनर्जीवेन विप्रमुक्तं तत्परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सत्तायां वर्त्तते तदा दातृविषयं, यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतृविषयं, तथा द्वयोर्बहूनां वा साधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवं भावः परिणमति न शेषाणामेतद्भावतो दातृविषयं अपरिणतं साधारणाऽनिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं दायकसमक्षत्वेत्वनयोर्भेदः । तथा द्वयोः साध्वोः संघाटकरूपेण भिक्षार्थं गृहं गतयोरेकस्य साधोरेतल्लभ्यमानमशनादिकं शुद्धमिति मनसि परिणतं तद् द्वितीयस्य गृहीतृविषयभावापरिणतं, एतच्च साधूनां न कल्पते शङ्कितत्वात् कलहादिदोषसम्भवाच्च ८ ।

१ अत्र उन्मिश्रदोषवर्णने पिण्डनिर्युक्तिगाथा ५९६ वृत्तौ वर्णिताभोगानाभोगवर्णनं सङ्कीर्णं जातं प्रतिभाति
२ पिं० नि० पृ० १६५-१६७ यावत् वर्णनम्

[1]लित्तत्ति–हस्तपात्रादिलेपचारित्वात् लिप्तं दुग्धदधितेमनादि तत्पुनरुत्सर्गतः साधूनां न ग्राह्यं, रसाभ्यवहारलाम्पट्यवृद्धिप्रसङ्गात्, दध्याधिलिप्तहस्तप्रक्षालनादिरूपपश्चात्कर्माद्यनेकदोषसद्भावाच्च किन्तु अलेपकृदेव वल्लचनकौदनादिकं, तथाविधशक्त्यभावे च निरन्तरस्वाध्यायाध्ययनादिकमपि पुष्टकारणमाश्रित्य लेपकृदपि कल्पते। तत्र च लेपकृति ग्राह्यमाणे दातुः सम्बन्धी हस्तः संसृष्टो असंसृष्टो वा भवति, येन च कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रकं करोटिकादिकं संसृष्टं [असंसृष्टं] वा द्रव्यमपि देयं सावशेषं निरवशेषं वा, एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तसंसृष्टपात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परसंयोगेनाऽष्टौ भेदा भवन्ति, ते चाऽमी संसृष्ट हस्तः संसृष्टपात्रं सावशेषं द्रव्यं १ संसृष्टहस्तः संसृष्टपात्रं निरवशेषं द्रव्यं २। संसृष्टो हस्तो असंसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं ३ संसृष्टो हस्तो असंसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं ५ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६ असंसृष्टो हस्तो असंसृष्टं पात्रं सावशेषं द्रव्यं ७ असंसृष्टो हस्तो असंसृष्टं पात्रं निरवशेषं द्रव्यं ८।

एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणं कर्त्तव्यं न समेषु–द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमेषु नैव ग्रहणं, इयमत्र भावना–इह च हस्तो पात्रं वा द्वे स्वयोगेन संसृष्टे वा भवेतां, असंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म सम्भवति, किं तर्हि ? द्रव्यावशेषेण। तथाहि–यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्र ते साध्वर्थं खरण्टितेऽपि न दात्री प्रक्षालयति, भूयोऽपि परिवेषणसम्भवात्। यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद् द्रव्याधारस्थालं हस्तं पात्रं वा प्रक्षालयति ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसम्भवान्न कल्पते। प्रथमादिषु पश्चात्कर्म असम्भवात् कल्पते इति ९।

१ एतद्वर्णनं पि० नि० गाथा ६२६ वृत्तौ

उद्गमदोषमूल भेदनामानि	उत्तर भेदाः	उद्गमदोषमूलं भेदनामानि	उत्तर भेदाः	उत्पादनादोष मूलभेदनामानि	उत्तर भेदाः	उत्पादनदोष-मूलभेदनामानि	उत्तर भेदाः	पपणादोष मूलभेद नामानि	उत्तर भेदाः	
१ आधाकर्म	४	१० परावर्चितं	६	१ धात्रीदोषः	५	१० लोभ	१	१ शङ्कितं	४	उद्गम सर्वभेदाः ६३
२ औद्देशिकं	१२	११ अभिहृतं	६	२ दूती	२	११ पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवः	४	२ म्रक्षितं	७	
३ पूतिकर्म	१	१२ उद्भिन्नं	२	३ निमित्तम्	३	१२ विद्या	१	३ निक्षिप्तं	१२	उत्पादन सर्वभेदाः ४०
४ मिश्रदोष	३	१३ मालापहृतं	४	४ आजीविका	१०	१३ मन्त्र	१	४ पिहितं	१२	
५ स्थापना	४	१४ आच्छेद्यं	३	५ वनीपकः	१	१४ चूर्ण	१	५ संहृतं	८	पषणा सर्वभेदाः १०१
६ प्राभृतिका	४	१५ अनिःसृष्टं	३	६ चिकित्सा	२	१५ योग	१	६ दायक	४०	सर्वाग्रं २०४
७ प्रादुष्करणं	२	१६ अध्यवपूरकः	३	७ क्रोध	१	१६ मूल	५	७ उन्मिश्रित	३	
८ क्रीतं	४	सर्वभेदाः १६	६३	८ मान	१	सर्वभेदाः १६	४०	८ अपरिणत	४	
९ अपमित्यम्	२			९ माया	१			९ लिप्त	८	
								१० छर्दित	३	
								सर्वभेदाः १०	१०१	

छर्दि[1]तमिति–छर्दितं–उज्झितं त्यक्तमिति पर्यायः तच्च त्रिधा सचित्तं अचित्तं मिश्रं, तदपि कदाचित् छाद्यते[छर्द्यते] सचित्तमध्ये, कदाचिदचित्तमध्ये, कदाचिन्मिश्रमध्ये, तत्र उभयत्राऽपि मिश्रस्य सचित्त एवान्तर्भवति। छर्द[2]ते सचित्ताचित्तद्रव्ययोराधारभूतयोराधेयभूतयोश्च संयोगतश्चतुर्भङ्गी तद्यथा सचित्ते सचित्तं १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तं ३ अचित्ते अचित्तं ४ अत्र चाद्येषु त्रिषु भङ्गेषु सचित्तसंघट्टादिदोषसंभवात् न कल्पते चरमे पुनः पारिशाटिसद्भावात् न कल्पते परिशाटौ च महान् दोषः तथाहि–

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने भिक्षां ददमानो दह्यते भूम्याश्रितानां च पृथिव्यादीनां दाहः स्यात्, शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने च भूम्याश्रिताः पृथिव्यादयो विराध्यन्ते, भूमिपतिते च मधु[3]बिन्दूदाहरणं

यथा कश्चिद्धर्मघोषाख्यमन्त्री गृहीतव्रतो विहरन् वास्तकपुरे जगाम, तत्र वास्तकमन्त्रिगृहे भिक्षार्थं गतो, दीयमानमधुघृतान्वितपायसादधोमुखमधुबिन्दुपातदर्शनात् दोषमन्वेष्य निर्गतः। तच्च गवाक्षस्थो वास्तको विलोक्य कुतो भिक्षा न गृहीता इति यावच्चिन्तयति तावत्तत्र भूपतितमधुबिन्दुके मक्षिका [तद्] योगाद्गृहकोकिला तद्योगात् सरटस्ततो मार्जारस्तं प्रति प्राघुर्णकः श्वा धावितः तदनुवास्तव्यः श्वास्तयोः कलहे तत्स्वामिनो विरोधादन्योन्यसंग्रामोऽभूत्। ततो वास्तकेन चिन्तितं अहो अनेनैव कारणेन मुनिना भिक्षा न जगृहे। धन्यः स इति भावयोगात् जातजातिस्मृतिः देवतार्पितसाधूपकरणः स्वयंबुद्धो जात इति संक्षेपार्थः।

उ[4]क्तास्तावत् संक्षेपतो द्विचत्वारिंशद् दोषाः सप्रभेदाश्चतुरधिका द्विशती विस्तरार्थिना तु पिण्डनिर्युक्तिवृत्तितः सोदाहरणा अवग-

१ पिं० नि० गाथा ६२७ वृत्तौ॥ २ पिं० नि० पृ० १६९ तमे 'छर्दने सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च'। ३ एतदुदाहरणं पिं० नि० ६२८ गाथा वृत्तौ वर्त्तते॥ ४ पिं० नि० पृष्ठ ३४–१६९ यावत् सर्वं पिण्डदोषवर्णनम्

न्त्वा अत्र तु सुखावबोधार्थं लेशमात्रतो व्याख्याताः।

अथैतेषामविशोधिविशोधिकोटिविवेचनार्थमाह–सर्वा अपि पिण्डैषणा नवसु कोटिषु विभागे अवतरन्ति ता एवाऽऽह न स्वयं हन्ति, न स्वयं क्रीणाति न च पचतीति त्रयं, एवं कार[ाप]णानुमतिभ्यामपि यथा नाऽन्येन घातयति न क्रीणापयति न पाचयति तथा नाऽपरेण हन्यमानं क्रीयमाणं पच्यमानमनुमोदते मीलिताश्चैता नवकोटयः एभिर्नवभिः पदैः पिण्डविशुद्धिः सर्वाऽपि संगृह्यते इति भावार्थः। इह पूर्वं षोडशविध उद्गमदोष उक्तः स च सामान्यतो द्विधा भवति तद्यथा–विशोधिकोटिरूपः अविशोधिकोटिरूपश्च, तत्र यद् दोषदुष्टे भक्ते तावन्मात्रेऽपनीते सति शेषं कल्पते स दोषो विशोधिकोटिः शेषस्त्वविशोधिकोटिः। तत्र ये दोषा अविशोधिकोटिरूपा ये च विशोधिकोटिरूपास्तानाह–

तत्र आधाकर्म सप्रभेदं, उद्देशिकस्य विभागौद्देशिकस्य चरमत्रिकं कर्मभेदसक्तमन्त्यमेव भेदत्रयं, पुतिर्भक्तपानरूपा, मीसत्ति मिश्रजातं पाखण्डिगृहमिश्रं साधुगृहमिश्रं, चरमा अन्त्या बादरा इत्यर्थः[र्था] प्राभृतिका, अध्यवपूरस्य स्वगृहपाखण्डिमिश्रं स्वगृहसाधुमिश्ररूपमन्त्यद्वयं एते उद्गमदोषा अविशोधिकोट्यः। अस्यां चाऽविशोधिकोट्यावयवेन शुष्कसिक्थादिना तथा भक्तादिना लेपेन वल्लकचणकादिना अलेपेन संस्पृष्टं यदशुद्धभक्तं तस्मिन् उज्झितेऽपि यत् अकृतकल्पत्रये पात्रे शुद्धमपि भक्तं पश्चात् परिगृह्यते तत्पूतितरमवगन्तव्यं। शेषा ओघौद्देशिकं नवविधमपि च विभागौद्देशिकमुपकरणपूतिर्मिश्रस्याद्यो भेदः। स्थापना सूक्ष्मप्राभृतिका प्रादुष्करणं

१ पिण्डनिर्युक्ति पृष्ठ ११६ तो पृष्ठ ११९ यावत् कोटिवर्णनं
२ पिण्डनिर्युक्ति पृष्ठ ११६ तमे ३९३-३९४-३९५ गाथावृत्तौ सविशेषवर्णनं

घवगपसुपघायिपच्चत्तदेहं च फासुयं च न निसज्जकहापओयणक्खासुओवणीयंति न तिगिच्छामंतमूलभेस-

क्रीतं प्रामित्यकं परिवर्त्तनं अभ्याहृतं उद्भिघं मालापहृतं आच्छेद्यमनिसृष्टः मध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेत्येवंरूपा विशोधिकोटिः। विशुद्ध्य-ति शेषं शुद्धभक्तं यस्मिन् उद्धृते यद्वा विशुद्ध्यति पात्रमकृतकल्पत्रयमपि यस्मिन्नुज्झिते सा विशोधिकोटिः उक्तं च

'उद्देसियंमि नवगं उवगरणे जं च पूइयं होइ। जावंति य मीसगयं, अज्झोयरए य पढमपदं ॥१॥

परियट्टिए अभिहडे, उब्भिन्ने मालो हडे इय। अच्छिज्जे अणिसिट्ठे पाउयर कीयपामिच्चे॥२॥

सुहुमा पाहुडिया विय, वियग[ट्ठविय]पिंडो य जो भवे दुविहो। सव्वोवि एस रासी, विसोही कोडी मुणेयव्वा ॥

इह च भिक्षामटता पूर्वं पात्रे शुद्धभक्तं गृहीतं, ततस्तत्रैवाऽनाभोगादिकारणवशात् विशोधिकोटिदोपदुष्टगृहीतं कथमपि ज्ञातं, तथैव-द्विशोधिकोटिदोपदुष्टं मया गृहीतं, ततो यदि तेन विनाऽपि निर्वहति तर्हि सकलमपि तद्विधिना परिष्ठापयति। अथ न निर्वहति ततो यदेव विशोधिकोटिदोपदुष्टं तदेव तावन्मात्रं परिज्ञाप परित्यजति। यदि पुनरलक्षितेन सदृग्वर्णगंधादितया पृथग् परिज्ञातुमशक्येन मिश्रं भवति, यथा द्रवेण तक्रादिना तदा सर्वस्याऽपि तस्य विवेकः, कृते च सर्वात्मना विवेके यद्यपि केचित् सूक्ष्मावयवा लगिता भव-न्ति तथापि पात्रे अकृतकल्पेऽपि अन्यत् परिगृह्णन् शुद्धसाधुरेपणीयभोजीति[त्यक्त]भक्तादेर्विशोधिकोटित्वादिति अलं प्रसङ्गेन, एवमन्य-मनुक्ताऽपि शय्यातरपिण्डराजपिण्ड–अग्रपिण्ड कान्तार–दुर्भिक्ष–भक्ताद्यनेकदोषाः शास्त्रान्तरादवसेयाः। अथ सूत्रप्रस्तुतं लिखामः।

व्यपगताः पृथग्भूताः देयवस्तुसंभवा आगन्तुका वा कृम्यादयः च्युताः मृताः परतो वा देयवस्तु–आश्रिताः पृथिवीकायि-

पिण्डनिर्युक्ति पृष्ठ ११७ तमे ३९५ गाथावृत्तौ तिस्रो गाथाः

ञकज्झहेउं, न लक्खणुप्पायसुमिणजोइसनिमित्तकहकप्पउत्तं, नवि डंभणाए, नवि रक्खणाते, नवि सासणाते, नवि दंभणरक्खणसासणाते भिक्खं गवेसियव्वं, नवि वंदणाते, नवि माणणाते, नवि पूयणाते, नवि वंदणमाण-

कादयो वा। चइयत्ति [चावियत्ति] त्याजिता वा देयद्रव्यात् पृथक्कारिता दायकेन चत्तत्ति स्वयमेव वा पृथग्भूता देहा यस्मात् उञ्छात् तत्तथा। प्राशुकश्च प्रगतप्राणिकः व्यपगतचेतनापर्यायः तादृशं शुद्धं सदपि कथं लब्धं तदाऽऽह—न-निषेधे निषद्य—गोचरगत आसने उपविश्य कथाप्रयोजनं—धर्मकथाव्यापारः तस्य यत् करणं तदकरणेन यत् प्राप्तं तन्न शुद्धं

न—नैव चिकित्सा—रोगप्रतीकारः मन्त्रश्च—चेटिकादिदेवाधिष्ठिताक्षरानुपूर्वी मूलं—वृक्षवल्ल्यादीनां भेषजं च—द्रव्यसंयोगरूपं हेतुः—कारणं लाभापेक्षया यस्य गोचरगतस्य तत्तथा। न—निषेधे स्त्रीपुरुषादीनां लक्षणं—स्त्रीपुरुषवेण्त्रादीनां लक्षणं, उत्पाताः—प्रकृतिविकाराः, सुमिणंति निद्राविकारः, ज्योतिषं—नक्षत्रं चन्द्रयोगादि निमित्तं—चूडामणिशास्त्रादिना अतितादिभावसंपादनं, कथा—कामशास्त्रार्थादिका, कुहकं—परेषां विस्मयोत्पादप्रयोगः एभिः आक्षिप्तचेतोदायकेन व्यापारितं तं भैक्षं न शुद्धं। तथा नाऽपि दम्भेन—मायाप्रयोगेन, नाऽपि रक्षणया दायकस्य वस्तुनः, नाऽपि शासनया—शिक्षणया पुत्रवत्सकगृहादीनामिति गम्यं, नाऽपि उक्तत्रयसमुदायेनेत्याह—दम्भ—रक्षण—शासनादितो, नैव भैक्ष्यं—भिक्षासमूहो वा गवेषयितव्यं अन्वेषणीयं। किंच पुनः नैव वन्दनया—स्तवनेन

सो एसो जस्स गुणा वियरंति आयरिया दस—दिसासु इहरा कहासु सुणिमो पचक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥१॥

१ एषः स प्रत्यक्षः यस्य गुणा आचरिता दस दिशासु अन्यथा कथासु श्रूयते अद्य प्रत्यक्षं दृष्टोऽसि ॥१॥ तथा पिंडनिर्युक्तिगत ४९१ तमो श्लोकः एतत्सदृश एव

णपूयणाते भिक्खं गवेसियव्वं, नवि हीलणाते नवि निंदणाते नवि गरहणाते नवि हीलणनिंदणगरहणाते भिक्खं गवेसियव्वं, नवि मेसणाते नवि तज्जणाते नवि तालणाते नवि भेसणतज्जणतालनाते भिक्खं गवेसियव्वं, नवि गारवेणं नवि कुहणयाते नपि वणीमयाते नवि गारवकुहणवणीमयाए भिक्खं गवेसियव्वं, नवि मित्तयाए

—नाऽपि माननया-आसनादिदानेन प्रतिपत्त्या वा, नाऽपि पूजनया-तीर्थमाल्यदानमस्तकगन्धक्षेपमुखवस्त्रिकाऽक्षमालिकादानादिलक्षणया, नाऽपि उक्तत्रयलक्षणया वन्दन-मानन-पूजनहेतुभूतया, भैक्ष्यं नैव गवेषयितव्यं। नाऽपि हीलनया जात्युद्घाटनतः, नाऽपि निन्दनया दायकदोषोद्घाटनेन वा, नाऽपि गर्हणया-लोकसमक्षं दायकनिन्दया, न-निषेधे उक्तत्रयलक्षणया हीलणनिंदणगरहणया भैक्ष्यं नैव गवेषयितव्यं। नाऽपि-नैव भेषणया-दायकस्य अनर्प्पयतो भयोत्पादनेन, नाऽपि तर्जनया-ज्ञास्यसि रे दुष्ट इत्यादि रूपया, नाऽपि ताडनया चपेटादिदानतः, नैव-निषेधे उक्तत्रयरूपेण भेषणतर्जनताडनारूपेण हेतुना भैक्ष्यं-आहारादि न गवेषयितव्यं। नाऽपि गौरवेण-गर्वेण राजपूजितोऽहं इत्याद्यभिमानेन, नाऽपि कुधनतया-दारिद्र्यभावेन इत्यादि प्राकृतत्वेन अथवा कुहनं दम्भचर्या तया अन्तः क्रोधोद्भूतमुखमिष्टत्वेन वा, वनीपकवृत्त्या वा अस्माकं सर्वं याच्यमानमेव भवतीति याचनापरेण, न-नैव उक्तत्रयरीत्या गारव-कुहण-वणीमगरूपेण हेतुना भैक्ष्यं पिण्डं न गवेषयितव्यं। नैव मित्रभावमुपगतस्य दायकं प्रति तेन हेतुना, नाऽपि प्रार्थनया-याचनया किन्तु साधुवेषदर्शनेनैव दायकस्य हर्षोत्पत्तिः पडिरूवेण सेवित्ता मियं कालेण भक्खए त्ति इति वचनात्। नाऽपि सेवनया स्वामिभृत्यवत्, नाऽपि युगपत् उक्तत्रयमीलकेनेत्याह भैक्ष्यं गवेषयितव्यं यद्वा एभिर्हेतुभिर्नैव।

१ प्रतिरूपेण सेवित्वा मितं कालेन भक्षयेत्

नवि पत्थणाए नवि सेवणाए नवि मित्तपत्थणसेवणाते भिक्खं गवेसियव्वं, अन्नाए, अगढिए, अदुट्ठे, अदीणे, अविमणे, अकलुणे, अविसाती, अपरितंतजोगी, जयणघडणकरणचरियविणयगुणजोगसंपउत्ते, भिक्खू भिक्खेसणाते निरते। इमं च णं सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठाते पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेचाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुखपावाण विउसमणं (सू०२२)। तस्स इमा पंच भावणातो पढमस्स

तदा किं पुनः कया रीत्या गवेषणा कार्या इत्याह। अज्ञातः—स्वयं स्वजनादिसम्बन्धाकथनेन गृहस्थैरपरिज्ञातस्वजनादिभावस्तेन, तथा अग्रथितः—ज्ञातेऽपि सम्बन्धे आहारादिषु अप्रतिबद्धः, अद्विष्टः—आहारेषु दायकेषु वा अदुष्ट, अदीनः—अक्षुभितः, अविमना—न विकृतमानसः अलाभादिदोषात्, अकरुणो—न दयास्थानं न्यग्वृत्तित्वात्, अविषादी—अविषादवचनोऽदीन इत्यर्थः, अपरितान्ताः—अश्रान्ताः योगाः—मनःप्रभृतयो यस्य सः अपरितान्तयोगी सदनुष्ठानेषु अत एव यतनं—प्राप्तेषु संयमयोगेषु अथवा यतनं उद्यमः घटनं च—अप्राप्ते घटसंप्राप्ते संयमे करणं—विधिः योजनं, चरितः सेवितः विनयो येन स चरितविनयः, गुणयोगात् क्षमादिगुणैः संप्रयुक्तः। तथा पदत्रस्य कर्मधारयः। एतादृशो भिक्षुः भिक्षैषणायां निरतो भवेदिति सम्बन्धः। इमं चत्ति इदं पुनः पूर्वोक्तगुणभैक्ष्यादिप्रतिपादनपरं इति योगः,सर्वजगज्जीवरक्षणरूपा या दया तदर्थं प्रावचनं शासनं भगवता श्रीमहावीरेण पूज्योत्तमेन सुष्ठुः—शोभनत्वेन कथितं—न्यायाऽबाधितत्वेन, आत्मनां—जीवानां हितं हितकरणत्वात्, प्रेत्य—जन्मान्तरे भवति—शुद्धफलतया परिणमति इत्येवं शीलं प्रेत्यभाविकं, आगामिकाले भद्रं—कल्याणं यतस्तदाऽऽगमिष्यत् भद्रं। शुद्धं—निर्दोषं, नेयाउयं ति नैयायिकं—न्यायवृत्ति, अकुटिलं—मोक्षं प्रति ऋजु, अनुत्तरं—प्रधानत्वात्, सर्वेषां दुःखानामसुखानां पापानां च तत्कारणानां व्यपगममुपशमकारकं यत्तत्तथा। अथ यदुक्तं 'तीसे

वयस्स होंति, पाणातिवायवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातियाए दिट्ठिए ईरियव्वं, कीडपयंगतसथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीजहरियपरिवज्जिएण संमं, एवं खलु सव्वपाणा न हीलियव्वा, न निंदियव्वा, न गरहियव्वा, न हिंसियव्वा, न छिंदियव्वा, न भिंदियव्वा, न वहेयव्वा, न भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं एवं ईरियासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा अस-

भावणाए उ किञ्चि वोच्छं गुणद्देसं ति तत्र काः भावना अस्यां जिज्ञासायामाह–

तस्य प्रथमव्रतस्य इमा वक्ष्यमाणाः प्रत्यक्षाः पञ्च भावना भाव्यन्ते–प्रथमव्रतस्य भवन्ति, प्राणा–जीवास्तेषां अतिपातो नाशस्तस्य विरमणलक्षणस्वरूपं तस्य परिरक्षणार्थं प्रथमभावनाऽवस्थितिः कोपयुज्यते तदाऽऽह–स्थानं–निषीदनं गमनं–चलनं तयोर्गुणयोगं प्रवचनोपघातवर्जनलक्षणो गुणस्तस्य योगः–सम्बन्धस्तं योजयति–करोति या सा, युगं धूसरं युगान्तरे–युगप्रमाणभूभागे निपतति या सा युगान्तरनिपातिका ततः कर्मधारयः ततस्तया दृष्टया–चक्षुषा ईरितव्यं गन्तव्यं, केनेत्याह–कीटाः–क्षुद्रजन्तवः ईलिकाद्याः पतङ्गाः–शलभाः त्रसस्थावरास्तेषु दयापरेण, नित्यं–सदा पुष्पफलत्वक् प्रवालः–पल्लवाङ्कुरः कन्दमूलं दकं–जलं मृत्तिका बीजहरितप्रमुखपरिवर्जनेनेति सम्यक् शोभनत्वेन अथ इर्यासमित्या प्रवर्त्तमानस्य यत् स्यात्तदाऽऽह–

एवममुना प्रकारेण खलु–निश्चितं सर्वप्राणाः–सर्वजीवाः न हीलयितव्याः–अवज्ञातव्याः, न निन्दितव्या न गर्हितव्याः गर्हा च परसमक्षं, तथा हिंसितव्याः–पादक्रमणेन, एवं न छेदितव्याः द्विधाकरणेन, न भेत्तव्याः–स्फोटनेन अण्डादीनां, न व्यथितव्याः परितापनादिना पीडोत्पादनेन वा, न–निषेधे भयं–भीतिः दुःखं च–शरीरादि किञ्चित् अल्पं अपि लभ्याः–योग्याः प्रापयितुं ये इति

वलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसओ सुसंजओ सुसाहू, वितीयं च मणेण पावएणं पावकं अहम्मियं दारुणं निस्संसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं मरणभयपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कयावि मणेण पावतेणं पावगं किंचि-वि झायव्वं। एवं मणसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असवलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहू, ततियं च वतीते

निशातो यावपालङ्कारे एवं ये प्राणिनः। ईर्यासमितिव्यापारेण भावितो-वासितो भवति अन्तरात्मा-जीवः किंविध इत्याह? अशबलेन-चारित्रमालिन्यरहितेन हस्तकर्मरात्रिभोजनादिलक्षणैकविंशतिमितेन असंक्लिष्टेन-विशुद्ध्यमानमनःपरिणामवता निर्व्रणेन अक्षतेन-अखण्डितेन चारित्रेण-सामायिकादिना भावना-वासना यस्य सः अशबल-असंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावना अथवा अशबल-असंक्लिष्टादिहेतुभूतया भावनया अहिंसकः, सुसंयतो-मृषावादाद्युपरतिमान् सुसाधुर्मोक्षसाधक इति एषा प्रथमा भावना।

द्वितीया पुनर्भावना मनसा पापं न ध्यातव्यं एतदेवाऽऽह-मनसा पापकेन पापकमिति ततश्च पापकेन-दुष्टेन सता मनसा पापकेन पापकमिति न ध्यातव्यं इति सम्बन्धः। पुनः किंभूतं पापमित्याह-अधार्मिकाणामिदमाधार्मिकं तत् दारुणं निःशंसं निःशूकं-दयावर्जितं। वधबन्धन-हननेन बन्धनेन परिक्लेशेन-परितापनेन च तैर्बहुलं-व्याप्तं। मरणभयपरिक्लेशसंक्लिष्टप्रचुरं-न कदापि कस्मिन्नपि समये पापकेन-मनसा-पापं-प्राणातिपातात्मकं किञ्चिदपि अल्पमपि न ध्यातव्यं एकाग्रतया न चिन्तनीयं। एवमनेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन-चित्तसत्प्रवृत्तिलक्षणव्यापारेण भावितो भवति अन्तरात्मा-जीवः कीदृशः? सन् इत्याह असबल-असंक्लिष्ट निर्व्रणचारित्रभावनया हेतुभूतया अहिंसको-दयावान् सुसंयतो-गुप्तेन्द्रियव्यापारः सुसाधु-अंतरुपशमवर्त्ती इति द्वितीया।

पावियाते पावकं [अंहम्मियं दारुणं निसंसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरमरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कयावि तीए पावियाते पावकं]न किंचिवि भासियव्वं एवं वयसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबल-मसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहू, चउत्थं आहारएसणाए सुद्धं उञ्छं गवेसियव्वं अंन्नाए अकहिए, अदीणे, अकलुणे, अविसादी, अपरितंतजोगी, जयणघडणकरणचरियविणियगुणजोग-संपओगजुत्तो, भिक्खू, भिक्खेसणाते जुत्ते, समुदाणेऊण भिक्खाचरियं उंछं घेत्तूण आगतो गुरुजणस्स पासं

अथ तृतीया पुनर्भावना च सुवचनसमितः यत्र वाचा पापं न भणितव्यमिति आह–वतीते पावियाते पूर्ववत् काकुभापया अध्येयं, पापात्मिकया पापकं, नवरं आधार्मिकं दारुणं निःशूकं–निर्दयं वधबन्धनपरिक्लेशप्रचुरं, जरामरणपरिक्लेशसंक्लिष्टं, न कदापि पापिकया, वाचा पापात्मकं–प्राणिघातात्मकं, न कदापि भापितव्यं, एवममुना प्रकारेण वचनसमितियोगयुतो भावितो भवति अन्तरात्मा–जीवः असबल–असंक्लिष्ट–निर्व्रणचारित्रभावनया कृत्वा अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति तृतीया।

चतुर्थभावना–या आहारं अशनादि चतुर्धा [तेषां] एषणा पूर्वोक्ता तया शुद्धं, उञ्छं–गृहसमुदायगतं गवेषयितव्यं इदमेव भाव-यितुमाह–अज्ञातो–अनवगतो दायकजनैरयं श्रीमान् प्रव्रजितोऽस्ति इति न ज्ञातः, अकथितः स्वयमेव यथाहं श्रीमान् पूर्वमभूवं इति, अप्राप्तौ अदीनः अथवा दीनोऽहं पूर्वमिति, अकलुपः–आशयशुद्धः, कुत्रचित् 'अगढिए अदुट्ठे' इत्यपि पाठः तत्र अगृद्धिकः अ-द्विष्टः दायकादायकोपरि समचित्तः, अविषादवान्, अपरितान्तयोगी–अश्रान्तत्रिकरणयोगः। यतनं–घटनं निष्पादनं करणं चरणं मूल-

१ मुद्रितप्रतौ न। २ अगढिते अदुट्ठे पाठान्तरं

गमणागमणातियारे पडिक्कमेपडियंते, आलोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स गुरुसंदिट्ठस्स वा जहोवएसं निरइयारं च अप्पमत्तो, पुणरवि अणेसणाते पयतो, पडिक्कमित्ता पसंते आसीणसुहनिसन्ने मुहुत्तमेत्तं च झाणसुहजोगनाणसज्झायगोवियमाणे, धम्ममणे, अविमणे, सुहमणे, अविग्गहमणे, समाहियमणे, सद्धासंवेगनिज्जरमणे, पवयणवच्छलभावियमणे उट्ठेऊण य पहट्ठतुट्ठे जहारायणियं निमंतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य

गुणोपगुणरूपं तेन चरितः सेवितः विनयपयोगयुक्तः सम्यग् प्रयोगे व्यापारः संयमलक्षणस्तेन युक्तः। भिक्षुः-साधुः भैक्ष्यैषणाया योगयुक्तः, समुदानिकं अटित्वा भिक्षाचर्यां गोचरं उंछमिव उंछनं अल्पाल्पगृहीतभैक्ष्यं गृहीत्वा आगतः गुरुजनस्य पार्श्वे-समीपं गमनागमनातिचाराणां प्रतिक्रमणेन ईर्यापथिकीदंडकेन प्रतिक्रान्तो निवर्त्तितपापः। आलोचनं-अथवा गृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरुपदर्शनं च कृत्वा गुरुजनस्य-गुरुसंदिष्टस्य वा वृषभस्य यथोपदेशं-उपदेशाऽनतिक्रमेण निरतिचारं-दोषवर्जनेन अप्रमत्तः, पुनरपि अनेषणाया अपरिज्ञाताऽनालोचितदोषरूपायाः प्रयतः-प्रयत्नवान् इति प्रतिक्रम्य च कायोत्सर्गकरणानन्तरं कीदृशः? प्रशान्तः-अनुत्सुकः, आसीनः-उपविष्टः सुखनिषण्णः अनाबाधितवृत्त्या पदत्रयस्य कर्मधारयः। ततो मुहूर्त्तमात्रं च कालं ध्यानेन धर्मादिना शुभयोगेन-संयमव्यापारेण गुरुविनयकरणादिना ज्ञानेन-ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण स्वाध्यायेन-अधीतगुणनरूपेण वा गोपितं-विषयान्तरगमनेन निरुद्धं मनो येन स तथा। अतएव धर्मे-श्रुतचारित्ररूपे मनो यस्य स तथा श्रुतमना इत्यर्थः। तथा अविमनाः-अशून्यचित्तः, शुभमनाः-असंक्लिष्टचेताः, अविग्रहमनाः-अकलहचेताः अव्युद्ग्रहमना वा-अविद्यमान-असदभिनिवेश इत्यर्थः। समं-तुल्यं रागद्वेषानाऽऽकलितं आहितं-उपनीतं आत्मनि मनो येन स समाहितमनाः अथवा शमेन-उपशमेन च अधिकं मनो यस्य स समाधिकमनाः वा शमे-उपशमे

गुरुजणेणं उपविट्ठे संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करतलं अमुच्छिते, अगिद्धे, अगढिए, अगरहिते, अणज्झोववण्णे, अलुद्धे, अणुतट्ठिते, असुरसरं अचवचवं अदुतमविलंबियं अपरिसाडिं आलोयभायणे जयं

स्थापितं मनो येन गुरुणा दत्ते अदत्ते संप्रदायादीनां अस्था[वा]पितमना इत्यर्थः। अथ श्रद्धा–तत्त्वार्थश्रद्धानं संयम–योगविषयो चाऽभिलापः, संवेगश्च–मोक्षमार्गाभिलापः संसारभयं वा निर्जरा–कर्मक्षपणं मनसि यस्य स श्रद्धासंवेगनिर्जरमनाः। प्रवचनवात्सल्यभावितमना वा, उत्थाय च प्रहृष्टतुष्टोऽतिशयप्रमुदितः यथा रत्नाधिकं–यथाज्येष्ठं निमन्त्र्य–आहूय आमन्त्र्य साधवे साधून् साधर्मिकान्–श्रद्धाप्रवचनलिङ्गादिभिः समानान्–धर्माचारान् भावतश्च भक्तस्तद्गुणानुमोदी वितीर्णे दत्ते च, गुरुजनेन भुंक्ष्व त्वमिदमशनादीन् अनुज्ञाते च सति [भक्तादौ], गुरुणा उपविष्टे दत्तासने सौम्य अत्र तिष्ठ इत्यनुज्ञया उपविष्टः संप्रमृज्य च प्रतिलेख्य मुखवस्त्रिकारजोहरणादिना वा सशीर्ष–समस्तकं सकायं–सनखकरतलं च अमूर्च्छितः–आहारविषये मूढिमानं न गतः, अगृद्धः–अप्राप्तेषु रसेषु अनाकांक्षावान्, अग्रथितः–रसानुगतरसैः, अगर्हितः–आहारविषये अकृतगर्हः, अनध्युपपन्नो–न रसेषु एकाग्रमनाः, अलुब्धो–लोभरहितः नोदरपिशाच इत्यर्थः, न आत्माशरीररूपस्तस्य अर्थो यस्येत्यनात्मिकार्थः परमार्थकारीत्यर्थः। कया रीत्या? आहारमाहारयति तदाऽऽह [1]असुरसरं एवंभूतं शब्दरहितं। [2]अचवचवेति शब्दरहितं। अद्रुतं–अनुत्सकं अविलम्बितं–न अतिमन्दं अपरिशाटं–परिशाटि दोषवर्जितं अपरिशाटि भुंजिज्जा इति, अग्रेतनपदेन सह क्रियायोगः। आलोकमुखे भाजने पृथुलमुखे अथवा आलोके प्रकाशे नाऽन्धकारे, पिपीलीकावालादीनामनुपलम्भात्, तथा भाजने–पात्रे, पात्रं विना जलादिसंपतितसत्त्वादर्शनात्, यतं–मनोवाक्कायसंयमत्वात् प्रयत्नेनादरेण

१ सरस राग नहीं इति भाषा २ चवचाट नहीं भाषा

पयत्तेण वयगयसंजोगमणिंगालं च विगयधूमं

पुनः कीदृशं ? व्यपगतसंयोजनादोषरहितं, अणिंगालं विगतरागं, विगतधूमं-द्वेषरहितं यदुक्तं-रागेण सइंगालं दोसेन सधूमगं वियाणाहित्ति वचनात् ।

अथ किञ्चित् संयोजनादि पञ्चग्रासैषणादोषानाऽऽह-तत्र प्रथमं संयोजना पञ्चकापेक्षया संयोजनं संयोजना उत्कर्षोत्पादनं-द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण मीलनं सा द्विधा उपकरणविषया भक्तपानविषया च, एकैकाऽपि द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्ना । तत्र उपकरणविषया बाह्य-संयोजना यथा कश्चित् साधुः कुत्राऽपि गृहे भव्यं चोलपट्टादिकं प्राप्य पुनर्विभूषार्थं तदुचितं पट्टीप्रभृतिकं मार्गयित्वा वसतेर्बहिरेव प्रावृणोमीति । अभ्यन्तरा तु वसतौ निर्मलचोलपट्टादिकं परिधाय विभूषानिमित्तं तदनुरूपामेव निर्मलां नर्मादिपट्टीं परिदधाति । तथा भिक्षार्थं हिण्डमानः सन् क्षीरादिकं तथा अनुकूलद्रव्यैः खंडादिभिस्सह रसगृध्नया विशेषरसोत्पादनाय बहिरेव संयोजयति एषा बाह्य-भक्तपानविषया संयोजना । अभ्यन्तरा पुनर्यद्वसतावागत्य भोजनवेलायां संयोजयति । सा च त्रिधा, पात्रकविषया कवलकविषया मुख-विषया च, तत्र भोजनसमये यत् पायसादिकं खण्डादिना यद्रोचते तद्रसगृद्धया तेनैव सह एकस्मिन् पात्रे संयोजयति सा प्रथमा, यदा तु हस्तगतमेव कवलतया सुकुमारिकादि खण्डादि सह संयोजयति सा द्वितीया । यदा पुनर्मण्डकादिकं मुखे प्रक्षिप्य पश्चात् गुडादिकं प्रक्षिपति तदा तृतीया । अपवादश्चाऽत्र एकैकं साधुसंघाटकं प्रति प्रचुरघृतादिप्राप्तौ सत्यां भोजनाऽनन्तरं यदि कथमपि यदुद्धरितं भवति तत् उद्धरितघृतादिनिर्गमनार्थं खण्डादिभिरपि संयोजना भवति तत् न दोषाय । उद्धरितं हि घृतादि न खण्डादिकमन्तरेण मण्डकादि-

१ पिंडनिर्युक्ति ६९९ । २ पिं० नि० पृ० १७२

भिरपि सह मोक्तुं न शक्यते प्रायस्तुसत्वात् तच्च न परिष्ठापनं युक्तं,घृतादिपरिष्ठापने स्निग्धत्वात् पश्चादपि पिपीलिकादिप्रणाशसंभवात्, तथा ग्लानस्य भव्यभवनार्थं वा यद्वा भक्तारोचकिनः प्रधानाहारलालितस्य सुखोचितस्य राजपुत्रादेर्वा साधूचितेन संयोगरहितमाहारेणाऽऽद्यापि सम्यग्भावितस्य मोक्षस्य वा निमित्तं रसगृद्ध्यापि संयोजना कल्पत एवेति। इदानीं प्रमाणमाह—

प्रथम संवरद्वारे ग्रासैषणा-दोषाः

कुर्कुट्यण्डप्रमाणमात्रा कवला द्वात्रिंशत् तत्र कुर्कुटी द्विधा द्रव्यकुर्कुटी भावकुर्कुटी च, तत्र साधोः शरीरमेव कुर्कुटी तन्मुखं अण्डकं तत्राऽधिकपोलौष्ठभ्रुवौ विकृतमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणं कवलस्य। अथवा कुर्कुटी पक्षी तस्या अण्डकं तस्य प्रमाणं कवलस्य तथा यावन्मात्रेण कवलेन भुक्तेन न न्यूनता नाप्यत्याध्मातमुदरं भवति धृतिश्च विशिष्टा संपद्यते ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाणो आहारो भावकुर्कुटी तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः अण्डकं तत्प्रमाणं कवलस्य, ततो द्वात्रिंशत्कवलाः पुरुषस्य स्त्रियास्तु अष्टाविंशतिः क्लीबस्य चतुर्विंशतिः। उक्तं च तंदुलवेयालिके—

बत्तीसं कवला पुरुसस्स आहारो इत्थीयाए अट्ठावीसं चतुविसं पंडयस्स त्ति। अधिकाहारस्तु अजीर्यमाणः सन् व्याधये वमनाय मृत्यवे च भवति। यदुक्तं—

अइबहुयं अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं। हाहेज्ज व वमिज्ज व मारिज्ज व तं अजीरंतं ॥१॥

इदानीमङ्गारदोषमाह—रागेण अन्नस्य वा तद्दातुः प्रशंसारूपेणाऽऽस्वादयन् प्रासुकमप्याहारं कुर्वाणः स्वचारित्रं साङ्गारं चरणेंधनस्य अङ्गारभवनत्वात्. अत्र भावार्थस्तु इह द्विधा अंगारः द्रव्यतः भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कृशानुदग्धाः खादिरादिवनस्पतिविशेषाः भावतो ॥४१॥

१ पिं० नि० गृ० १७३ २ पिण्डनिर्युक्ति गाथा. ६४६

रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनं, तथा यथा दग्धेन्धनं धूमे गते सति अङ्गार इत्युच्यते, एवमिहाऽपि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं सत् अङ्गार इत्युच्यते, ततश्च भोजनगतविशिष्टगन्धरसास्वादवशेन संजाततद्विषयमूर्च्छस्य सतः अहो मृष्टं अहो सुसंस्कृतं अहो स्निग्धं अहो सुपक्वं अहो सुच्छिन्नं सुहृतं अहो सरसं वेत्यादि प्रशंसातः सहाङ्गारेण यद्वर्तते तत्साङ्गारमिति २

इदानीं धूमदोषमाऽऽह-द्वेषेण अन्नस्य तद्दायकस्य वा निन्दात्मकेन अमनोज्ञममधुराहारं भुञ्जानश्चारित्रं-चरणं सधूमकं करोति निन्दात्मकं कलुषस्वभावं धूमसन्मिश्रत्वात्, अत्राऽप्ययं भावार्थः-इह द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतो अर्धदग्धानां काष्ठानां सम्बन्धी, भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य चरणेन्धनस्य सम्बन्धी कलुषभावो-निन्दात्मकः, ततो यथाऽऽङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिन्धन-धूमं कथ्यते एवं द्वेषाग्निना दह्यमानं चरणेन्धनमपि साधूनां सधूमं ततश्च भोजनमपि गतरूप-विगंध-विरसास्वादतो जाततद्विषयव्य-लीकचित्तस्य सतो अहो विरसं विगन्धं अपक्वमसंस्कृतमलवणमेवेति निन्दावशात् धूमेन सह वर्त्तते यत् तत् सधूमं चारित्रमिति ।

अधुना कारणमाह-वेयणवेयावच्चे इत्यादीनि षट् कारणानि प्रत्येकं भोजनेऽभोजने च ज्ञेयानि, तथा क्षुद्वेदनोपशमनाय भुञ्जीतेति सर्वत्र क्रियासम्बन्धः बुभुक्षा हि न शक्यते सोढुं सर्ववेदनातिशायित्वाद्बुभुक्षायाः 'छुहा समा वेयणा नत्थी'ति वचनात् तथा वैयावृत्त्यकरणार्थं बुभुक्षितोऽपि हि गुर्वादीनां वैयावृत्त्यं कर्त्तुं न शक्नोति । तथा इर्यासमितिः सैव निर्जरार्थिभिर-र्थ्यमानतयाऽर्थस्तस्मै बुभुक्षापीडितस्य हि चक्षुर्भ्यामपश्यतः कथमीर्यासमितिपरिपालनं स्यात्, तथा संयमार्थाय क्षुधार्त्तो हि प्रेक्षा-

---

१ पिं० नि० गाथा ६६२ वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए

२ पंथ समा नत्थि जरा दारिद्दसमो य परिभवो नत्थि। मरणसमं नत्थि भयं छुहा समा वेयणा नत्थि ॥१॥ पिं० नि० पृ० १७७

प्रमार्जनादिलक्षणं विधातुमलं [न] अतः संयमाभिवृद्ध्यर्थं, तथा प्राणः उच्छ्वासादयो बलं वा प्राणास्तेषां तस्य वा वृत्तिः-पालनं तदर्थं प्राणसंधारणार्थमित्यर्थः, यद्वा प्राणप्रत्ययं बलं जीवितनिमित्तं अविधिना उपक्रमेण क्रियमाणेऽहिंसा स्यादत एवोक्तं

भावियजिणवयणाणं ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो। अप्पाणंमि परंमिय तो वज्जे पीडमुभए वि ॥१॥

एवं पुनरिदं कारणं यदुत धर्मचिन्तायै धर्मध्यानचिन्ता [श्रुतधर्मं चिन्ता] वा ग्रन्थपरावर्त्तनचिन्तनवाचनादिरूपा, इयं हि उभयरूपाऽपि बुभुक्षाकुलितचेतसो [न] तस्याचेध्यानसंभवादिति। इह च यद्यपि वेदनोपशमादीनां शाब्दवृत्त्या तदुपलक्षिते भोजनफलत्वेन प्रतीतिस्तथापि तैर्विना तन्निषेधवचनादर्थवृत्त्या कारणत्वमेवैषामुपदर्शितं

अथ आतंकादीनि षडेव अभोजनकारणन्याह--

आतंके ज्वरादौ रोगे समुत्पन्ने न भुञ्जीत-उपवासान् कुर्वतो हि प्रायेण ज्वरादयो यांति, यदुक्तं--

वे[व]लाविरोधिनिर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितं। [ऋ]तेऽनिलश्रमक्रोधशोककामक्षतज्वरान् ॥१॥

तथोपसर्गे देवमनुष्यतिर्यग्भवे संजाते सति तितिक्षयाहेतुभूतया उपसर्गसहनार्थमित्यर्थः उपसर्गाश्च अनुकूलप्रतिकूलभेदाद् द्विविधाः तत्र माता-पितृ-कलत्रादिस्वजनकृतोऽनुकूलास्ते हि स्नेहादिना प्रव्रज्यासेवनार्थं कदाचिदुपतिष्ठन्ते तत्रोपसर्गोऽयमिति मत्वा नाश्नीयात्, यतस्तमुपवासान् कुर्वन्तं वीक्ष्य तन्निश्चयावगमान्मरणादिभयाद्वा मुञ्चतीति, प्रतिकूलोपसर्गश्च कुपितराजादिकृतस्तत्राऽपि न भुञ्जीत विहितोपवासं हि साधुं समीक्ष्य राजादयोऽपि प्रायेण संजातदया मुञ्चन्ति इति। तथा ब्रह्मचर्यगुप्तिनिमित्तं-मैथुनव्रत- ॥४२॥

१ पिं० नि० गाथा ६६७ वृत्तौ

प्रथम संवरद्वारे ग्रासैषणा-दोषाः

अक्खोवंजणाणुलेवणभूयं संजमजायामायानिमित्तं संजमभारवहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएण

संरक्षणार्थमित्यर्थः उपवासान् हि विदधतः कामः कामं-दूरमुपक्रामति यदुक्तं—

विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः इति वचनात्, तथा प्राणिदयाहेतोः जीवरक्षणार्थं जलवृष्टौ मिहिकापाते सचित्तरजःपातादौ प्रभूतसूक्ष्ममण्डूकिकामसकिकाकोद्रविकादिसत्त्वसंसक्तायां भूमौ प्राणिदयानिमित्तमटनं परिहरन्न भुञ्जीत, तथा तपोहेतोस्तपकरणनिमित्तं एकद्वित्र्याद्युपवासकरणेन षण्मासान्तं यावत्तपः कुर्वतो न भोजनसंभवः, तथा शरीरस्य व्यवच्छेदः परिहार-स्तदर्थं, इह हि शिष्यनिष्पादनादिसकलकर्त्तव्यताऽनन्तरं पाश्चात्ये वयसि संलेखनाकरणेन यावज्जीवानशनप्रत्याख्यानकरणयोग्य-मात्मानं कृत्वा भोजनं परिहरेत् नाऽन्यथा, शिष्यनिष्पादनाद्यभावे प्रथमे द्वितीये वा वयसि शरीरपरित्यागार्थमनशनप्रत्याख्यानकरणे जिनाज्ञाभङ्गः स्यात्, संलेखनामन्तरेणार्त्तध्यानादिसंभवाच्च यदुक्तं—

'देहंमि असंलिहिए सहसाधाऊहिं खिज्जमाणाहिं। झायइ अट्टज्झाणं सरीरिणो चरिमसमयम्मि ॥१॥

छुहवेयणवेयावच्चे, संजमसुहज्झाण पाणरक्खट्ठा। पाणिदया तवहेउं, छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए ॥२॥ इति षट्कारणानि

आयंके उवसग्गे बंभगुत्तीय पाणरक्खट्ठा। तव संलेहणमेवम्भोयणं छसु कुविज्जा ॥१॥

इत्यादिष्वपि विचार्य भोजनं विदध्यात् तदपि भोजनं कीदृशं सूत्रकार इति—

अक्षस्य धुरः उपाञ्जनं अक्षोपाञ्जनं तच्च व्रणानुलेपनं ते-भूते प्राप्ते यत्र तत् तथा तत्कल्पमित्यर्थः, संयमयात्रा संयमप्रवृत्तिः सैव

. १ प्रवचनसारोद्धारवृत्ति पृष्ठ २१४-२ पंक्ति ५तो पृष्ठ २१५-२ पंक्ति २ यावत् अन्युनातिरिक्तं अत्र न्यस्तं प्रतिभाति

समियं एवं आहारसमितिजोगेणं भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू,

मात्रा प्रमाणं अर्थो वा संयमयात्रामात्रं तन्निमित्तं हेतुर्यत्र तत्तथा, किमुक्तं भवति ? संयमभारवहनार्थतया, यथाऽक्षस्य उपाञ्जनं भारवहनक्षमं तथा संयमसाधनशरीरं तत आहारमंतरा संयमभारक्षमं न भवति इति कारणात् भुञ्जीत, पुनः कारणान्तरमाऽऽह–प्राणधारणार्थतया–जीवितव्यसंरक्षणायेत्यर्थः, संयतेन–साधुना समितं यतनापूर्वकं एवममुना प्रकारेण आहारसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा असबलअसंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया हेतुभूतया अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति चतुर्थीभावना

अथ प्रसङ्गादागतशय्यातरपिण्डस्याऽपि किञ्चिल्लिख्यते–शय्यया साधुसमर्पितगृहलक्षणया दुस्तरं–संसारसागरं तरतीति शय्यातरः स द्विधा कर्त्तव्यः प्रभुर्वा यतिप्रदत्तोपाश्रयस्वामी प्रभुसंदिष्टो वा तेनैव स्वामिना यत् कृतप्रमाणतया निर्दिष्टो भवति [तत्र यः प्रभुः स एको वा भवेदनेको वा] प्रभुसंदिष्टोऽप्येको वा अनेको वा भवति तत्र चतुर्भङ्गी एकः प्रभुः एक संदिष्टः १ एकः प्रभुः अनेके संदिष्टाः २ अनेके प्रभवः एकः संदिष्टः ३ अनेके प्रभवोऽनेकप्रभुसंदिष्टाः ४ ते च शय्यातरा एको वाऽनेके वा ते त्याज्याः। परमत्रैवं भावनाऽपवादपदे यथा अनेकेषु–बहुषु शय्यातरेषु सत्सु एकं कमप्यपवादपदेन शय्यातरं स्थापयेत्, इयमत्र भावना, बहुजनसाधारणा वसतिः काऽपि प्राप्ता तत्र च समाचारीविचारचतुराः श्राद्धा यदि एवं वदन्ति एकं कमपि शय्यातरं स्थापयत मा

१ प्रवचनसारोद्धार ८००-८०८ गाथागतवृत्तितो शय्यातरस्वरूपं उद्धरितं प्रतिभाति. २ एतदपि स्खलितं प्रवचनसारोद्धारवृत्तितो न्यस्तं

सर्वानपि परिहरत इति तदा एकं शय्यातरं स्थापयित्वा शेषगृहेषु भिक्षां गृह्णन्ति, यद्वा बहवस्तत्र साधवस्तदो यदि सर्वेऽपि संस्तरन्ति तदा सर्वानपि शय्यातरान् कुर्वन्ति, असंस्तरणे चैकं शय्यातरमिति ग्रहणविधिश्चाऽयं यथा द्वयोः शय्यातरयोरेकान्तरभिक्षाग्रहणवारको भवति त्रिषु शय्यातरेषु तृतीयदिने एवं वारकेण भिक्षां गृह्णन्तीति

अथाऽयं शय्यातरः कदा भवति तदाऽऽह कस्मिंश्चित् सार्थे ग्रामादौ वा उषित्वा सुप्त्वा इत्यर्थः, चरमं प्राभातिकमावश्यकं प्रतिक्रमणमन्यत्र स्थानान्तरे गत्वा यदि कुर्वन्ति तदा द्वावपि शय्यातरौ भवतः, इदं च प्रायसः सार्थादौ संभवति आदिशब्दाच्चौरावस्कन्दभयादिपरिग्रहः। अन्यथा तु प्रकारान्तरसद्भावे भजना शय्यातरस्य विकल्पना यस्य गृहे स्थिताः स च अन्यो वा शय्यातरो भवति, भजनामाऽऽह—

यदा रात्रेश्चतुरोऽपि प्रहरान् जाग्रति साधवः आवश्यकमन्यत्र कुर्वन्ति तदा मूलोपाश्रयस्वामी शय्यातरो न भवति। किन्तु सुप्ते वा शयने वा प्राभातिकावश्यके वा शय्यातरो भवति अयं भावार्थः शय्यातरगृहे सकलां रात्रिं प्राक् जागरित्वा प्राभातिकं प्रतिक्रमणमन्यत्र कुर्वन्ति तदा [मौलः शय्यातरो न भवति किन्तु यद्गृहे प्रतिक्रमणं कृतं स एव, अथ शय्यातरगृहे रात्रौ सुप्त्वा जागरित्वा वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं कुर्वन्ति तदा] स एव शय्यातरो भवति, यदा तु वसतिसंकीर्णतादिकारणादनेकोपाश्रयेषु साधवस्तिष्ठन्ति तदा यत्राचार्यः स्थितः स एव शय्यातरो नाऽन्य इति।

ननु साधूनां गृहमर्पयित्वा गृहेशो यदा देशान्तरं व्रजति तदा स शय्यातरो भवति वा न वेति प्रश्नः, कश्चिद् गृहस्थः साधूनां

२ प्रवचनसारोद्धारवृत्तिगता पतत्पंक्तिः स्खलिता दृश्यते

सर्वेस्म दत्वा सपुत्रदारः पुत्रकलत्रादिसकललोकपरिवृतो वाणिज्यादिभिः कारणैस्तमेव देशमन्यं वा व्रजेत्, तत्राऽपि स्थितो यदि तस्य गृहस्य स्वामी स एव शय्यातरो भवति, न पुनर्दूरदेशान्तरस्थितत्वात्तस्य शय्यातरत्वं न भवतीति। अथायं शय्यातरः कस्य सम्बन्धी परिहरणीयस्तदेवाऽऽह–लिङ्गमात्रधारिणोऽपि साधुगुणरहितस्यापीत्यर्थः सम्बन्धी शय्यातरो वर्जनीयः आस्तां यावदितरस्य चारित्रिण इति, स च साधुस्तं शय्यातरपिण्डं परिहरतु वा भुङ्क्तां वा तथापि वर्ज्यः।

अथ साधुगुणैर्वियुक्तस्य शय्यातरः कस्मात्परिह्रियते? उच्यते–साधुगुणैर्युक्तस्याऽयुक्तस्य वा शय्यातरः सर्वथा परिहर्त्तव्यः, अत्रार्थे मद्यापणो दृष्टान्तस्तथाहि—

महाराष्ट्राख्यदेशे सर्वेष्वपि मद्यहट्टेषु मद्यं भवतु मा वा तथापि तत्परिज्ञानार्थिध्वजो बध्यते, तं च दृष्ट्वा सर्वेऽपि भिक्षाचरादयोऽभोज्यमिति कृत्वा परिहरन्ति। एवमसावपि साधुगुणैर्युक्तो वाऽयुक्तो वा भवतु तथाप्यस्य रजोहरणध्वजो दृश्यते इति कृत्वा शय्यातरः परिह्रियते इति शय्यातर-पिंडग्रहणे कियन्तो दोषाऽस्तानाह–

तीर्थकरैः[1] प्रतिक्रुष्टो निषिद्धः शय्यातरपिण्डः शय्यातरग्राहिणां तीर्थकराज्ञाभङ्गः अन्नाय उञ्छं चरइ विशुद्धमिति आगमवचनात् अज्ञातस्य अविदितस्य राजादिप्रव्रजितत्वेन उञ्छवृत्त्या यद्गैक्ष्यं तदज्ञातमुच्यते तदेव प्रायः साधूनां ग्राह्यं तत्तु शय्यातरपिण्डग्रहणे न भवति, शय्यातरपिण्डग्रहणे सति उद्गमादिदोषाः स्युः तथा स्वाध्यायादिश्रवणादिभ्यः प्रीतः शय्या[तरः]क्षीरादिस्निग्धद्रव्यं ददाति तच्च गृह्णता गार्द्ध्याभावो विमुक्तिर्न स्यात् तथा अलाघवता तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वात् शरीरालाघवं च भवति।

१ तित्थयर पडिकुट्ठो अण्णायं उग्गमो वि य ण सुज्झे। अविमुत्ति यऽलाघवय दुल्लहसेज्जा वि उच्छेओ।

तया च वसति दुर्लभा भवति येन किल वसतिर्देया तेन आहारायपि देयमिति गृहिणां भयोत्पादनात्, तथा दानभयात् विच्छेदो भवेत् वसतिदानस्येति गम्यं। तथा पूर्वपश्चिमजिनौ[मुक्त्वा] द्वाविंशतिजिनमध्यमतीर्थकृद्भिः विदेहजैश्च महाविदेहक्षेत्रसमुत्पन्नैः सर्वैरपि तीर्थकरैरेव आधाकर्मादि निषिद्धं मध्यमजिनानां तु यदर्थं कृतं तत् तस्यैवाऽकल्प्यं शेषाणां तु कल्पत एव इत्यादि विमर्शः, परं सागारिकस्य शय्यातरस्य पिंडस्तु सर्वैरपि निषिद्ध एवेति। अयं सागारिकपिण्डो द्वादशधा अशनपानखादिमस्वादिम ४ रजोहरण-वस्त्रपात्रकम्बलसूचीपिप्पलककर्णशोधननखरदन १२ भेदात् निषिद्ध एवेति तृणडगलादिकस्त्वपिण्डः, यदुक्तं

तृणडगलछारमल्लगसेज्जासंथारपीढलेवाई। सिज्जायरपिंडो सो न होइ सेहो सउवहिओ ॥१॥

यदि शय्यातरस्य पुत्रःपुत्री वा वस्त्रपात्रादिसहिता वा प्रव्रजेत्तदा शय्यातरपिण्डो न भवतीति। तथा साधुसमुदायस्य बाहुल्यात् प्रथमालिकापानकार्थं वा शय्यातरगृहे पुनः पुनः प्रविशत्सु साधुषु सत्सु शय्यातरः आधाकर्मादिदोषानामपि कारणात्, प्रथमालिका इति कोऽर्थः क्षुल्लकग्लानादीनां प्रथमत एव भोजनं पानकं प्रतीतं, तथा निरन्तरस्वाध्यायकरणेन च-चारित्रेण वाऽऽवर्जितः सागारिका दोषमपि कुर्युरितिहेतोर्न ग्राह्य इति शय्यातरः कियत्कालं यावत् अपवादतो भवेत् तदाऽऽह—

अयं चाहोरात्रात्परतोऽशय्यातरः, इदमत्र हृदयं यत्रोषितास्ततः स्थानात् यस्यां वेलायां निर्गता द्वितीयदिने तावत्वेलायाः परतोऽशय्यातरः, तथाऽपवादतो ग्लानत्वादिकारणे शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्यते, अगाढे पुनः शीघ्रमेव शय्यातरपिण्डग्रहणं क्रियते, निमन्त्रणे च-शय्यातरनिर्बन्धे सकृत् तं गृहीत्वा पुनः पुनः प्रसङ्गो निवारणीयः, दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्ये आचार्यादीनां प्रायोग्येऽन्यत्राऽलभ्यमाने तत्रैव गृह्णन्ति, अशिवे-दुष्टव्यन्तरोपद्रवादिके अवमौदार्ये दुर्भिक्षे वा अन्यत्र भिक्षायामलभ्यमाने शय्यातरगृहेऽपि भिक्षां

पंचमं आदाननिक्खेवणसमिई पीढफलगसिज्जासंथारगवत्थपत्तकंबलदंडगरयहरणचोलपट्टगमुहपोत्तिगपाय-पुञ्छणादी वा

गृह्णन्ति, राज्ञे च प्रद्विष्टे सति सर्वत्रभैक्ष्यनिवारिते प्रच्छन्नं तद्गृहेऽपि गृह्णन्ति। अन्यत्र तस्करादिभये वा तत्रापि गृह्णन्ति भिक्षादिकं सार्थविषये अग्रगोचरतायामभाव्यमानायां तत्र दिने तत्राऽवस्थितौ सत्यां सागारिकगृहेऽशय्यातरे जायमाने सति पिण्डग्रहणं कृत्वा एकशः प्रच्छन्नतया पुनः शय्यातरं विधाय अन्यत्र गत्वा भोक्तव्यं, पुनस्तत्राऽऽगत्य सुप्तव्यं परं निद्रायमाणे न भाव्यं, तदुक्तं

अत्तणाइया चउरो पाउंच्छणवत्थपत्तकंबलयं। सूइछुरकन्नसोहण, नहरणिया सागारियपिंडे ॥१॥
न हवइ अवमेराया, वुट्ठे खुद्दाइवंतरा लोवे। सत्थप्पभिइकम्मे संकिणीवसही पभिइए ॥२॥
इचाइ विसमकज्जे सासणकज्जेसु अप्पणो कज्जे। नाणाइयाइ लाभे, संथरणे न होइ सागरिओ ॥३॥
जइ इंदिय तुट्ठिकए सिज्जायपिंडमुवगमिज्ज कया। तित्थयराणं य आणा, पडिसेहकरो य सोउ मुणी ॥४॥

इति शय्यातरपिण्डविचारो लेशतो दर्शितः, अथ प्रस्तुतं वच्मः।

पञ्चमभावना वस्तु-आदाननिक्षेपलक्षणं तं प्रतिपादयन्नाऽऽह-पीठादिद्वादशधा उपकरण प्रसिद्धं पीठं चतुरस्रादिसंस्थानमयं आसनं फलगपट्टिका, सेज्ञा-शरीरप्रमाणः संस्तारकः तृणमयो दर्भादि सार्द्धहस्तद्वयमानः, वस्त्रं-कर्पासजंगिकभंगिकादिमयं, कम्बलं उर्णामयं, दण्डको यष्टिः, रजोहरणं-धर्मध्वजः, चोलपट्टकः-परिधानवस्त्रं, मुखपोत्तिका, पादप्रोञ्छनकं। ॥४५॥

१ वाजोह इति भाष्या। २ पुछणं इति भाष्य

एयंपि संजमस्स उववूहणट्ठयाए, वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए,उवगरणं रागदोसरहितं परिहरितव्वं, संजयेण निच्चं पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं, निक्खियव्वं, च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं, एवं आयाणभंडनिक्खेवणासमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजते सुसाहू। एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होति सुप्प-

एतत् अपिशब्दादन्यदपि संयमस्य उपबृंहणार्थं संयमपोषणा–साधननिमित्तं तदर्थतया वा, वातातपदंशमशकशीतपरित्राणस्त्येन रक्षणार्थं यत्किञ्चिदपि, उपकरणं–संयमसाधनस्योपकारकं रागद्वेषरहितं–ममत्वभावविरहितं क्रियाविशेषणमिदं तत्सर्वं परिभोक्तव्यं न विभूषादिनिमित्तमिति भावना, संयतेन–साधुना नित्यं–सदा तथा प्रतिलेखनया–चक्षुर्व्यापारेण प्रस्फोटनया–आस्फोटनेन प्रमार्जनया–रजोहरणादिरूपतया, पडिलेहणा चक्खुसा पप्फोडा वधूटनं किंचा नर्त्तनाप्रमार्जना करतलेषु बहिरुच्चालनं इति व्याख्या अह्नि रात्रौ च अप्रमत्तेन सदा सततं भवितव्यं, निक्षेप्तव्यं–स्थानादौ मोक्तव्यं, गृहीतव्यं वा आदातव्यं किं तत् इत्याह–भाजनं–पात्रं भाण्डं–मृन्मयं पात्रं, उपधिश्च वस्त्रादि एतत् त्रयलक्षणमुपकरणं उपकारकं चारित्रस्येति गम्यम्। एवममुना प्रकारेण आदानभांडनिक्षेपणा प्राकृतशैलीवशात् व्यत्ययेन कर्मधारयः। समितियोगे यो भावितो–वासितो भवति अन्तरात्मा संयतात्मा असबलं–अपक्किलं असंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया हेतुभूतया अहिंसकः संयतः सुसाधुः

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण इदं प्रत्यक्षगतं संवरस्य–अनाश्रवस्य द्वारं–उपायः सम्यक् संवृतं आसेवितं भवति, किंभूतं सुप्रणिधानवत्

१ अप्फोडा पप्फोडा इति भाषा।

णिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं, णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो, धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो, एवं पढमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तिरियं किट्टियं आराहियं आणाते अणुपालियं भवति, एयं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं

प्रथम संवरद्वारे शय्यातर पिंडदोषाः

सुरक्षितं गुप्तं, कैः कृत्वा एभिः पञ्चभिः कारणैः भावनाभिर्भावितैः अहिंसापालनहेतुभिः मनोवाक्कायपरिरक्षितैरिति तथा। नित्यं सदा आमरणान्तं च-मरणरूपमन्तं यावत् पालनीयत्वात् एष योगोऽनन्तरोदितभावनापञ्चकरूपो व्यापारो नेतव्यो बोधव्यः केनेत्याह-मावुकेन धृतिमता-स्वस्थचित्तेन, मतिमता-बुद्धिमता किंभूतोऽयं योगः अनाश्रवः-नवकर्मानुपादानरूपः अतएव अकलुषोऽपापः शुभाध्यवसायत्वात्, अच्छिद्रः-कर्मनीरप्रवेशाऽभावात्, अपरिश्रवः-न परिश्रवतीति पापजलनिषेधत्वात्, असंक्लिष्टो-न चित्तसंक्लेशरूपः, अतएव शुद्धो निर्दोषः, सर्वजिनैः-सर्वतीर्थकरैरनुज्ञातो अनुमतः, एवमीर्यासमित्यादिभावनापञ्चकयोगेन प्रथमं संवरद्वारं अहिंसालक्षणं, फासितं स्पृष्टं उचिते काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सम्यग् उपयोगेन प्रतिचरितं, शोधितं-अन्येषामपि तदुचितानां दानात् अतीचारवर्जनाद्विशोधितं-निरतीचारिकृतं, तीरितं-तीरं-पारं प्रापितं, कीर्त्तितमन्येषामुपदिष्टं, आराधितं-एभिरेवप्रकारैर्निष्ठां प्रापितं, आज्ञया-सर्वज्ञवचनेन अनुपालितं भवति पूर्वकालीनसाधुभिश्चानु-पश्चात् पालितमिति केनेदं व्याख्यातमित्याह— ॥४६॥

एवमिति उक्तरूपं ज्ञातमुनिना क्षत्रियविशेषरूपेण यतिना श्रीमन्महावीरेणेत्यर्थः।

किंविधेन? भगवता-ऐश्वर्यादिभगार्थषट्कयुक्तेन प्रज्ञापितं-सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं, प्ररूपितं-छेदभेदकथनेन, प्रसिद्धं

सिद्धं, सिद्धवरसासणमिणं, आघवितं, सुदेसितं, पसत्थं, पढमं संवरदारं समत्तं ति बेमि ॥१॥ [सू० २३]

प्रख्यातं, सिद्धं-प्रसिद्धप्रमाणेन प्रतिष्ठितं, सिद्धानां-निष्ठितार्थानां वरा प्रधाना शासना-आज्ञा यस्मिन् तत् वरशासनमेतत् आघवितं उज्ञापितं तथा अर्घः-पूजा तस्य आपः-प्राप्तिर्जाता यस्य तदर्घापितं अथवा अर्थापितं, सुष्ठु देशितं सदेवमनुजासुरायां पर्षदि नानाविधनयगमभङ्गप्रमाणोपेतैः शब्दैरर्थैर्वा अभिहितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति। प्रथमं संवरद्वारं। इति शब्दः-समाप्तौ, ब्रवीमिति-सर्वज्ञोपदेशेन न तु स्वमनीषिकया पूर्वोक्तप्रकारेण भावनया तद्वत् अहमपि ब्रवीमि विनेयजनान् । समाप्तं

इति प्रश्नव्याकरणांगस्य दशमस्य षष्ठे अध्ययने व्याख्यातः संवरद्वारप्रथमार्थो वृत्तिमुपजीव्य
इति प्रथमसंवरद्वारम् ॥

इति श्री सूरिपुरन्दरज्ञानविमलसूरिरचिते
॥ प्रश्नव्याकरणे प्रथम संवरद्वारं संपूर्णम् ॥

॥ अथ द्वितीयं संवरद्वारात्मकं सप्तममध्ययनम् ॥

द्वितीय संवरद्वारे सत्यस्य महिमा स्वरूपं च

अथ सूत्रक्रमसम्बन्धः-अनन्तराध्ययने प्राणातिपातविरमणं उक्तं, तच्च संपूर्णं सम्यगृतयाऽलीकवचोविरमणव्रतानामेव भवति इति हेतोरलीकविरतिः प्रतिपादनीया इत्यनेन सम्बन्धेन सम्बद्धं द्वितीयमध्ययनमारभ्यते अस्य चेदमादि सूत्रं-

जंबू! बितियं च सच्चवयणं सुद्धं, सुचियं, सिवं, सुजायं, सुभासियं, सुव्वयं, सुकहियं, सुदिट्ठं, सुपतिट्ठियं, सुपइट्ठियजसं, सुसंजमियवयणबुइयं, सुरवर-नरवसभ-पवरबलवग-सुविहियजणबहुमयं, परमसाहुधम्मचरणं, तवनियमपरिग्गहियं,

जम्बूरिति शिष्यामन्त्रणं द्वितीयं पुनः संवरद्वारं सत्यं वचः सद्भ्यो मुनिभ्यः सज्जनेभ्यो गुणिभ्यः यदर्थेभ्यो वा हितं सत्यं,यदाऽऽह-तद्वचनं सत्यवचनं कीदृशं? तदाऽऽह-शुद्धं-निर्दोषं, अतएव शुचिकं-पवित्रं, शिवं शिवहेतु, सुजातं-शुभविवक्षोत्पन्नं, शोभनभाषितं वाग्रूपं वा शुभमिश्रितं सुखाश्रितं वा, अतएव शोभननियमरूपं सुव्रतं, शोभनो मध्यस्थो [रागद्वेषादौ] कथकः प्रतिपादको यस्य सत्यस्येति सुकथितं, सुदिष्टंति अतीन्द्रियार्थदर्शिभिः दृष्टं अपवर्गादिहेतुतयोपलब्धं, सुप्रतिष्ठितं-समस्तप्रमाणैरुपपादितं सुप्रतिष्ठितं,तस्य महत्तमपुरुषस्य यशः अव्याहतख्यातिकं, सुसंयमितवचनैः-सुनियन्त्रितवचनैरपि संवादिवचनैरुक्तं यस्य तत्तथा, सुरवराणां-इन्द्रादीनां, नरवृषभाणां-चक्रवर्त्यादीनां प्रवरबलवतां हरिप्रतिहर्यादियोद्धपुरुषाणां सुविहितस्य-सुसाधुजनस्य बहुमतं संमतं यत् तत्तथा, परमसाधूनां-उत्कृष्टमुनीनां धर्मचरणं-धर्मानुष्ठानं यत्तत्तथा। तपोनियमाभ्यां परिगृहीतमङ्गीकृतं यत्तत्तथा, यथा तपोनियमौ सत्यवादीना-

सुगतिपहदेसकं, च लोगुत्तमं वयमिणं। विज्जाहरगगणगमणविज्जाणसाहकं सग्गमग्गसिद्धिपहदेसकं, अवितहं तं सच्चं। उज्जुयं, अकुडिलं, भूयत्थं अत्थतो, विसुद्धं, उज्जोयकरं, पभासकं भवति सव्वभावाण जीवलोगे। अविसंवादि, जहत्थमधुरं पच्चक्खं दयिवयंव जं तं अच्छेरकारकं अवत्थंतरेसु बहुएसु माणुसाणं। सच्चेण महास-

मेव स्यातां नाऽपरस्येति भावः। सुगतिपथदेशकं च, लोके सत्यवचनमेव उत्तमं द्रव्यमिति न हि सत्यात्परं किमपि निधानमितिवचनात्, व्रतमिदं च वक्ष्यमाणं पुनः कीदृशं? विद्याधराणां गमनगामिन्यो या विद्यास्तेषां साधकं सत्यभाषिणामेव विद्याः सिद्ध्यन्ति इति भावः, स्वर्गमार्गस्य यावदनुत्तरप्राप्तेः सिद्धिपथस्य च देशकं-प्रवर्त्तकं यत् तत् तथा, अवितथं-वितथत्वरहितं मिथ्याभावरहितं तत् संवरद्वारं द्वितीयं सत्यवचनं। पुनः ऋजुकं-ऋजुभावप्रवर्त्तितत्वात्, अकुटिलस्वरूपत्वात् अकुटिलं, भूतः सद्भूतोऽर्थः पदार्थः अभिधेयो यस्य तद्भूतार्थं अर्थतः प्रयोजनापन्नं इति भावः, अतो हेतोर्विशुद्धं-निर्दोषं, उद्योतकरं-प्रकाशकरणं, प्रभापकं-प्रतिपादकं भवति केषां? कस्मिन्नित्याह-सर्वभावानां-सर्वपदार्थानां जीवैरूपलक्षितो लोको जीवलोकस्तस्मिन् लोके जीवाजीवाधारक्षेत्रे प्रभापकं-देशकं। अविसंवादि-अव्यभिचारि यथार्थमितिकृत्वा, मधुरं-कोमलं, प्रत्यक्षेण दैवतमिव देवता इव यत्तत्दाश्चर्यकारि-विस्मयकारि तदीदृशं वचनं केषु केषामित्याह-तदेव पदं विशिष्य व्याख्यानयन्ति अवस्था-कष्टदशा तस्या अन्तराणि-छिद्राणि तेषु अवस्थाविशेषेषु प्रापितेषु बहुषु मनुष्याणां यदुक्तं—

सत्येनाऽग्निर्भवेच्छीतोऽगाधाम्बुधिरपि स्थलम्। नाऽसिः छिनत्ति सत्येन सत्यान्न दशते फणी॥१॥

तदेव हि सत्येन हेतुना महासमुद्रमध्ये तिष्ठति न निमज्जति, मूढं-नियतदिग्गमनं अप्रत्ययं अग्रं तुंडं अनीकं वा तत्प्रवर्त्तकजन-

द्वितीय संवरद्वारे सत्यस्य महिमा स्वरूपं च

मुद्दमज्झेवि मूढाणियावि पोया सच्चेण य उदगसंभमंमिवि न वुज्झइ, न य मरंति थाहं ते लभंति। सच्चेण य अगणिसंभमंमिवि न डज्झंति उज्जुगा मणूसा। सच्चेण य तत्ततेल्लतउलोहसीसकाइं छिवंति धरेंति न य डज्झंति मणूसा। पव्वयकडकाहिं मुचंते न य मरंति सच्चेण य परिग्गहिया। असिपंजरगया समराओवि णिइंति अणहा य सच्चवादी। वहबंधभियोगवेरघोरेहिं पमुच्चंति य अमित्तमज्झाहिं निइंति अणहा य सच्चवादी। सादेव्वाणि य

स्योत्पाता येषां ते तेऽपि बोहित्था–यानपात्राऽपि तथा सत्येन च उदकसंभ्रमेऽपि–उदकप्लवेऽपि संभ्रमकारणत्वात् तत्राऽपि न बुज्झन्ति न प्लाव्यन्ते। न च म्रियन्ते मरणं प्राप्नुवन्ति, स्तार्घं–तलं च लभन्ते। सत्येन हेतुना अग्निसंभ्रमेऽपि–अग्निसंदीपनेऽपि न दह्यन्ते ऋजुका–आर्जवोपेताः नराः–मनुष्याः। च–पुनः सत्येन हेतुभूतेन तप्तं–उष्णीकृतं यत् तैलं त्रपु–कांश्यं अयः–लोहं सीसकानि छिबन्ति हस्तांजलिमिर्धारयन्ति परं न च दह्यन्ते ऋजुका मनुष्याः। पर्वतैकदेशान् कटकान् प्राप्य आत्मानं मुञ्चन्ते 'झांप' इति भाषा तदपि कुर्वन्ते परं नैव म्रियन्ते सत्येन परिगृहीता–युक्ताः। खड्गपञ्जरशक्तिपञ्जरगताः–खड्गशक्तिव्यग्रकारिषु पुरुषैः वेष्टिता अपि समरात्–संग्रामात् निर्गच्छन्ति–यान्ति अनघाः–अक्षतगात्रा इत्यर्थः, ते के? सत्यवादिनः पुरुषाः सत्यप्रतिज्ञाः। वधो–यष्ट्यादिना बन्धो–रज्वादिना वियोगः इष्टवस्तुनाशलक्षणः वैरं–अमित्रैः सह ताडनसंयमनं बलात्कारघोरशात्रवेभ्यः प्रमुच्यन्ते अमित्रमध्यात् निर्गच्छन्ति यान्ति स्वस्थानं अक्षताङ्गाः सत्यवादिनः निर्दोषगात्राः। सानिध्यानि च कुर्वन्ति देवताः निजशपथादिविकटकार्येऽपि देवताः सानिध्यं कुर्वन्ति सत्यवचनरतानां पुरुषाणां नेतराणामितिभावः। यतः—

प्रियं सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न जने? गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च।

॥४८॥

देवयाओ करेंति सच्चवयणे रताणं । तं सच्चं भगवं तित्थकरसुभासियं दसविहं, चोद्दसपुव्वीहिं पाहुडत्थविदितं,

सुरा सत्याद्वाक्याद् ददति मुदिताः कामितफलं अतः सत्याद्वाक्यादुव्रतमभिमतं नास्ति भुवने॥११॥

यस्मादेवं तस्माद् हेगोस्त्वं सत्यं द्वितीयं महाव्रतं भगवद्-भट्टारकं तीर्थंकरभाषितं-जिनैः सुष्ठूक्तं दशप्रकारं—जनपदसंमतादिभेदेन, दशविधसत्यस्वरूपं यथा—

जणवय १ सम्मय २ ठवणा ३ नाम ४ रूवे ५ पडुच्च सच्चे य ६ । ववहार ७ भाव ८ जोगे ९ दशमे उवम्म सच्चे य १० ॥१॥

व्याख्या—जनपदसत्यं यथा—कोंकणादिषु पयः पिच्चं जलं नीरमित्यादि देशप्रसिद्धं १ । संमतसत्यं या लोकसंमतत्वेन प्रसिद्धा भाषा यथा कुमुदकुवलयतामरसानां समानेऽपि पङ्कजत्वे गोपालजनो अरविन्दमेव पङ्कजं मन्यते न शेषेषु इति संमतसत्यं २ । स्थापनासत्यं प्रतिमादिरूपा अङ्कमुद्रादिन्यासं समुपलभ्य क्रियन्ते यथा एकैकः पुरतो बिन्दुद्वयसहितं उपलभ्य शतं बिन्दुत्रयसहितं सहस्रं तथा विक्करिकादौ [मट्टिकादौ] मापकार्षापणोऽयमित्यादिका ३ । नामसत्यं यथा—कुलं अवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन इत्यादिका ४ । रूपसत्यं यथा—दम्भतो गृहीतव्रतो यतिरिति भाषा ५ प्रतीतसत्यं यथा वस्त्वन्तरमाश्रित्य यथा अनामिकायाः कनिष्ठामधिकृत्य दीर्घत्वं मध्यमामधिकृत्य च ह्रस्वत्वमिति ६ व्यवहारसत्यं यथा—गिरिर्दह्यते गलति भाजनं, तृणादिदाहे गिरिर्दहति, उदके श्रवति गलति भाजनमिति प्रतीतिः ७ भावसत्यं यथा यो वर्णादिः यस्मिन्नुत्कटो भवति तेन या सत्या सा भावसत्या यथा सत्यपि पञ्चवर्णसंभवे बलाका शुक्ला शुको नील इत्यादि प्रतीतिः ८ योगसत्यं यथा—दण्डयोगात् दण्डी पुरुषः छत्रयोगात् छत्रीति ९ उपमासत्यं यथा—समुद्रवत्तडागः

१ दशवैकालिक—हारिभद्रीयावृत्ति पृष्ठ २०८ तथा प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ २६१

चन्द्रवन्मुखं एकदेशग्रहणेनेति १० दशधा सत्यवचनं। अथ प्रसङ्गादन्येऽपि भाषाभेदा लिख्यन्ते–असत्याऽपि दशधा भाषा–

कोहे१ माणे२ माया३ लोभे४ पेज्जे५ तहेव दोसे य६। हास७ भय८ अक्खाइय९ उवग्घाइय णिस्सिया दसहा ॥१॥

क्रोधनिःसृता क्रोधाद्विनिर्गता तस्य आशयदुष्टत्वात् सत्यं असत्यं वा ब्रूते तत्सर्वं मृषा एव १ माननिःसृता पूर्वमननुभूतमप्यैश्वर्यं आत्मोत्कर्षख्यापनायऽनुभूतमस्माभिरपि बहुश इत्यादिरूपा २ मायानिःसृता यत्परवञ्चनाभिप्रायेण सत्यमसत्यं वा भाषते ३ लोभनिःसृता लोभाभिभूतः कूटतुलादिकृत्वाऽयथोक्तप्रमाणं वदति ४ प्रेमनिःसृता प्रेमवशात् यथाऽहं तव दासः पुत्रं प्रति जनकस्त्वमित्यादिरूपा ५ द्वेषनिःसृता यत्प्रतिनिविष्टजगत्पूज्यतीर्थंकरादीनामप्यवर्णवादं भाषते ६ हास्यनिःसृता हास्यरसेन–क्रीडारसतोऽसमञ्जसं भाषते ७ भयनिःसृता तस्करादिभयेनाऽसमञ्जसभाषणं निर्धनोऽहं ज्ञात्वा हीनो वा ८ आख्यायिकानिःसृता यथा–कथासु असंभाव्याभिधानं मूलदेवादिवत् धूर्त्ताख्यानवत् ९ उपघातनिःसृता चोरस्त्वमित्यभ्याख्यानरूपा १० इति असत्या भाषा दशधा।

यद्यपि सत्यं भाषते तथापि दुष्टाशयत्वेनाऽनुबन्धविपाकोदयादसत्यमेवेति मृषा।

अथ सत्यामृषा दशधा यथा

उप्पन्न मिस्सिया १ विगय २ तदुभय ३ जीवा४ऽजीव ५ उभयमिस्सा ६।
अणंत ७ परित्ता ८ अद्धा९ अद्धद्धामिस्सिया १० दसमा ॥१॥

व्याख्या—तत्र उत्पन्नमिश्रिता यथा–कस्मिंश्चिद्ग्रामे नगरे वा ऊनेषु अधिकेषु दारकेषु वा जातेषु दशदारका अद्य अस्मिन्नगरे

द्वितीय संवरद्वारे सत्यादि भाषाभेदाः

१ दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति पृष्ठ २०९-१ गत गाथा तथा लोकप्रकाश पृष्ठ ३१२

जाता इति उत्पन्नमिश्रिता अनुत्पन्नैरसह संख्यापूरणात्मिका १ एवं मरणकथने विगतमिश्रिता २ तथा जन्मतो मरणतो वा कृतपरिमाणस्य विसंवादेन च उत्पन्नविगतमिश्रिता ३ जीवमिश्रिता यथा प्रभुतानां जीवतां स्तोकानां च मृतानां शङ्खशङ्खनकादीनां एकराशौ दृष्टे यदा कश्चिदेवं वदति–अहो महानयं जीवराशिस्तदा जीवमिश्रिता ४ यथा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु कश्चिदेवं वक्ति महानयं मृतो जीवराशिस्तदा अजीवमिश्रिता सत्यामृषात्वं चास्या मृतेषु सत्यत्वात् जीवत्सु मृषात्वादिति भावनीयं ५ तस्मिन्नेव राशौ एतावन्तोऽत्र जीवन्त एतावन्तो मृता एवेति नियमेनाऽवधारयतो विसंवादे जीवाऽजीवमिश्रता ६ मूलकादिकमनन्तकायं तस्यैव सत्कैः पाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित्प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वेऽप्यनन्तकायिक इति अनन्तमिश्रिता ७ तथा प्रत्येकवनस्पतिसंघातमनन्तकायमिश्रमवलोक्य सर्वेऽपि–प्रत्येकवनस्पतिरूपोऽयं पिण्ड इति वदतः प्रत्येकमिश्रिता ८ यथा कश्चित् कञ्चन त्वरयन् वर्त्तमाने दिवसेऽप्येवं वदति उत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति रात्रौ वा वर्त्तमानायां उत्तिष्ठोद्गतः सूर्य इति अद्धामिश्रा ९ तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धा यथा प्रथमपौरुष्यामेव वर्त्तमानायां कश्चित् कञ्चन त्वरयन्नेवं वदति चल चल मध्याह्नो जात इत्यादिरूपा अद्धाद्धामिश्रिता १० । एवं दशधा सत्यामृषा ।

अथाऽसत्याऽमृषा द्वादशविधा एषा हि प्रागुक्तसत्यादिभाषाविकलत्वात् न सत्या नाऽपि मृषा नाऽपि सत्यामृषा केवलं व्यवहारमात्रप्रवृत्तिहेतुरित्यसत्यामृषा भाषा ज्ञेया यथा–

*आमंतणी*१ आणवणी–२ जायणी ३ तह पुच्छणी य ४ पणवणी। पच्चक्खाणी भासा ६ भासा इच्छाणुलोमाय७

१ दशवैकालिक–हारिभद्रीयवृत्ति पृष्ठ २१०–१ गत गाथा २७६–२७७

अणभिग्गहिया भासा ८ भासाय अभिग्गहंमि९ बोधव्वा। संसयकरणी भासा१० वोग्गड अव्वोग्गडा चेव ॥२॥

व्याख्या—आमन्त्रणी यथा हे देवदत्त इत्यादिका १ आज्ञापनीकी कार्ये परस्य प्रवर्त्तना इदं कुरु इत्यादिरूपा २ याचनी यथा कस्याऽपि वस्तुविशेषस्य देहीति भाषारूपा ३ पृच्छनी अविज्ञातस्य संदिग्धस्य कस्यचिदर्थस्य परिज्ञानाय तद्विदः पार्श्वे पृच्छना ४ प्रज्ञापनी विनीतविनेयस्य—विनेयजनस्य उपदेशदानं यथा प्राणिवधान्निवृत्ताः प्राणिनो भवान्तरे दीर्घायुष इत्यादिरूपा ५ याचमानस्य प्रतिषेधवचना प्रत्याख्यानी६ इच्छानुलोमा यथा—कश्चित् कञ्चन कार्यमारभमाणः कञ्चन पृच्छति स प्राह करोतु भवान् ममाप्येतदिष्टं इत्यादिरूपा ७ अनभिगृहीता भाषा यथा बहुषु कार्येषु समुपस्थितेषु कश्चित् कञ्चन पृच्छति किमिदानीं करोमि स प्राह—सुन्दरं ते यत्प्रतिभासते तत्कुरु इत्यादिका ८ अभिगृहीता यथा इदानीं इदं कर्त्तव्यं इदं नेतिरूपा ९ संशयकरणी भाषा एका वाक् अनेकार्था-भिधायिनी सती परस्परं संशयं उत्पादयति यथा सैंधवमानयेत्युक्ते सैन्धवशब्दो—लवणवस्त्रवाजिषु तत्राऽनिर्द्धारिता वाक् १० व्याकृता प्रगटार्था—स्पष्टार्थरूपा ११ अव्याकृता—अतिगम्भीरशब्दार्था अव्यक्ता वा अभावार्थत्वादिति १२ द्वादशधाऽसत्यामृषा भाषा एवं द्वि-चत्वारिंशद्भेदास्तत्र एकेन्द्रियास्त्वभाषकाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियेषु सत्यादिभाषाप्रतिषेधस्तेषु सम्यक्परिज्ञानपरवञ्चनाद्यभिप्रायाऽसम्भवात्, तिर्यक्पञ्चेन्द्रिजा अपि सम्यक् यथावस्थितवस्तुप्रतिपादनाऽभिप्रायेण भाषन्ते नाऽपि परविप्रतारणबुद्ध्या किन्तु यदा भाषन्ते तदा कुपिता अपि परं मारयितुकामा अप्येवमेव भाषन्ते अतस्तेषामपि भाषाऽसत्यामृषा, किं सर्वेषामपि? न, किन्तु जातिस्मरणलब्धिमतां तथाविधक्षयोपशमवशात् विशिष्टव्यवहारलब्धिं प्रतीत्य तिर्यञ्चोऽपि चतुर्विधां भाषां भाषन्ते। शेषा भाषकजीवाश्चतस्रोऽपि भाषा भाषन्ते, तत्र साधूनां द्वे भाषे प्रथमान्तिमे भवत इत्यादि भूयान् विचारः प्रज्ञापनैकादशपदादवसेय इति

द्वितीय संवरद्वारे सत्यादि भाषाभेदाः

महरिसीण य समयप्पदिन्नं, देविंदनरिंदभासियत्थं, वेमाणियसाहियं, महत्थं, मंतोसहिविज्जासाहणत्थं, चारणग-

"भासाणं भन्ते किमादिया किं पवहा किंसंठिया किंपज्जवसिया गोयमा भासा णं जीवादीया शरीरप्पभवा वज्जसंठिया लोगपज्जवसिया पण्णत्ता भासा कओ य पभवति कइहिं समएहिं भासती भासं? भासा कतिप्पयारा? कति वा भासा अणुमयाओ? सरीरप्पभवा भासा दोहिं समएहिं भासती भासं। भासा च उप्पयाराइं दोण्हि य भासा अणुमयाओ" १ इत्यादि विचारोऽवसेयः।

अत्र दशवैकालिकाद्यनुसारेण सामान्यतः साधूनां द्वे एव भाषे भाषितव्ये अतिशयवतां तु यथार्ह लाभालाभं विचार्य चतस्रोऽपि भाषाः अनुमताः इति बोध्यम्।

तथा चतुर्दशपूर्वविद्भिः प्राभृतार्थे विदितं पूर्वगतांशविशेषाऽभिधेयतया ज्ञातं, तथा महर्षीणां समयेन–सिद्धान्तेन प्रतिज्ञातं समयप्रतिज्ञातं सिद्धांतालापकपाठरूपेण निग्गंथे पावयणमिति वचनात्, देवेन्द्रनरेन्द्रैर्भाषितो जनानामुक्तोऽर्थस्तत्साध्यधर्मादिर्यस्य तत् तथा, अथवा देवेन्द्रनरेन्द्राणां भासितः प्रतिभातोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा अथवा देवेन्द्रादीनां भाषिता अर्थाः–जीवादयो जिनवचनरूपेण येन तत्तथा, पुनः वैमानिकानां साधितं–प्रतिपादितं उपादेयतया जिनादिभिरथवा वैमानिकैः साधितं कृतं सेवितमिति, महार्थं–महाप्रयोजनं, तदेवाऽऽह–मन्त्रौषधिविद्यानां साधनं तस्य अर्थः–प्रयोजनं तस्य सत्वं विना तत् सिद्ध्याभावात्, तथा चारणगण–विद्याचारणा-

१ प्रज्ञापनासूत्र ११ पद–१९ सूत्र पृष्ठ ७७९

णसमणसिद्धविज्जं,मणुयगणाणं वंदणिज्जं,अमरगणाणं अच्चणिज्जं, असुरगणाणं च पूयणिज्जं,अणेगपासंडिपरिग्गहितं, जं तं लोकंमि सारभूयं, गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ, सोमतरगं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ, विमलतरं सरयनहयलाओ, सुरभितरं गंधमादणाओ, जेविय लोगम्मि अपरिसेसा मंतजोगा जवा य विज्जा य जंभका य अत्थाणि य सत्थाणि य सिक्खाओ य आगमा य सव्वाणिवि ताइं सच्चे

दिवृन्दानां श्रमणानां सिद्धविद्या–आकाशगामिनी वैक्रियकरणादिप्रयोजना यस्मात् तत्तथा मनुजगणानां च वन्दनीयं स्तुत्यः धन्यः सत्यभाषी अर्थ इति, अमरगणानां व्यन्तरज्योतिष्कानां च अर्चनीयं पुष्पादिभिः सर्वत्रासन्नव्यन्तरैः प्रतिपादितमहिमा सत्यभाषिणामिति गम्योऽर्थः, असुरगणानां भवनपत्यादीनां पूजनीयं पूज्यं गन्धमाल्यादिभिः, अनेकपाखण्डिभिः परिगृहितं तेऽपि सत्यभाषिणां चरणशरणं कुर्वन्ति, नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृतं, यत् तत् सत्यं लोके सारभूतं प्रधानत्वेन ख्यातं, गम्भीरतरं–अलब्धमध्यं महासमुद्रात्–अक्षोभ्यत्वात्, स्थिरतरं मेरुपर्वतात् अचलितत्वेन, सौम्यतरं चन्द्रमण्डलात् अतिशयेन सन्तापोपशमहेतुत्वात्, दिप्ततरं सूर्यमण्डलात् यथावद्वस्तुप्रकाशनेन, विमलतरं शरन्नभस्तलात् अतिनिर्दोषत्वात्, सुरभितरं गन्धमादनाद्–गजदन्तकगिरिविशेषात् तत्र चन्दनवृक्षाः बहवस्सन्तीति सुगन्धतरसहृदयानामतीव हृदयावर्जकत्वात्, येऽपि च लोके अपरिशेषा–निःशेषा मात्राः–शुभशुभतमा भावा हरिणेगमेषिआहूतोऽपायाः मन्त्रादयो योगा–वशीकरणादिप्रयोजना द्रव्यसंयोगाः, जपाश्च–मन्त्रविद्याजपनानि, विद्याश्च–प्रज्ञप्त्याद्या, जृम्भकाश्च–तिर्यग्लोकवासिनो देवविशेषाः दशधा, अस्त्रादीनि–बाणादीनि क्षेप्यायुधानि, शस्त्राणि–खड्गादीन्यक्षेप्यायुधानि, शिक्षा–कलाग्रहणादीनि शास्त्राणि, आगमः–सिद्धान्तः अर्थात् अन्यान्यपि सर्वाणि तानि सत्ये प्रतिष्ठितानि, असत्यवादिनां न केऽपि मन्त्रा स्वसाध्यसाधकीभावं

द्वितीय संवरद्वारे सत्यस्य महिमा स्वरूपं च

पइट्ठियाइं, सच्चंपिय संजमस्स उवरोहकारकं किंचि न वत्तव्वं, हिंसासावज्जसंपउत्तं, भेयविकहकारकं, अणत्थवाप्रकलहकारकं, अणज्जं, अववायविवायसंपउत्तं, वेलंबं, ओजधेज्जबहुलं, निल्लज्जं, लोयगरहणिज्जं, दुद्दिट्ठं, दुस्सुयं, असुणियं। अप्पणो थवणा परेसु निंदा–न तंसि मेहावी, ण तंसि धन्नो, न तंसि पियधम्मो, न तंसि कुलीणो, न तंसि दाणपती, न तंसि सूरो, न तंसि पडिरूवो, न तंसि लट्ठो, न पंडिओ, न बहुस्सुओ, नवि य तंसि तवस्सी, ण यावि

भवन्तीति भावः। तथा तादृशं सत्यमपि यत् संयमस्योपरोधकारकं संयमबाधकं तत् किमपि न वक्तव्यं किंभूतं तदित्याह–

हिंसया–जीववधेन–सावद्येन च पापोपेताऽऽलापादिना सम्प्रयुक्तं सहितं यत् तत्तथा। भेदश्चारित्रभेदः विकहा–विसंवादिका स्त्र्यादिका कथा तत् कारकं यत् तत् तथा, अनर्थवादो–निःप्रयोजनो जल्पः कलहश्च–कलिस्तत्कारकं यत् तत्तथा, अनार्यं–अनार्यप्रयुक्तं अन्याययोग्यं तं, अपवादः–परदूषणाभ्याख्यानं विवादो–विप्रतिपत्तिस्तत् सम्प्रयुक्तं सहितं तत् तथा, वेलम्बिकं–परेषां विडम्बनाकारि ओजो–बलं धैर्यं च–धृष्टता ताभ्यां बहुलं, अतएव निर्लज्जं–अपेतलज्जं, लोके–साधुलोके गर्हणीयं निन्द्यं, दुर्दृष्टं–सम्यग्तया नेक्षितं, दुःश्रुतं–सम्यगाकर्णीतं, असम्यक्तया मुणितं–ज्ञातं, आत्मनः–स्वस्य स्तुतिः श्लाघा परेषामन्येषां निन्दा–अवर्णवादः तदेवाऽऽह–

नतंसि त्ति त्वं न भवसि मेधावी–प्राज्ञः अपूर्वश्रुतदृष्टग्रहणशक्तियुक्तो मेधावीत्युच्यते, न त्वं धन्योऽसि धन्यवानसि, न त्वं प्रियधर्माऽसि, तथा न त्वं कुलीनः कुलजातः, न त्वं भवसि दानपतिर्दानदाता इत्यर्थः, न भवसि त्वं शूरः–पराक्रमवान्, न त्वमसि प्रतिरूपः यस्मिन् दृष्टे रूपवान् स्मर्यते, न त्वमसि लष्टः–सौभाग्यवान्, न त्वमसि पण्डितो–बुद्धिमान्, न त्वमसि सुश्रुतः श्रुतमा-

परलोगणिच्छियमतीऽसि, सव्वकालं जातिकुलरूववाहिरोगेण वावि जं होवि वज्जणिज्जं दुहओ उवयारमतिक्कंतं एवंविहं सच्चंपि न वत्तव्वं। अह केरिसकं पुणाइ सच्चं तु भासियव्वं?, जं तं दव्वेहिं पज्जवेहि य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविवेहिं सिप्पेहिं आगमेहि य नामक्खायनिवाउवसग्गतद्धियसमाससंधिपदहेउजोगियउणादिकिरियाविहा·

ञाधीतबहुशास्त्रः, नाऽपि त्वं तपस्वी-क्षपकः, न चाऽपि परलोकविषये निश्चिता-निःसंशया मतिर्यस्याऽसौ न च त्वं भवसि। सर्वकालं आजन्मावधि किं बहुना उक्तेन वर्जनीयविषयवचनं कथ्यते, जातिकुलरूपव्याधिरोगेण चाऽपीति यद्भवति पीडाकारितवचनं तद् सत्यमपि वर्जनीयमित्यर्थः, इह जात्यादीनां समाहारद्वन्द्वः, तत्र जातिर्मातृपक्षः कुलं-पितृपक्षः रूपं सुभगता व्याधिः-कुष्टादिरोगः, शीघ्रघाती ज्वरादिः वा-विकल्पे अपि-पुनरर्थे दुहओत्ति द्रोहवान् त्वं अथवा दुहतो-द्विधा द्रव्यतो भावतश्च उपचारं पूजामतिक्रान्तः एवंविधस्त्वं एवं सद्भूतार्थमपि न वक्तव्यं।

अथ कीदृशं? पुनर्वाच्यं पुण्णाइत्ति इह पूर्ववाक्यार्थापेक्षयोत्तरवाक्यार्थस्य विशेषद्योतनार्थं सत्यमपि भाषितव्यं। यत् तत् तद्द्रव्यैः त्रिकालवर्त्तिभिः पुद्गलादिभिः, वस्तुपर्यवैश्च नवीनपुराणादिभिः, क्रमवर्त्तिभिश्च गुणैर्वर्णादिभिः, सहभाविभिः कर्मभिः कृष्यादिव्यापारैः उत्क्षेपणावक्षेपणादिभिर्वा, बहुप्रकारैः शिल्पैः चित्रकर्मादिविज्ञानैश्च आगमाः सिद्धांतार्थास्तैः युक्तं। पुनः कीदृशं सत्यं नाम द्विधा व्युत्पन्न-अव्युत्पन्नभेदात् तत्र व्युत्पन्नं देवदत्तादि अव्युत्पन्नं डित्थ डवित्थादि, आख्यातपदं-क्रियापदं आत्मनि परस्मै उभयपदीरूपं ॥५२॥
त्रिकालात्मकं तं यथा-अकरोत् करिष्यति करोतीत्यादिरूपं तद् तदर्थद्योतनाय तेषु तेषु स्थानेषु योजनीयं, निपतन्ति तथा तथार्थद्योतनार्थेषु ते निपाताः च वा ह खलु इत्यादिरूपाः, तथा उपसृज्यन्ते-धातुसमीपे इत्युपसर्गाः अर्थो बलात्कारेण धातुना यैः कृत्वा प्राप्यते

यथा-प्र-परा-सम्-अपि-अनु इत्यादिरूपाः, यथा तस्मात् हितं तद्धितं इत्यादि अर्थाभिधायका ये प्रत्ययास्ते तद्धिताः तदंतं पदं तद्धितपदं यथा-अण् इकण् इत्यादिप्रत्ययाः यथा गोरपत्यं गव्यः, नाभेरपत्यं नाभेय इत्यादिकं, तथा समसनं समासः अनेकेषां पदानामेकीकरणरूपं वा तथा अनेकासां विभक्तीनामेकविभक्तीकरणं तत्पुरुष-द्वन्द्व-बहुव्रिहि-द्विगु-कर्मधारयसमासास्तेषां पदं समासपदं यथा राजपुरुष इत्यादिरूपं, सन्धिरन्योऽन्यसंयोजना तत्पदं सन्धिपदं यथा दधीदं भवत्यत्रेत्यादिरूपं, तथा पदं विभक्त्यन्तं सुबन्तं तिङन्तं च, यथा घटः। हेतुः-साध्याऽविनाभूतत्वलक्षणो यथा नित्यः शब्दः कृतकत्वात्, पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमादित्यादि हेतुपदं, यौगिकं यदा तेषामेव द्व्यादिसंयोगेन एकनामकरणं यथा पद्मनाभः नीलकन्तः इत्यादिरूपं यौगिक पदं तथा उपकरोति सेनया अभियाति अभिषेणयति इत्यादिरूपं वा यौगिकं, उणादिकं यथा उकण् प्रत्ययान्तं भिक्षुः भैक्ष्यमिति तथा अत-सातत्यगमने अतति सातत्येन नैरन्तर्येण गच्छति तान् तान् भावान् पर्यायानिति आत्मा अत्र मनिद्र प्रत्यय उणादिकः आशु स्वादु इत्यादि उणप्रत्ययान्तं। तथा क्रियाविधानं सा च क्रियाविधिः कान्तप्रत्ययान्तविधिरिति यथा पचति इति पाकः एवं पाठकः कुम्भं करोतीति कुम्भकारः इत्यादि सिद्धक्रियाविधिपदं अथा धातवो-भ्वादयः भू-सत्तायां अस्-भुवि डुकृञ्-करणे इत्यादिरूपाः। स्वरा-अकारादयः षड्जादयो वा क्वचिद्रसा इति पाठः तत्र रसाः शृङ्गारादयो नव यथा—

शृङ्गार१, हास्य२ करुणा३, रौद्र४ वीर५ भयानकाः६ बीभत्सा७ द्भुत८ शांताश्च९ नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥१॥

विभक्तयः-प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमी सम्बोधनी चेत्यादिरूपाः, सप्तवर्णाः कादयः व्यञ्जनानि, स्वराः

तिकलं दसविहंपि सचं जह भणियं तह य कम्मुणा होइ दुवालसविहा होइ, भासा, वयणंपिय होइ सोलसविहं,

ह्रस्व१ दीर्घ२ प्लुता३ ख्या मात्रोच्चारणकालविशेषरूपा एभिः युक्तं एकस्मिन् शब्दे नाम्नि वा यत्र तत् सत्यवाक्त्वेन प्ररूपितमिति।

अथ तदेतत् सत्यं भेदत आह त्रैकाल्यं त्रिकालविषयं दशविधमपि सत्यं भवतीति योगः, तत्र दशविधं सत्यं भाषाभेदेषु पूर्वमुक्तं जणवय-संमय-ठवणे ति गाथायां यथा भणितं येन प्रकारेण दशविधं सत्यं सद्भूतार्थतया भवति तथा तेनैव प्रकारेण कर्मणा वा अक्षरलेखनादिक्रिया सद्भूतार्थक्रियाऽपि सत्यरूपैव कार्या एतावता न केवलं दशविधं सत्यं वाच्यं किन्तु हस्तकर्मादिक्रिया लेखनादिक्रियाऽपि अव्यभिचारितयैव कर्त्तव्या परव्यसनसाऽकुटिलाध्यवसायस्य च तुल्यत्वादिति। तथा द्वादशविधा च भवति भाषा यथा-प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाच-सौरसेन-अपभ्रंशाख्याः तत्र अपभ्रंशस्य देशविशेषेण भूरिभेदाः इयमेव षड्विधा भाषा गद्य-पद्यभेदेन द्वादशधा भवतीति। यथा वचनमपि षोडशविधं भवतीति तदाऽऽह-

वयणतियं लिंगतियं कालतियं तह परोक्ख पच्चक्खं ११ अवणीयाइ चउक्कं १५ अज्झत्थं चेव सोलसमं॥१॥

व्याख्या-तत्र वचनत्रयं एकवचन-द्विवचन-बहुवचनरूपं यथा घटः घटौ घटाः वृक्षः वृक्षौ वृक्षाः देवः देवौ देवाः इत्यादि रूपत्रयं। लिङ्गत्रयं स्त्रीपुंनपुंसकरूपं, कुमारी वृक्षः कुण्डं, कालत्रिकं अतीतानागतवर्त्तमानरूपं यथा अभूत्-भविष्यति भवति अकरोत् करिष्यति करोति। तथा प्रत्यक्षं करोति असौ इदं कार्यं पठनादिकं, परोक्षं यथा कृतमनेन कार्यं ह्यस्तने दिने, उपनीतवचनं यथा-गुणौघोपनयनरूपं यथा रूपवानयं मनीषी इत्यादिरूपं, १ अपनीतवचनं यथा-गुणापमयनरूपं यथा-दुःशीलोऽयं दुर्भाषणोऽयं २ उपनीत-अपनीतवचनं यत्र एकादिगुणं वर्णयित्वा पश्चादपनीतगुणवाक्यं उच्यते यथा-रूपवान्-अयं किन्तु दुःशीलः ३ विपर्ययेणाऽपि

द्वितीय संवरद्वारे षोडशविध-वचन स्वरूपम्

एवं अरहंतमणुन्नायं समिक्खियं संजएण कालंमि य वत्तव्वं (सू० २४)

इमं च अलियं पिसुण-फरुस-कडुय-चवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेचाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं, अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाणं विओसमणं, तस्स इमा पंच

अपनीत-उपनीतवचनं भवति दुःशीलः परं रूपवानित्यपि भवति ४ अध्यात्म वचनं यथा-अभिप्रेतमर्थं गोपयितुकामस्य सहसा तस्यैव भणनं यथा दुःखितोऽहमिति अथवा आत्मानं अधिकृत्य अध्यात्मभावनया यत् योजनं तदप्याध्यात्ममुच्यते इत्यादिभाषात्मकं सत्यादि स्वरूपावधारणप्रकारेण यत् भवति तदनुज्ञातं साधूनां भाषात्वेनोपादनीयमित्यर्थसमर्थना सर्वत्र कार्या। ननु जिनानुज्ञातमपर्यालोचितं संयतेनाऽकाले न वक्तव्यमिति हृदयं। यदाऽऽह वृत्तिकारः-

वुद्धिए निएउणं भासेज्ञा उभयलोय परिसुद्धं। सपरोभयाण जं खलु न सव्वहा पीडजणगं तु ॥१॥

एतदर्थमेव जिनशासनमिति। एवमित्थंभूतं यद्वचनं तदर्हता भगवता अनुज्ञातं, समीक्षितबुद्ध्या पर्यालोचितं संयतेन-संयमवता काले-अवसरे वक्तव्यं।

इदं च प्रत्यक्षं प्रवचनमिति योगः, अलीकमसद्भूतार्थं पिशुनं-सूचकं परोक्षस्य परस्य च दूषणोद्भावकं अतएव परुषं-अनाश्रयं भाषाकटुकमनिष्टार्थं, चपलं-उत्सुकतया असमीक्षितं यद्वचनं-वाक्यं तस्य परिरक्षणार्थं रक्षायै शासनमिदं प्रवचनमित्यर्थः भगवता-श्रीमहावीरेण, सुष्ठु शोभनतया कथितं, आत्महितं-जीवस्य हितहेतुकं, प्रेत्य-परलोकभावनया युक्तं, अतएव आगमिष्यद्भद्रं-भावि-

---

१ बुद्ध्या विचार्य भाषेतोभयलोकपरिशुद्धं। स्वपरोभयेषां यत् खलु न सर्वथा पीडाजनकं तु॥

भावणाओ। बितियस्स वयस्स अलियवयणस्स वेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं सोऊण संवरट्ठं परमट्ठं सुद्धं जाणिऊण न वेगियं, न तुरियं, न चवलं, न कडुयं, न फरुसं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं सावज्जं, सच्चं च हियं च मियं च गाहगं च सुद्धं संगयमकाहलं च समिक्खितं संजतेण कालंमि य वत्तव्वं। एवं अणुवीतिसमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा संजय करचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपुन्नो।

कल्याणकारि, शुद्धं-निर्दोषं, न्यायोपपन्नं-नैयायिकं, अकुटिलं-ऋजुत्वात्, नास्ति अस्मादुत्तरं प्रधानं अन्यत् किमपि, अतएव सर्वदुःखपापानां-शुभाशुभकर्मणां विशेषेण उपशमनकारकं, तस्य द्वितीयव्रतस्य इमा अग्रे वक्ष्यमाणाः पञ्चभावनाः चिन्तनीयाः।

द्वितीयव्रतस्य-अहिंसापेक्षया, अलीकवचनस्य वेरमणं-विरतिः तस्याः परि-सामस्त्येन रक्षणार्थं प्रथमभावनां अनुचिन्त्य समितियोगलक्षणसाधुः आकर्ण्य सद्गुरुसमीपे संवरट्ठंति-संवरस्य प्रस्तावात् मृषावादविरमणस्य प्रयोजनलक्षणं तदेव अर्थः प्रयोजनं यस्य तथा तं, परमार्थं हेयोपादेयवचनैः सुष्ठु-सम्यग्तया एतत् ज्ञात्वा न-नैव निषेधे वेगवत्-विकल्पवत् संशयापन्नं न त्वरितं शीघ्रत्वेनाऽविमृश्य, न चापल्यं चपलस्वभाववत्, न कटुकं अर्थात् परिणामे विरसं, न परुषं कठिनं वर्णतः, न साहसं साहसप्रधानं अतर्कितं, न च परस्य जन्तोः पीडाकरं मानसिकदुःखोत्पादकं, सावद्यं-सपापं प्राणापहारित्वात् सत्ये नैव वक्तव्यं ? कीदृशं पुनर्वक्तव्यं तदाऽऽह-सत्यं-सद्भूतार्थं हितं आयतौ हितं पथ्यं तोषोत्पादनतः, मितं परिमिताक्षरं, ग्राहकं प्रतिपाद्यार्थस्य प्रतीतिजनकं, शुद्धं-पूर्वोक्तदोषरहितं, संगतं-उपाधिरहितं, अकाहलं अमन्मनाक्षरं, समीक्षितं पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोचितं, एतादृशं संयमवता-साधुना काले-अवसरे वक्तव्यं नाऽन्यथा। एवममुना प्रकारेण अनुचिन्त्य-पर्यालोच्य, भाषणरूपया समित्या सम्यग्योगयुक्तो भवति अन्तरात्मा-जीवः सम्यग्यतना-

द्वितीय संवरद्वारे सत्यव्रत भावनाः

Avoid ✓ बितियं कोहो ण सेवियव्वो, कुद्धो चंडिक्किणो मणूसो अलियं भणेज्ज, पिसुणं भणेज्ज, फरुसं भणेज्ज, अलियं पिसुणं फरुसं भणेज्ज, कलहं करेज्जा, वेरं करेज्जा, विकहं करेज्जा, कलहं वेरं विकहं करेज्जा, सच्चं हणेज्ज, सीलं हणेज्ज, विणयं हणेज्ज, सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज, वेसो हवेज्ज, वत्थुं भवेज्ज, गम्मो भवेज्ज, वेसो वत्थुं गम्मो भवेज्ज, एयं अन्नं च एवमादियं भणेज्ज कोहग्गिसंपलित्तो तम्हा कोहो न सेवियव्वो। एवं खंतीइ भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो,

---

युक्तः करचरण-नयन-वदनः समाहितेन्द्रियः सन् शूरः-पराक्रमी सत्यार्जवसंपन्नो भवति एषा प्रथमा भावना १

द्वितीयभावनायां क्रोधनिग्रहणं तदेवाऽऽह-क्रोधो न सेवितव्यः कस्माद्धेतोस्तदाऽऽह-क्रुद्धः-कुपितः चाण्डिक्यं-रौद्ररूपत्वं सञ्जातं अस्येति चांडिक्यितो मनुष्यो-नरः अलीकं भणति-मिथ्या भाषते, पिशुनं-मर्म भाषते, परुषं कर्कशं भाषते, अलीकं पिशुनं परुषं त्रयमपि भाषते, कलहवाक् कलहं करोति, वैरं करोति, विकथां-परासमंजसभाषणं करोति, विकथां क्रियमाणः कलहं वैरं विकथां त्रयमपि कुर्यात्, सत्यं-सद्भूतार्थं हन्यात्-नाशयेत्, शीलं-सदाचारं नाशयेत्, विनयं-मानाभावं नाशयेत्, सत्यं शीलं विनयं त्रिकमपि हन्यात्-नाशयेत्, वेषो-द्वेष्योऽप्रियो भवेत्, वस्तु-गृहं दोषाणामिति शेषः दोषवेश्म भवेत्, गम्यं परिभवस्थानं भवेत्, वेश्यो वस्तु-गम्यं त्रयमपि भवेत्, एतत् अन्यत् वक्तव्यातिरिक्तं एवमादिकमेवजातीयं भणति, क्रोधाग्निप्रदीप्तः सन् सम्यक् प्रज्वलितो भवति, तस्मात् क्रोधो न सेवितव्यः। एवं प्रकारेण क्षान्त्या-उपशमेन प्रकर्षेण भावितो भवति, अन्तरात्मा-जीवः सम्यक् यतनायुक्तः करचरणनयनवदनः समाहितेन्द्रियः सन् शूरो-पराक्रमी सत्यार्जवसंपन्नो भवति इति द्वितीयभावना २

तितियं लोभो न सेवियव्वो लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, खेत्तस्स व वत्थुस्स व कतेण १ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कित्तीए लोभस्स व कएण २ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, रिद्धीय व सोक्खस्स व कएण ३ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, भत्तस्स व पाणस्स व कएण ४ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, [पीढस्स व फलगस्स व कएण ५ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं,] सेज्जाए व संथारकस्स व कएण ६ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, वत्थस्स व पत्तस्स व कएण ७ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, कंबलस्स व पायपुंछणस्स व कएण ८ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, सीसस्स व

अथ तृतीयायां भावनायां लोभो न सेवितव्यः कस्मादित्याह-

लुब्धो-लोभवान्, लोलो-व्रते चपलः भणेद्-भाषयेत् अलीकं-कूटवचनं क्षेत्रस्य ग्रामनगरादेः सेतु-केतूभयात्मकस्य वा वास्तु-गृहं खात-उच्छ्रित-उभयात्मकं भूमिर्वा तस्य कृते तदर्थं लुब्धो-लोभवान् लोलो भणेज्ज इति पूर्ववदर्थः, कीर्त्तिः ख्यातिः तदर्थंकृते तथा लोभस्य परिवारादीनां पुष्टिकृते औषधादिप्राप्तिहेतोः लुब्धो लोभवान् लोलो-व्रते चपलः भणेत्-भाषयेत् अलीकं-कूटवचनं २। ऋद्धिः-संपत् तस्याः कृते सुखहेतोः शीतलछायादिसुखहेतोः कृते लुब्धो लोलो भाषयेत् अलीकं ३। तथा भक्तस्य-अशनस्य पानस्य च कृते लुब्धो-लोलो भाषयेत् अलीकं ४। [पीठस्य कृते फलकस्य कृते वा लुब्धो लोलो भाषयेत् अलीकं। ५।] सिज्जा-वसतिः तदर्थं एवं संस्तारकस्य कृते यत्र प्रसारितपादैः सुप्यते सा शय्या तस्याः कृते अर्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः संस्तारकः तस्य कृते [लुब्धो लोलो] अलीकं भाषयेत् ६। वस्त्रं-चोलपट्टादि, पात्रं-अशनादिग्रहणभाजनं तयोः कृते लुब्धो-लोलो भाषयेत् अलीकं ७। कम्बलं-उर्णामयं वस्त्रं पादप्रोञ्छनं कम्बलखण्डः रजोहरणादिर्वा तस्य कृते लुब्धो-लोलो भाषयेत् अलीकं ८। शिष्यस्य साधोः शिष्यिणी-साध्वी

१. एतत्पङ्क्तिस्तट्टीका च अत्र नास्ति किन्तु अभयदेवसूरिकृत वृत्तौ द्वयमपि विद्यते।

द्वितीय संवरद्वारे सत्यव्रत भावनाः

सिस्सीणीए व कएण ९ लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसतेसु लुद्धो लोलो भणेज्ज अलियं। तम्हा लोभो न सेवियव्वो, एवं मुत्तीय भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। चउत्थं न भाइयव्वं भीतं खु भया अइंति लहुयं भीतो अबितिज्जओ मणूसो भीतो भूतेहिं घिप्पइ भीतो अन्नंपिहु भेसेज्जा, भीतो तवसंजमंपिहु मुएज्जा, भीतो य भरं न नित्थरेज्जा, सप्पुरिसनिसेवियं च मग्गं भीतो न समत्थो अणुचरिउं, तम्हा न भातियव्वं, भयस्स वा वाहिस्स वा रोगस्स वा जराए वा मच्चुस्स वा

तस्याः कृते लुब्धः लोलुपः भाषयेत् अलीकं ९। अन्येषु-इत्यादिप्रकारेषु बहुषु कारणशतेष्वपि व्यक्तमेव लुब्धो लोलो भणति अलीकं तस्माद्धेतोर्लोभो न सेवनीयः, एवममुना प्रकारेण मुक्तिर्निर्लोभता तया भावितो भवति अन्तरात्मा-जीवः सम्यक्तया वशीकृतः सुसमाहितकरचरणनयनवदनः शूरः सत्यार्जवसंपन्नः। एषा तृतीया भावना ३

अथ चतुर्थी भावना-न भेतव्यं अंतरभाव निषेधं, खु-वाक्यालंकारे भीतः पुमान् अइति एति आगच्छति किं लघुकं सत्त्वसार-वर्जितत्वेन तुच्छं-आत्मानं वेदते लघुकं शिघ्रं तथा भीतो अद्वितीयः सहायो न भवति कस्याऽपि मनुष्यो-नरः, भीतो-भूतैः प्रेतैर्वा गृह्यते अधीश्रीयते-आश्रीयते। तथा भीतः अन्यमपि भापयेत्, भीतः तपःप्रधानः संयमः तपःसंयममपि हुर-लंकारे मुच्येत्-त्यजेत् अलीकमपि ब्रूयादिति रहस्यं अहिंसादिरूपत्वात् संयमस्योक्तत्वात्, भीतः पुमान् महत्कार्यादि न निस्तरेत्-निर्वाहयेत्, सत्पुरुषैर्धीरपुरुषैर्निषेवितं-सेवितं मार्गं सम्यक्-ज्ञानक्रियादिकं अनुचरितं-आसेवितं न समर्थो भवति। यत एवं तस्माद्धेतोः न भेतव्यं भयहेतोर्बाह्यात् दुष्टतिर्यग्मनुष्यदेवादेः तथा आत्मोद्भवादपि न भेतव्यं, तानेवाऽऽह-व्याधेः-कुष्टादेः क्रमेण प्राणापहारिणः रोगात् वा

अन्नस्स वा एवमादियस्स एवं धेज्जेण भाविओ भवति अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो। पंचमकं हासं न सेवियव्वं अलियाइं असंतकाइं जंपंति हासइत्ता परपरिभवकारणं च हासं, परपरिवायप्पियं च हासं,परपीलाकारगं च हासं, भेदविमुत्तिकारकं च हासं,अन्नोन्नजणियं च होज्ज हासं,अन्नोन्नगमणं च होज्ज मम्मं अन्नोन्नगमणं च होज्ज कम्मं कंदप्पाभियोगगमणं च होज्ज हासं, आसुरियं किब्बिसत्तणं च जणेज्ज हासं, तम्हा

शीघ्रतरं प्राणापहारकात् ज्वरादेः जरा–वयोहानिरूपा तस्याः मृत्योर्मरणाद्वा, अन्यस्माद्वा तादृशात् इष्टवियोगादेः इत्येवमादिकात् भयोत्पादकात् न भेतव्यं, एवमनया भावनया धैर्येण सत्वेन भावितो भवति, अन्तरात्मा–जीवः संयतः साधुः वशीकृतकरचरण-नयनवदनः शूरः पराक्रमवान् संयमसाधने सत्यार्जवसंपन्नो युक्तः ४ इति चतुर्थीभावना

अथ पञ्चमीभावना तस्यां पञ्चमीभावनायां किं वस्तु इत्याह–यदुत हास्यं न सेवितव्यं परिहासो न विधेयः यतः अलीकानि सद्भूतार्थनिह्नवरूपाणि असंन्ति असद्भूतार्थानि वचनानि अशोभनानि वा अनुपशमप्रधानानि जल्पन्ति ब्रुवते, हासइत्तेत्ति हासवन्तः परिहासकारिणः–परपरिभवकारणं च हास्यं अपमानताहेतुरित्यर्थः, परपरिवादान्यदूषणाभिधायकं प्रियं–इष्टं यस्मिन् हास्ये भवति, परेषां पीडारकं हास्यं भवति, भेदश्चारित्रभेदः विमुक्तिर्विगतनिःस्पृहत्वं अथवा विमूर्त्तिर्विकृतनयनवदनादित्वेन विकृतशरीराकृतिः तद्भेदका· रकं हास्यं सीता उपहास्येन संग्रामो जात इति संप्रदायः। अन्योऽन्यं परस्परं जनितं कृतं हास्यं भवेत्, अन्योऽन्यं गमनमधिगमकं मर्मादिस्थानकप्रापकं हास्यं भवति, तथा परस्परं गमनं दुश्चेष्टितादिकर्मप्रच्छन्नपारदार्यादि मर्मोद्घाटनं हास्यं भवेत्, कांदर्पिका हास्यकारिणो देवविशेषाः भांडविशेषा वा आभियोगाश्च अभिओगा निर्देशकारिणः देवा वा तेषु गमनहेतुत्वात् तत्प्रापणगविहेतु हास्यं

भवेत्, आसुरियत्वं किल्विषत्वं च हास्यं भवेत् तद्गतिप्राप्तिहेतु हास्यं तस्मात् हास्यं न सेवितव्यं भवति,

अयमभिप्रायो यथा हास्यरतिः हास्यप्रियः साधुश्चारित्रलेशप्रभावात् देवेषु उत्पद्यमानः कांदर्पिकेषु आभिओगेषु च उत्पद्यते न महर्द्धिषु इति हास्यः अनर्थायेति उक्तं यदुक्तं–

जो संजओ वि एयासु अप्पसत्थासु वट्टइ कहिं चि सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरण विहीणो ॥१॥

[1]कंदर्प्पाभिभावनानां अशुभं पञ्चकं च प्रसङ्गात् गाथाभेदेनाऽऽह–

[2]कंदप्पदेव१ किब्बिस२ अभिओगा३ आसुरिय४ संमोहा५ एसा हु अप्पसत्था पंचविहा भावणा तत्थ ॥१॥

व्याख्या—कंदर्प्पः कामस्तत्प्रधाना नर्मादिनिरन्तरया विटप्राया देवविशेषास्तेषामियं कांदर्प्पी स चासौ भावना च कांदर्प्पिकी भावना१ एवं देवानां मध्ये किल्विषाः पापाः अतएवास्पृश्यादिधर्मका देवाश्च ते किल्बिषास्तेषामियं किल्विषीकी स चाऽसौ भावना च किल्बिषी भावना २ आ–समन्तात् आभिमुख्येन युज्यन्ते–दासकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः–किङ्करस्थानीयदेवविशेषास्तेषामियमाभियोगिकी स चाऽसौ भावना च आभियोगिकी भावना ३ असुरा–भवनपतिविशेषदेवास्तेषामियं आसुरी स चाऽसौ भावना च आसुरीभावना ४ संमुह्यंतीति संमोहा मूढात्मनो देवविशेषास्तेषामियं संमोही एषा हु–निश्चितं पञ्चविधाऽपि भावना अप्रशस्ता–संक्लिष्टा-भावनास्तत्तत्स्वभावाभ्यासरूपा भणितेत्यर्थः, आसां च मध्ये संयतोऽपि सन् यो यस्यां भावनायां वर्त्तते कथञ्चिद्भाववैषम्यात् सात-

१. प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १८०-१ गत गाथा ६४१ वृत्तौ एतत्पद्यमुपलभ्यते । २ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९ गत ६४१ गाथा

द्विधेष्वेव-कंदर्प्पादिप्रकारेषु देवेषु गच्छति चारित्रलेशप्रभावात् , यः पुनः सर्वथा चारित्रहीनः स भाज्यो विकल्पनीयः कदाचित्तदुचितेषु सुरेष्वेवोत्पद्यते कदाचिच्च नारकतिर्यक्षु मानुषेष्विति एताश्च पञ्चाऽपि भावनाः प्रत्येकं पञ्चविधाः सत्यः पञ्चविंशत्यो भवन्ति तासां भेदानाऽऽह-प्रथमपञ्चविधां कान्दर्पीभावनामाह—

[2]कंदप्पे१कुक्कुए२ दुस्सीलत्ते य३ हासकरणे य४ परविम्हियजणणेविअ कंदप्पोऽणेगहा तह य ॥१॥

व्याख्या—कन्दर्पे १ कौकुच्ये २ दुःशीलत्वे ३ हासकरणे ४ परविस्मयजननेऽपि च विषये भवन्ति पञ्च प्रकाराः परमेकका अनेकधातत्र उच्चैःस्वरेण हसनं तथा परस्परपरिहासः तथा गुर्वादिना सह निष्ठुरवाक्यं हास्यादिना स्वेच्छालापः तथा कामकथाकथनं एवं च कुरु इति विधानद्वारेण कामोपदेशस्तथा कामप्रशंसा कंदर्प्पशब्देनोच्यते, कुकुचो-भांडचेष्टा तद्भावः कौकुच्यं तद् द्वेधा-कायकौकुच्यं वाक्कौकुच्यं तत्र कायकौकुच्यं यत् स्वयमेव हसन् भ्रूनयनादिभिर्देहावयवैर्हास्यकारकैस्तथा चेष्टां करोति, वाक्कौकुच्यं यथा-परिहासप्रधानैस्तैस्तैर्वचनजातैर्विविधजीवविरुतैर्मुखातोद्यवादितया च परं हासयतीति २ तथा दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स तद्भावः दुःशीलत्वं, तत्र यत्संभ्रमावेशवशात् अपर्यालोच्य [3]द्रुतं द्रुतं भाषते यच्च शरत्काले कन्दर्पोद्धुरप्रधानाऽनस्तितबलीवर्द इव द्रुतं द्रुतं गच्छति यच्च सर्वत्राऽसमीक्षितकार्यं द्रुतं द्रुतं करोति यच्च स्वभावस्थितोऽपि तीव्रोद्रेकवशाद्दर्पेण स्फुटं नीचचलद्भवति तद् दुःशीलत्वं ३ तथा भांड इव परेषां छिद्राणि-विरूपवेषभाषणविषयाणि निरन्तरमन्वेषयन् विचित्रैस्तादृशैरेव वेषवचनैर्यद् द्रष्टॄणामात्मनश्च हासं जनयति

द्वितीय संवरद्वारे अशुभ पञ्च विंशति भावना-स्वरूपम्

१ एतदर्थो 'जो संजओ' पद्यस्य ॥ २ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७२ गत ६४२ गाथा । ३ 'हुतं' स्थाने 'द्रुतं' प्र. सारोद्धारात् स्फुटीकृतं

तत् हास्यकरणं ४ तथा परेषां विस्मयजनकैः तथा इन्द्रजालप्रभृतिभिः प्रहेलिकाकुहेटिकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यत्स्वयमविस्मयमानो बालिशप्रायजनस्य मनोविभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननं ५

अथ दैवकिल्बिषीभावनामाह—

सुयनाणं१ केवलीणं२ धम्मायरियाण३ संघ४साहूणं ५। माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ ॥१॥

श्रुतज्ञानस्य द्वादशांगरूपस्य १ केवलज्ञानवतां २ धर्माचार्याणां—धर्मोपदेष्टॄणां ३ संघस्य—साधुसाध्वीश्रावकश्राविकासमुदायस्य४ साधूनां—यतीनां ५ अवर्णो—अश्लाघा असद् दोषोद्घाटनं वदतीति अवर्णवादी मायी च स्वशक्तिनिगूहादिना मायावी देवकिल्बिषीभावनां करोति इति वाक्यार्थः। श्रुतज्ञानस्याऽवर्णवादो यथा—पृथिव्यादयः कायाः षड्जीवनिकायाः शस्त्रपरिज्ञाध्ययनादिषु बहुशो यथा वर्ण्यन्ते। तथा व्रतानि—प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनि प्रमादा—मद्यादयः अप्रमदास्तद्विपक्षभूता भूयः भूयः कथ्यन्ते, अधिकं अधिकं न किञ्चिदपि पुनरुक्तदोषः। अन्यच्च मोक्षार्थं यतितव्यमिति हेतोः किं सूत्रे सूर्यप्रज्ञप्त्यादिना ज्योतिःशास्त्रेण? तथा मोक्षार्थमभ्युद्यतानां मुनीनां किं योन्यादिप्राभृतोऽपनिबन्धनेन? भवहेतुत्वात्तस्य किं प्रयोजनमित्याद्यवर्णवादः, केवलिनामवर्णवादो यथा—किमेषां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवत उत युगपत्? तत्र यदि क्रमेणेति पक्षोऽङ्गीक्रियते, तदा ज्ञानकाले न दर्शनं दर्शनकाले न ज्ञानमिति परस्परावरणता प्राप्तैव कथं निरावरणता।

अथ युगपदिति द्वितीयपक्षः कक्षीक्रियते तदप्ययुक्तः द्वयोरप्येककालत्वादेकतापत्तिः प्राप्नोति, तदा स्वस्वावरणक्षयात्को गुण

१ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९ गत गाथा ६४३

इत्यवर्णवादः २ धर्म्माचार्याणां अवर्णवादो यथा न शोभनैतेषां जातिर्नैते लोकव्यवहारकुशला न चैते औचित्यं विदन्ति इत्यादि त्रिविधं गुरून् प्रति भाषते, न चैतेषां विनयवृत्त्या वर्त्तते तेषां ये प्रातिकूल्यभाजस्तैः सह सांगत्यमिति,तथा अहितछिद्राण्यन्वेपयन् सर्वसमक्षं गुरूणामेवाऽसतोऽपि दोषान् वदति सर्वदैव च तेषां प्रतिकूलतामाचरतीति ३ संघस्यावर्णवादो यथा–बहवः श्वापशुशृगालादीनां संघास्तत्कोऽयं संघो भवतामाराध्य इति वदति ४ साधूनामवर्णवादो यथा–नाऽमी साधवः परस्परं सहन्ते, अत एव देशान्तरं परस्परस्पर्द्धया भ्रमन्ति अन्यथा त्वेकत्रैव संहत्या तिष्ठेयुः, तथा मायाचितया सर्वदैव लोकावर्जनार्थं मन्दगामिनः, महतोऽपि च प्रकृत्यैव निष्ठुरास्तदैव रुष्टास्तदैव च तुष्टाः, तथा गृहिभ्यस्तैस्तैः चाटुवचनैरात्मानं रोचयन्ति, सर्वदा सर्ववस्तुसंचयपराश्चेत्यवर्णवादः ५ अन्यत्र सव्वसाहूणंति पठित्वा मायीति भिन्नेव पञ्चमी भावना प्रतिपादिता यथा–

गूहइ आयसहावं छायेई गुणे परस्स संतेवि। चोरोव्व सव्वसंकी गूढाचारो हवइ मायी ॥१॥

अथाभियोगीभावनां पञ्चभेदामाऽऽह—

कोउय १ भूइकम्मे २ पसिणेहिं ३ तह पसिणपसिणेहिं ४ तहय निमित्तेणं च्चिय ५ पंचवियप्पा भवे सा य ॥१॥

व्याख्या—कौतुकेन १ भूतिकर्मणा २ प्रश्नेन ३ प्रश्नाप्रश्नेन ४ निमित्तेन ५ पञ्चविकल्पा भवेत् सा आभियोगिकीभावना, तत्र कौतुकं बालादीनां रक्षादिकरणनिमित्तं स्नपनकरभ्रमण–अभिमन्त्रण–थूथूकरण–धूपन–विलेपनादि यत्क्रियते तत् कौतुकं १ तथा वसतिशरीरभाण्डकशय्याधान्यादिरक्षणार्थं भस्मसूत्रादिना यत्परिवेष्टनकरणं तद्भूतिकर्म्म २ तथा यत्परस्य पार्श्वे लाभालाभादि पृच्छयते

१ प्रवचनसारोद्धार १८१ पृष्ठ गत ६४३ गाथा वृत्तौ पतत्पद्यं । २ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९ गत गाथा ६४४

स्वयं या अंगुष्ठदर्पणतोयखड्गतैलादिषु दृश्यते स प्रश्नः ३ तथा स्वप्ने स्वयं विद्यया कथितं घंटिकायवतीर्णदेवतया वा कथितं सद् यदन्यस्मै शुभाशुभजीवितमरणादि परिकथयति स प्रश्नाप्रश्नः ४ तथा निमित्तं अतीतानागतवर्त्तमानवस्तुपरिज्ञानहेतुर्ज्ञानविशेषः ५ एतानि च भूतिकर्मादीनि गौरवादिनिमित्तं कुर्वाणः साधुरभियोगनिमित्तं कर्म्म बध्नाति, अपवादपदेन तु गौरवरहितः सन्नतिशय-ज्ञाने यतिर्निस्पृहवृत्त्या यदा करोति तदाऽसौ आराधक एव उच्चगोत्रं च बध्नाति तीर्थोन्नतिकरणादिति ३ ।

अथासुरीभावनाभेदानाऽऽह—

सइविग्गहशीलत्तं १ संसत्ततवो २ निमित्तकहणं च ३ निक्किवियावियअवरा ४ पंचमगं निरणुकंपत्तं ॥१॥

व्याख्या—सदा विग्रहशीलत्वं १ संसक्ततपः २ निमित्तकथनं च३ निःकृपतापि अपरा ४ पञ्चमकं निरनुकम्पत्वं ५ सदा—सर्वकालं विग्रहशीलत्वं पश्चादननुतापितया क्षमणादावपि प्रसत्त्य प्राप्त्या च विरोधानुबन्धः १ । तथा संसक्तस्याहारोपधिशय्यादिषु सदा प्रतिबद्धभावस्य आहाराद्यर्थमेव तपोऽनशनादितपश्चरणं संसक्ततपः २ तथा त्रिकालिकस्य लाभालाभसुखदुःखजीवितमरणविषयस्य निमित्तस्य कथनमभिमानाभिनिवेशाद्व्याकरणं तथा त्रिविधनिमित्तमप्येकैकं षड्विधं तदपि द्विविधमेवेति ३ तथा स्थावरादिसत्त्वेष्व-जीवप्रतिपत्त्या गतघृणः कार्यान्तरव्यासक्तः सन् गमनासनादि यः करोति कृत्वा च नाऽनुतप्यते केनचिदुक्तः सन् स निःकृपस्तद्भावो निःकृपता ४ तथा यः परं कृपापात्रं कुतश्चिद्धेतोः कम्पमानमपि दृष्ट्वा सत्क्रूरतया कठिनभावः सन् अनुकम्पाभाग् न भवति स निरनु-कम्पस्तद्भावो निरनुकम्पत्वं ५ । अथ संमोहीभावनापञ्चभेदानाऽऽह—

उंमग्गदेसणा १ मग्गदूषणं २ मग्गविपडिवित्तीय ३ मोहो य मोहजणणं ५ एवं सा हवइ पंचविहा ॥१॥

---

१ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९ गत गाथा ६४५ २ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९ गत गाथा ६४६

एवं मोणेण भाविओ भवइ अंतरप्पा संजयकरचरणनयणवयणो सूरो सच्चज्जवसंपन्नो, एवमिणं संवरस्स दारं

व्याख्या—उन्मार्गदेशना १ मार्गदूषणं२ मार्गविप्रतिपत्ति३ मोहो ४मोहजननं च५ एवं संमोही भावना भवति पञ्चविधा, तथा पारमार्थिकानि ज्ञानादीन्यदूषयन् एव तद्विपरीतं धर्म्ममार्गं यदुपदिशति सा उन्मार्गदेशना १ तथा पारमार्थिकं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं भावमार्गं तत्प्रतिपन्नांश्च साधून् पंडितमानी स्वमनीषिकानिमित्तैः जातिदूषणैर्यद् दूषयति तन्मार्गदूषणं २ तथा तमेव ज्ञानादिमार्गं असद्दूषणैर्दूषयित्वा जमालिवद्देशतः उन्मार्गं यत्प्रतिपद्यते सा मार्गविप्रतिपत्तिः ३ तथा निःकामं उपहतमतिः सन् अतिगहनेषु ज्ञानादिविचारेषु यत्मुह्यति यच्च परतीर्थिकसम्बन्धिनीं नानाविधां समृद्धिमालोक्य मुह्यति स संमोहः कुशास्त्राणि बहु मन्यते इत्यर्थः ४।

तथा स्वभावेन कपटेन वा दर्शनाचारेषु परस्परं मोहमुत्पादयति तन्मोहजननं ५ एताश्च पञ्चविंशतिरपि भावना सम्यक्चारित्र-विघ्नविधायित्वादशुभा इति हेतोः यतिभिः परिहर्त्तव्या यदुक्तं—

ऐयाओ विसेसेणं परिहरइ चरणविग्घभूयाओ एय निरोहाउ चिय सम्मं चरणं पि पावंति ॥१॥

प्रसङ्गात् अशुभभावनाविचार उक्तः विस्तरार्थिना तु दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्तिवृत्तितोऽवसेयः इति मङ्गलं भूयात्। एवमुक्तरीत्या हास्यप्रयोगेण वर्जितो मौनेन वचनसंयमेन भावितो भवति अन्तरात्मा—जीवः सम्यक्यतनायुक्तः करचरणनयनवदनः समाधिवान् इन्द्रियः 'शूरः—पराक्रमी' संयमयोगे सत्यार्जवसम्पन्नः। एवमित्युक्तप्रकारेण इदं उक्तं संवरद्वारं। चरितं—सेवितं भवति, सुष्ठु—शोभनतया

१ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १८३ गत पद्यसदृशं पतत्पद्यं। २ अशुभ पञ्चविंशति भावनास्वरूपम् प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ १७९–१८३ पृष्ठोपलब्ध गाथा ६४१–६४६ विवरणतो अन्युनातिरिक्तं अत्रोपन्यस्तं प्रतिभाति, किन्तु प्रवचनसारोद्धारगताशुभभावनाप्रतिपादनपराणि पञ्चविंशतिपद्यानि अत्र न न्यस्तानि

सम्मं संचरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिवि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सव्वजिण-मणुन्नाओ, एवं बितियं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवितं सुदेसियं पसत्थं बितियं संवरदारं समत्तं तिबेमि ॥२॥ (सू० २५)

प्रणिहितं-स्थापितं एभिः पञ्चभिः कारणैः मनवचनकायत्रियोगैः परिरक्षितैः नित्यं-सदा आमरणान्तं-जन्मावधिपर्यन्तं, प्रशान्तयोगः प्रसन्नतां प्राप्तो योगो ज्ञातव्यः, धृतिमता मतिमता श्रीमन्महावीरेण उक्तः अनाश्रवः, अकलुषः, अछिद्रः, अपरिश्रावी, असंक्लिष्टः, सर्वजिनैरनुज्ञातः एवमनुना प्रकारेण द्वितीयं संवरद्वारं स्पर्शितं पालितं शोधितं तीरितं कीर्त्तितं अनुपालितं आज्ञया यथावत् आराधितं भवति एवमनया रीत्या ज्ञातमुनिना भगवता प्रज्ञापितं प्ररूपितं प्रसिद्धं सिद्धवरप्रधानशासनमिदं आघवितं पूजितं कथितं शोभन-रीत्या दर्शितं प्रशस्तं द्वितीयं प्राणातिपातविरमणव्रतापेक्षया अलीकविरमणव्रतं समाप्तिं प्राप्तम् ॥२॥ इति सप्तमाध्ययनविवरणं समाप्तम् ॥२॥ इत्यादि पदानि पूर्ववद्व्याख्यातानीति ॥

इति प्रश्नव्याकरणाङ्गस्य दशमस्य सप्तमाध्ययने किञ्चित् द्वितीयसंवरद्वारार्थः ख्यात इह मयका १

॥ इति प्रश्नव्याकरणे द्वितीय संवरद्वारं संपूर्णम् ॥

॥ अथ तृतीयं संवरद्वारात्मकं अष्टममध्ययनम् ॥

तृतीय संवरद्वारे अदत्तादान-विरमण स्वरूपम्

अथ सूत्रक्रमसम्बन्धः अनन्तराध्ययने मृषावादविरमणं उक्तं, तच्चादत्तादानविरमणव्रतानामेव अदत्तादानविरमणसुनिर्वाहे भवति इत्यदत्तादानविरमणमभिधातव्यं भवति, इति तदनेन प्रतिपाद्यते इत्येवं संबद्धमदत्तादानसंवराध्ययनमारभ्यते तस्य चेदमादिसूत्रम् ।

जंबू ! दत्तमणुण्णायसंवरो नाम होति ततियं सुव्वता ! महव्वतं गुणव्वतं परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंततण्हाणुगय-महिच्छमणवयणकलुस-आयाणसुनिग्गहियं, सुसंजमिय-मणहत्थपायनिहुयं

जम्बूरित्यामन्त्रणं दत्तं-वितीर्णं अशनादिकं अनुज्ञातं च प्रातिहारिकपीठफलकादि ग्राह्यमिति शेषः इत्येवंरूपः संवरः दत्तादानानुज्ञातं संवरं इत्येवनामकं भवति तृतीयसंवरद्वारमितियोगः तत् कीदृशमित्याह-

हे सुव्रत ! हे जम्बूनामन् ! महाव्रतमिदं तथा पुनः कीदृशं गुणानाम्-ऐहिकामुष्मिकोपकाराणां कारणभूतं व्रतं-गुणव्रतं कीदृशं परद्रव्यहरणं प्रति विरतिकरणयुक्तं-विरमणकारणं, अपरिमिता अपरिमाणा द्रव्यविषये या अनन्ता-अक्षया तृष्णा विद्यमानद्रव्याव्ययेच्छा तया यदनुगतं प्राप्तं तत् अपरिमिताऽनन्ततृष्णानुगतमहेच्छं यत्तत्, मनो-मानसं, वचनं-वाक् ताभ्यां यत् कलुषं परधनविषयत्वेन पापरूपं आदानं-ग्रहणं तेन ततो वा नियमितं-यन्त्रितं यत्तथा, पुनः कीदृशं सुष्ठु-सम्यक्तया संयमितं-संवृतं मनस्तेन मनसा हेतुभूतेन हस्तौपादौ निभृतौ-निश्चलौ परधनादानकार्यादुपरतौ यस्मिन् तत् अनेन विशेषणेन मनोवाक्काय निरोधः [illegible]

निग्गंथं, णेट्ठिकं, निरुत्तं, निरासवं, निब्भयं, विमुत्तं, उत्तमनरवसभ-पवरबलवग-सुविहितजणसंमतं, परमसाहुधम्मचरणं, जत्थ य गामागर-नगर-निगम-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-संवाह-पट्टणासमगयं च किंचि दव्वं मणि-मुत्त-सिलप्पवाल-कंस-दूस-रयय-वरकणग-रयणमादिं पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठं न कप्पति कस्सति कहेउं वा गेण्हिउं वा अहिरन्नसुवन्निकेण समलेट्ठुकंचणेणं अपरिग्गहसंवुडेणं लोगंमि विहरियव्वं, जंपिय होज्जाहि दव्वजातं खलगतं

भ्यन्तरग्रन्थिरहितं, निष्ठिकं-सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्त्ति, निरुक्तं-सर्वज्ञैरुपादेयतया निरुक्तं अव्यभचारि, निराश्रवं कर्मादानरहितं निर्भयं-राजादिभयरहितं, विमुक्तं लोभदोषात्, उत्तमनरवृषभाणां प्रवरबलवतां च सुविहितजनस्य-साधुलोकस्य संमतं-अभिमतं यस्य तत्तथा, परमसाधूनां-उत्कृष्टमुनिवराणां धर्मचरणं-धर्मानुष्ठानं यत्तत्तथा। यत्र-तृतीयसंवरद्वारे ग्राम-आगर-नगर-निगम-खेड-कर्षट-मडंब-द्रोणमुख-पत्तन-आश्रम, इत्यादयः शब्दाः पूर्वव्याख्याताः तद्गतं च दत्तं किञ्चिद् अनिर्दिष्टस्वरूपं द्रष्टव्यम् तदेवाह मणि-मौक्तिक-शिला-प्रवाल-कांस्य-रूप्य[दूष्य]-रजत-वरकनक-रत्नादिसर्वद्रव्यजातं पतितं-भ्रष्टं वस्त्राञ्चलादेः, विस्मृतं-मुक्तं सन्, प्रनष्टस्वामिकं गवेषयद्भिरपि न प्राप्तं न कल्पते-न युज्यते, कस्यचित्-असंयतस्य कथयितुं-प्रतिपादयितुं अदत्तग्रहणप्रवर्त्तनं माभूदिति कृत्वा गृहीतुं-आदातुं साधोः निवृत्तत्वात् तेन साधुना दृष्टे परद्रव्ये कया भावनया वर्त्तितव्यं तदाह-

न विद्यते हिरण्यं-सुवर्णं यस्य तेन समे-तुल्ये उपेक्षणीयतया लेष्टु प्रस्तरं काञ्चनं च यस्य स तेन, अपरिगृहत्वात् सुसंवृतेन सुसंयतेन-साधुना लोके-मर्त्यलोके व्यवहर्त्तव्यम्, यदपि च भवेत् हि-निश्चितं द्रव्यजातं-द्रव्यप्रकारः. कीदृशं ? खलं-धान्यराशि-

खेत्तगतं रन्नमंतरगतं वा किंचि पुप्फ-फल-तयप्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठसक्करादि अप्पं च बहुं च अणुं च थूलगं वा न कप्पती उग्गहंमि अदिण्णंमि गिण्हिउं जे, हणि हणि उग्गहं अणुन्नविय गेण्हियव्वं, वज्जेयव्वो सव्वकालं अचियत्तघरपवेसो, अचियत्तभत्तपाणं अचियत्त-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग-वत्थ-पत्त-कंबल-दंडग-रयहरण-निसेज्ज-चोलपट्टग-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ भायणभंडोवहिउवकरणं, परपरिवाओ, परस्स दोसो

करणभूमिः तत्र गतं, क्षेत्रं-सस्योत्पत्तिस्थानं तत्र गतं-प्राप्तं, अरण्यमध्यगतं, [जलगतं, स्थलगतं वा, इति पाठान्तरे] किञ्चिदनिर्दिष्टगतं, पुष्प-फल-त्वक् प्रवालोऽङ्कुरः कन्दो-भूमिगतः मूलं-तदुपरिवर्त्ति तृणं शूकादिहरितादिर्वा, काष्ठं प्रतीतं शर्कराः कर्करादयः अल्पं-स्तोकं, बहु-प्रचुरं अणुं-सर्षपादि, स्थूलं-महत्प्रमाणं तथैव न कल्पते न युज्यते, अवग्रहं[हे]गृहं [हे] स्थण्डिलादिरूपे अदत्ते-स्वामिना अननुज्ञाते गृहीतुं 'जे इति निपाते' यत् किञ्चित् निषेधे ।

अथ तद्ग्रहणे विधिमाह-अनुज्ञाप्य-यथेह भवदीयावग्रहे इदं च साधुयोग्यं द्रव्यं गृहीष्यामीति पृष्टे तत् स्वामिना एवं कुरुत इति उक्तः तदा गृहीतव्यं इति स्वामिना गृहीतव्यम्, वर्जितव्यः सर्वकालं यथा सदा अप्रीतिमतां साधून् प्रति तेषां गृहे-प्रवेशो गमनं गृहगमनमित्यर्थः, अप्रीतिकारिणां यत् भक्तं-अशनं पानं, अप्रीतिकारिणां संबंधि पीठफलकशय्यासंस्तारकं वस्त्रं, पात्रं, कंबलं, दण्डकं, रजोहरणकं, निषद्या-आसनादि, चोलपट्टकः-परिधावनवस्त्रं, मुखपोत्तिका, पादप्रोंछनकं-ऊर्णामयकंबलखण्डः, भाजनं-पात्रं, भाण्डं-मृण्मयं पात्रं, उपधिश्च-वस्त्रादि त एव उपकरणानि-संयमसाधनानि द्वन्द्व समासः तत्सर्वं परस्य परकीयं अदत्तमेतत् स्वामिनाऽननुज्ञातं इति कृत्वा वर्जनीयं एव। तथा परपरिवाओ विकत्थनं वर्जनीयम्, तथा परस्य दोषो-दूषणं द्वेषो वा वर्जनीयः, तथा परदूषणभाषणं

गुरुगणणसेणं जं न गेण्हइ, परस्स नासेइ जं च सुकयं, दाणस्स य अंतरातियं दाणविप्पणासो, पेसुन्नं चेव मच्छरित्तं च, जेवि य पीढ–फलग–सेज्जा–संथारग–वत्थ–पाय–कंबल–मुहपोत्तिय–पायपुंछणादिभायणभंडोवहिउवकरणं असंविभागी। असंगहरुई, तवतेणे य, वइतेणे य रूवतेणे य, आयारे चेव भावतेणे य, सद्दकरे, झंझकरे,

---

तीर्थकरगुरुभ्यामननुज्ञातत्वेन वर्ज्यं, अदत्तलक्षणं चेदं "सामीजीवादत्तं" इति लक्षणात्। तथा परस्याचार्यादेः ग्लानादेर्व्यपदेशेन–व्याजेन यत् गृह्णाति–आदत्ते वैयावृत्त्यकारादिस्तत्तेनाऽन्येन च वर्जयितव्यं आचार्यादिरेव दायकेन दत्तत्वात्, तथा परस्परसंबंधो नाशयति अपगत् अपह्नुते यत् सुकृतं तदपि वर्जयितव्यं, दानस्य या आन्तरायिकं–विघ्नं दानविप्रनाशो दत्तादानलोपः, तथा पैशून्यं–पिशुनकं, मत्सरित्वं–गुणानामसहनं तीर्थकराननुज्ञातत्वात् वर्ज्यं, योऽपि च पीठ–फलक–शय्या–संस्तारक–वस्त्र–कंबल–मुख·पोतिक एतेषां शब्दानां शब्दार्थाः पूर्वं व्यावर्णिता इति पादप्रोंच्छनादिभाजनभांडोपधि–उपकरणं इत्यादि पदार्थः जातीनां आचार्यग्लानादीनां असंविभागी एषणागुणविशुद्धलब्धं सन् न विभजते नाराधयति व्रतमिदं इति संबंधः। असंग्रहरुचिरितिकोऽर्थः? गच्छोपग्रहकरणस्य एषणादोषविप्रमुक्तस्य प्राप्तस्य उदरंभरित्वेन नार्पयामीति अविद्यासंग्रहे रुचिर्यस्यासौ असंग्रहरूचिः कीदृशः तपस्तेनः तपसा चौरः स्वभावतः कृशमनगारं दृष्ट्वा कश्चित्पृच्छति भोः साधो? गच्छे मासक्षपणकः श्रुतः स त्वमेवेति पृष्टे असन्नपि मम्–आत्मानं तद्गुणवन्तं ब्रूते, अथवा धूर्त्ततया वक्ति साधवः क्षपणकारिण एव भवन्ति श्राद्धस्तु मन्यते, एवं सकलसाधुसाधारण-वचनमाविष्करोति इति तेन वचस्वी पूर्वं भगवान् श्रुतः स त्वं मेनेत्युक्ते आत्मानं तद्रूपं संपादयन् वचस्तेनः रूपस्तेनो यथा, तत्र रूपं द्वेधा शरीरसुन्दरता सुविहितसाधुनेपथ्यं वा यथा–

फलहकरे, वेरकरे, विकहकरे, असमाहिकरे, सया अप्पमाणभोती सततं अणुबद्धवेरे य, तिव्वरोसी, से तारिसए नाराहए वयमिणं।

अह केरिसए पुणाइं आराहए वयमिणं ?, जे से उवहिभत्तपाणसंगहणदाणकुसले, अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्डखवग-पवत्तिआयरियउवज्झाए, सेहे, साहम्मिके, तवस्सीकुलगणसंघचेइयट्ठे य निज्जरट्ठी वेयावच्चं

तेऽसुविहियाय मन्ने जेसिं जल्लेण फासियं अंगं। मलिणा य चोलपट्टा दोण्णि य पाया समक्खाया ॥१॥

तथा आचारे साधुसामाचारीविषयस्तेनो-यथा स त्वं यः क्रियारुचिः श्रुतः इति कथिते स्वमुद्भावयति स आचारस्तेन(:) भावस्य-श्रुतज्ञानादिविशेषस्य स्तेनश्चौरः, तथा शब्दकरो रात्रौ महता शब्देन उच्चारयन् गृहस्थभाषया भाषको वा, येन गणस्य भेदो भवति तद्वाक्यं ब्रूते स झञ्झकरः, कलहहेतुकद्वाक्यं जल्पति स कलहकरः, वैरं-विग्रहस्तत्कथाकारी वा वैरकरः, स्त्र्यादिकथाकारी, असमाधिं-चित्तोद्वेगं करोति इत्यसमाधिकरः तथा, सदा-सर्वदा अप्रमाणभोजी-द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारी, सततं-निरन्तरं अनुबद्धं-प्रारब्धं वैरकर्म-प्रत्यर्थिभावं येन स तथा, तीव्ररोषी-सदाकोपः, स तादृशः-पूर्वोक्तस्वरूपः नाराधयति एतद्व्रतं-निरतिचाररूपं अदत्तादानविरमणव्रतमिति गम्यम्,

अथ कीदृशः सन् एतद्व्रतमाराधयति प्रश्नार्थः ? अथ परिप्रश्नार्थे योऽसौ उपधि-भक्तपानसंग्रहणं मिलितवस्तुनः दानं साधर्मिकजनेभ्यः, तयोः कुशलो-विधिज्ञो यः स आराधकः, अत्यन्तं यो बालः-सप्ताष्टवर्षीयः अल्पजनजातो वा, दुर्बलो-कृशाङ्गः, यस्य भक्तं भुक्तं सत् सप्तधातुतया न परिणमति-न जीर्यते स ग्लानः, वृद्धः षष्ठिहायनः पर्यायेण वा, क्षपको-विकृष्टतपस्वी मासक्षपणादि

अणिस्सियं बहुविहं दसविहं करेति, न य अचियत्तस्स गिहं पविसइ, न य अचियत्तस्स गेण्हइ भत्तपाणं, न य अचियत्तस्स सेवइ, पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग-वत्थ-पाय-कंबल-डंडग-रयहरण-निसेज्ज-चोलपट्टय-मुहपोत्तिय-पायपुंछणाइ-भायण-भंडोवहिउवगरणं न य परिवायं परस्स जंपति, ण यावि दोसे परस्स गेण्हति,

निरन्तर कर्त्ता, सीदन्तं प्रति चरणधर्मं प्रवर्त्तते प्रवर्त्तयति स प्रवर्त्तकः, आचार्यो-गणनेता सदाचारं चरति स्वयं अन्याभाचरयति स आचार्यः, उप-समीपे सूत्रार्थमध्यापयति इत्युपाध्यायः, अभिनवप्रव्रजितः शैक्षः, एकश्रद्धारुचिः साधर्मिकः श्रुतलिंगप्रवचनैरिति, तपस्वी विकृतित्यागी चतुर्थादि भक्तकारी वा, कुलं चांद्रादिकं, एकाचार्यवाचनीकसमुदायः गणो, गच्छः कौटिकादि, तत्समुदायमक्तिकृत् संघः, चैत्यानि-जिनप्रतिमा एतासां योऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तथा तत्र च निर्जरार्थी-कर्मक्षयंकर्तुकामः, वैयावृत्यं-व्यावृत्तं निराकृतकर्मरूपं उपष्टंभादीनां। अनिश्रितं-यशःकीर्त्यादी(दि)वाञ्छानिरपेक्षम्, बहुविधं-बहुप्रकारं यद्यस्योचितं दश प्रकारं कुर्वन्ति यतः-

येयावच्चं वावडभावो इय धम्मसाहणनिमित्तं, अन्नाइयाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो ॥१॥
अरिहंत१ सिद्ध२ चेइय३ आयरिय४ गिलाण५ सेहाणं६ साहम्मिय७ कुल८ गण९ संघ१० संगयं तमिह कायव्वं॥

बहुविधं-भक्तपानदानभावनानेकप्रकारं करोतीति, तथा न च-नैव अप्रीतिकारिणो गृहं प्रविशति, नैव अप्रीतिकर्त्तुः गृहे भक्तं-अशनं पानं ग्राहयेत्, न च अप्रीतिकर्त्तुः सेवते पीठ-फलक-शय्या-संस्तारक-वस्त्र-पान-कंबल-दंडक-रजोहरण-निषद्या-चोलपट्टक मुखवस्त्रं पादप्रोंछनकं भाजनानि-पात्रादीनि, भाण्डं, उपधिः, उपकरणं। न च परिवादं-परदोषं चाटुवाक्यं वा परस्य-अन्यस्य जल्पति-

१ अन्यत्र तु 'आयरिय १ उवज्झाए थेर तवस्सी' इति पूर्वपादं। २ मुहपत्ति इति भाषा।

परववएसेणवि न किंचि गेण्हति,न य विपरिणामेति किंचि जणं न यावि णासेति, दिन्नसुकयं दाऊण य न होइ पच्छाताविए संविभागसीले संग्गहोवग्गहकुसले से तारिसते आराहने वयमिणं।

इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहितं, अत्तहितं, पेच्चाभावितं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं, अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाण विओवसमणं।

भाषते, न चापि परदोषान् गृह्णाति, परव्यपदेशेन–ग्लानादिव्याजेनापि न किञ्चिद्गृह्णाति एतावता मायां पिधाय किमपि न गृह्णति (गृह्णाति), न च केषामपि चेतः विपरिणमति–दानादिधर्माद्विमुखीकरोति किञ्चिदपि जनं, नापि नाशयति अपलपनद्वारेण, किञ्चिदपि सुकृतं दत्तं एतावता परगुणान् प्रकटीकुरुते न तु तदपलपनम्, देयं–वैयावृत्त्यादिकार्यं दत्त्वा–कृत्वाऽपि न भवति पश्चात्तापिकः–पश्चात्तापवान्, कृतं नोपचारयति–संविभागकारी भवति उपध्यादिद्वादशविधानां साधर्मिकेभ्य इति शेषः, संग्रहे–शिष्यादिसंग्रहे उपग्रहे तेषामेव मतश्रुतादिदानेन उपष्टंभतया अवलंबने कुशलो–दक्षः सः–पूर्वोक्तः, तादृशः–तादृशगुणयुक्तः साधुः आराधको–गृहीतप्रतिपालको भवति, इदं व्रतं–अदत्तादानविरतिलक्षणं तृतीयं व्रतम्–

इमं वचनं परद्रव्यहरणविरमणस्य परिरक्षणं–पालनं स एव अर्थः–प्रयोजनं यस्य स तथा तस्यैव, प्रवचनमिदं प्रावचनिकं, भगवता–श्रीमहावीरस्वामिना, सुष्ठु–उपकारबुद्ध्या कथितम्, आत्मनः हितकारकम्, प्रेत्य–परलोकेऽपि भावितं–वासितम्, आगामिकाले भद्रं–कल्याणकारि आसन्नसिद्धत्वात्, शुद्धं–निर्दोषम्, न्यायोपपन्नम्, अकुटिलं ऋजुत्वेन युतम्, अनुत्तरं–नास्ति उत्तरं–प्रधानं अस्मात् व्रतादुपरि इति, सर्वदुक्खपापानां व्युत्सर्जनकारकं–नाशकम्,

तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स होंति परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए, पढमं देवकुल-सभा-प्पवा-वसह-रुक्खमूल-आराम-कंदरागर-गिरिगुहा-कम्मउज्जाण-जाणसाला-कुवितसाला-मंडव-सुन्नघर-सुसाणलेणआवणे अन्नमि य एवमादियंमि दग-मट्टिय-बीज-हरित-तसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं, आहाकम्मबहुले य जे से आसित-संमज्जि-ओवल्लित्तसोहिय-छायण-दूम-

तस्य-उक्तरूपस्य इमकस्येति-अस्यैवादत्तविरतिरूपस्य, पंचसंख्याका भावना-संयमशरीरे व्रतवासनारूपाः तृतीयव्रतस्य भवन्ति परद्रव्यहरणविरमणपरि-सामस्त्येन रक्षणार्थं, तत्र प्रथमां वस्तुविविक्तवासोनाम्नीं भावनामाह-देवकुलं यक्षादिग्रहं, सभा-महाजनस्थानं, प्रपा-पानीयशाला, आवसथं-परिव्राजकस्थानम्, वृक्षमूलं प्रतीतम्, माधवीलतादियुक्तदंपतीरमणाश्रयो वनविशेषः-आरामः, कंदरा-दरी, आकरो-लोहाद्युत्पत्तिः (त्तिस्थानम्), गिरिगुफा प्रतीता, कर्म-लोहादि परिकर्म्यते-क्रियते तत् परिकर्म, उद्यानं-पुष्पादिमद्वृक्षसंकुलं उत्सवादौ बहुजनभोग्यम्, यानशाला-रथादीनां रक्षणगृहम्, कुप्यशाला-गृहोपकरणशाला, मंडपः-यज्ञादुल्लये (निर्मितवस्त्रगृहविशेषः), शून्यगृहं-निर्मानुषं (निर्मानुषनिशान्तम्), श्मशानं-मृतकजनप्रेतभूमिः, लयनं-शैलगृहम्, आपणः-पण्यस्थानम् ततः समाहार द्वन्द्वः, अन्यस्मिन्नपि-एवं प्रकारे उपाश्रये विहर्त्तव्यम् इति। किंभूते उपाश्रये? दकमुदकम्, मृत्तिका-पृथिवीकायरूपा, बीजानि-शाल्यादीनि, हरितानि-दूर्वादीनि, त्रसाः प्राणाः[प्राणिनः] द्वीन्द्रियादयः तैः असंसक्तोऽनायुक्तः (तस्मिन्निति), यथाकृते-गृहस्थेन स्वार्थं निष्पादिते, प्रासुके-निर्जीवे, विविक्ते-स्त्र्यादिदोषरहिते, अतएव प्रशस्ते-शुभनिमित्ते उपाश्रये-वसतौ भवति विहर्तव्यं-आश्रितव्यं शयनादि वा विधेयम्। यस्मिन् स्थाने न वसितव्यं तदाह-आधया-साधुमनस्याधाय-

णलिंपण-अणुलिंपण-जलण-भंडचालण अंतो बहिं च असंजमो जत्थ वट्टती संजयाण अट्ठा वज्जेयव्वो हु उवस्सओ से तारिसए सुत्तपडिकुट्ठे। एवं विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरतो दत्तमणुन्नायओग्गहरुती।

बितीयं आरामुज्जाणकाणणवणप्पदेसभागे जं किंचि इक्कडं वा कठिणगं च जंतुगं [जवगं] च परामेरकुच-

---

आश्रित्य तया पृथिव्याद्यारंभः क्रियते तदाधाकर्म तेन बहुलं-बहुप्रचुरं यत्र स तथा एवंविधोपाश्रयो वर्ज्यः, अनेन मूलगुणदूषितस्य परिहारः उक्तः। पुनः कीदृशम् आ-ईषत् सितं-सिञ्चितम्, संमार्जितम् कचवरापनयेन, उपलिप्तं-उत्कपितं जलाभिसिञ्चनेन, शोभितम् वन्दनमालाचतुष्कपूरणादिना, छादनं-उपरि दर्भादिना छादनम्, दुमनं-सेटिकया धवलनम्, लिपनं छगणादिना, सकृत् लिप्तायाः भूमेः (मेः) पुनर्लेपनं अनुलेपनम्, शीतापनोदाय वह्नेर्ज्वलनं, भांडपालनं-प्रकाशहेतोर्भाजनानामितस्ततः करणं समाहारद्वन्द्वः, अन्तर्मध्येबहिश्चोपाश्रयस्य तत्र असंयमो-जीवविराधना यस्मिन् उपाश्रये वर्तते, संयतानां साधूनां अर्थाय हेतवे तादृशः सावद्योपाश्रयो वसतिः वर्जनीय इत्यर्थः। हु निश्चयेन स तादृशः सूत्रप्रतिकुष्टः-आगमनिषिद्धः। एवं-उक्तप्रकारे विविक्ते-एकान्ते वासः-स्थानं वसतिर्यस्य स ससमितियोगयुक्तो भावितो-वासितः अन्तरात्मा जीवः, निच्चं-सदा, अधिकरणकारापणानुमतिपापकर्मविरतो-निवृत्तः सन् दत्तं स्वाम्यादिभिः अनुज्ञातः-सूत्रोक्तस्तादृशो योऽवग्रहो-ग्रहणाय वस्तु तत्र रुचिर्यस्यासौ साधुः इति प्रथमभावना ॥१॥

द्वितीयामाह अनुज्ञातसंस्तारग्रहणात्मिकां, आरामः उद्यानम्, पूर्वं व्याख्यातौ नगरासन्नं सामान्यवृक्षोपेतं काननम्, नगराद्-

कुसडब्भ-पलालमूयगपव्वय-पुप्फ-फल-तय-प्पवाल-कंद-मूल-तण-कट्ठ-सक्करादी गेण्हइ सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए उग्गहे अदिन्नंमि गिण्हेउं जे हणि हणि उग्गहं अणुन्नविय गेण्हियव्वं एवं उग्गहसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुन्नायओग्गहरुती ।

दूरवर्ति वनम् , एतेषां यः प्रदेशो-विभागस्तत्र यत्किञ्चिद्ग्रहणीयं वस्तु भवति तदाह इक्कुर्ड-तृणविशेषः, कथिनकं-पेंड(ड्)तृणं, जलाशयगतं तृणं, पराः-तृणविशेषाः, मेरा-मुंजसरिका, कूर्चा-येन तृणविशेषेण कुविन्दाः कूर्चान् कुर्वन्ति, कुशदर्भयोः आकारभेदः तथा बहुमूलो दर्भः अमूलः कुशः, पलालं-व्रीहिकंग्वादिधान्यानां तुषाः, मूयकाः-मेदपाटदेशजातयस्तृणविशेषाः, पर्वजास्तृणविशेषाः ग्रन्थिजातयः, पुष्पफल-त्वक्-प्रवाल-कंद-मूल-तृण-काष्ट(ष्ठं) शर्कराः-कर्कराः प्रतीता एव पुनस्ता आदिर्यस्य तत्तथा गृह्णाति, किमर्थं गृह्णाति तदाह-शय्या-उपधिः संस्तारकरूपस्य उपरि अधो वा चकारार्थः तदर्थं-तत् हेतवे गृह्णाति न कल्पते-न युज्यते । अवग्रहे अनुज्ञातेऽपि उपाश्रये मध्यगततृणाद्यपि अनुज्ञां विना गृहीतुं न कल्पते एतावता तदपि न ग्राह्यम् , एतदेवाह यत्किञ्चिदपि विलोक्यते (यस्मिन्) तत् (अहःतस्मिन्) अहनि अहनि-प्रतिदिनं उपाश्रयाद्यनुज्ञावत् सर्वं अनुज्ञाप्य गृहीतव्यम् , एवं-उक्तप्रग्रनीत्या अवग्रहसमितियोगेन, भावितो-वासितो भवति अंतरात्मा जीवः नित्यं-सदा, अधिकरणकारापणपापकर्मविरतो, दत्त-अनुज्ञातावग्रहरुचिः द्वितीया भावना २

---

१. भाषा रोहीसादि ॥ २ डीलोचिद्दो इति भाषा

तईयं पीढफलगसेज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खो न छिंदियव्वो न छेदणेण भेयणेण सेज्जा कारेयव्वा जस्सेव उवस्सए वसेज्ज सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, न य विसमं समं करेज्जा, न निवायपवायउस्सुगत्तं न डंसमसगेसु खुभियव्वं अग्गी धूमो न कायव्वो, एवं संजमबहुले संवरबहुले संवुडबहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयंतो सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते समिए एगे चरेज्ज धम्मं, एवं सेज्जासमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरण-करणकारावण-पावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुती ।

तृतीय संवरद्वारे अदत्तादान-विरमण भावना स्वरूपम्

तृतीया भावना वसतुशय्यापरिकर्मवर्जना नाम, तदेवंप्रकारेणाह-पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थनाय वृक्षस्तरुर्न छेदितव्यः, तद्भूम्याश्रितवृक्षादीनां कर्त्तनेन पाषाणादीनां च भेदनेन शय्या-शयनीयं न कारयितव्यम् (व्या), तथा यस्यैव-गृहपतेः उपाश्रये-वसतौ वसेद्-निवासं करोति शय्यां-शयनीयं तत्रैव गवेषयन् न च विषमा (मां) अतिसमां कुर्यात्, न निर्वातप्रवातोत्सुकत्वं कुर्यात्, उत्सुकत्वं-हा! कथं स्यात् एवं न कार्यम्, न च दंशमशकेषु विषये क्षुभितव्यम्, ततश्च दंशाद्यपनयनार्थं अग्निधूमौ वा न कर्त्तव्यौ। एवं-उक्तप्रकारेण संयमबहुलः-पृथिव्यादियतनाप्रचुरः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधः संवरः तत्प्रचुरः, कषायेन्द्रियजयन दमनबहुलः, समाधिः-चित्तस्वास्थ्यम् तेन बहुलः, धीरो-बुद्धिमान्, अक्षोभ्यो वा परीषहोपसर्गादिकं कायेनास्पृशत् न मनोरथमात्रेण तृतीयं संवरद्वारम्, सततं-निरन्तरम् अध्यात्मनि-आत्मानमधिकृत्य आत्मालंबनं ध्यानं-चित्तनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा, तत्रात्मध्यानं-अमुकोऽहं, अमुकांसस्से, अमुकधम्मट्ठाणट्ठिए तव्विराहणेत्यादिरूपं समितः समितिभिः एको(ऽ)सहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेत्-अनुतिष्ठेत् धर्मं-चारित्रधर्मं एवं शय्यासमितियोगेन भावितो-वासितो भवति अन्तरात्मा जीवः नित्यं-सदा

पउत्थं साहारणपिंडपातलाभे सति भोत्तव्वं संजएण समियं न सायसूपाहिकं, न खद्धं, ण वेगितं, न तुरियं, न चयलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरसावज्जं तह भोत्तव्वं जह से ततियवयं न सीदति, साहारणपिंडपायलाभे सुहुमं अदिन्नादाणवयनियमवेरमणं, एवं साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निचं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुती।

अहिकरणकारापणपापकर्मविरतः, दत्त-अनुज्ञात-अवग्रहरुचिः इति तृतीयभावना ३

अथ चतुर्थीभावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणं नाम, तच्चैवंप्रकारेणाऽऽह सूत्रकार इति, साधारणः-संघाटिकादिसाधर्मिकस्य सामान्यो यः पिण्डः तस्य च-पतद्ग्रहलक्षणस्य पात्रे-चाधिकरणे लाभो-दायकात् सकाशात् प्राप्तिः स साधारणपिंडमात्रलाभस्तत्र सति भोक्तव्यम्-अभ्यवहर्त्तव्यम्, परिभोक्तव्यं च केन कथमित्याह-संयतेन-साधुना सम्यग् यथादत्तादानं वसति(ः)भवति तथा सम्यक्त्वमाद न च शाकसूपादिकं साधारणस्य पिण्डस्य शाकसूपाधिके भागे भुज्यमानं साधारणसंघाटिकादिषु प्रीतिरुत्पद्यते न खद्धं २ प्रचुरं ३ भोजने अप्रीतिरेव, न वेगितं ग्रासस्य गलने वेगवत्, न त्वरितं मुखक्षेपे, न चपलं चपलहस्तग्रीवादिरूपकायचलनवत् न साहसमवितर्कितम्, अतएव न च परस्य पीडाकरं च तत् सावद्यं चेति परपीडाकरं सावद्यं किं बहुनोक्तेन तथा भोक्तव्यं संयतनेन नित्यं यथा से तथा संयतस्य तृतीयं व्रतं दत्तम् न सीदति-न भ्रंशति, साधारणपिण्डपात्रलाभे साधारणसंघाटिक-आहारोपधिवस्त्रादिलाभे सति सूक्ष्मं-सुनिपुणं अतिशयेन रक्षणीयत्वादणु अदत्तादानविरमणलक्षणेन कुत्रापि नियंति य मणसा इति पाठः। तत्र अदत्तादानविरमणलक्षणव्रते नियंत्रितं वशीकृतं मानसं यस्य स तेन, एवं साधारणपिण्डपातलाभे सति समितियोगेन भावितो-वासितो

पंचमगं साहम्मिए विणओ पउंजियव्वो, उवकरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अन्नेसु य एवमादिसु बहुसु कारणसएसु विणओ पउंजियव्वो, विणओवि तवो तवोवि धम्मो तम्हा विणओ पउंजियव्वो, गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य, विणओ पउंजियव्वो एवं विणतेण भाविओ भवइ अंतरप्पा णिच्चं

भवति अन्तरात्मा जीवः नित्यं सदा अधिकरणकारापणपापकर्मविरतः दत्तं अनुज्ञातं अवग्रहरुचिः भवतीति चतुर्थीभावना

पञ्चमीभावनामाह किं नाम वस्तु साधर्मिकविनयकरणभावनाप्रकारमाह–साधर्मिकजनेषु विनयः प्रयोक्तव्यः, आत्मनो वा अन्यस्य उपकारणं ग्लानाद्यवस्थायां स्वयं करणं अन्येन उपकारणं तथा तपसः श्रुतस्कन्धादिश्रुतस्य व्यापारगमनं पारणा तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यः, विनयश्चेच्छाकारादिदानेन बलात्कारपरिहारादिलक्षणेन एकत्रान्यत्र च गुर्वनुज्ञया भोजनादिकृत्यकारिण इत्यादिरूपो विनयः कर्त्तव्यः। तथा वाचना सूत्रग्रहणं, परावर्त्तना गुरुदत्तसूत्रस्यैव गुणनं तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यः वंदनदानादिलक्षणः, तथा दानं लब्धस्यान्नादेर्ग्लानादिभ्यो वितरणं ग्रहणं तस्यैव पारणदीयमानस्यादानं पृच्छना विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः, तत्र दानग्रहणयोः गुर्वनुज्ञालक्षणः पृच्छनासु यानुवंदनादिदानस्तद्रूपो विनयः निर्गमनं वसतेः प्रवेशनं तत्रैव तयोर्विनयः आवश्यिकी निषेधिक्यादिकरणं अथवा हस्तप्रसाधनपूर्वकं भूममार्जनानंतरं पादनिक्षेपणम् तथा अन्येष्वपि एवमादिषु बहुष्वपि बहुप्रकारेण शतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः कर्त्तव्यः, कस्माद्धेतोः एवं विनयः सर्वत्र प्रयोक्तव्यः केवलं विनय एव न किन्तु विनयस्तपः अभ्यन्तरतपोभेदेषु पठितत्वात् पुनः विनयो धर्मः संयमो वा तस्य चारित्रांशत्वात् तस्मात् कारणात् विनयः प्रयोक्तव्यः, केषु ? इत्याह–गुरुषु–पूज्येषु साधुषु–

अधिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुन्नायउग्गहरुइ। एमिणं संवरस्स दारं सम्मं संचरियं होइ सुप-णिहियं एवं जाव आघवियं सुदेसितं पसत्थं ॥ (सू० २६) ततियं संवरदारं समत्तंतिबेमि ॥३॥

गुणज्येष्ठेषु तपस्विषु च-अष्टमादिक्षपणादिकारिषु वा विनयः प्रयोक्तव्यः। एवं-उक्तप्रकारेण विनयेन भावितो वासितो भवति यस्य अन्तरात्मा जीवः नित्यं-सदा अधिकरणकारापणपापकर्मविरतः दत्तमनुज्ञाताऽवग्रहरुचिर्भवतीति पंचमी भावना

एवं उक्तनीत्या इदं व्याख्यानं यत् संवरस्य तृतीयाश्रवादत्तादानविरमणरूपस्य सम्यक् प्रकारेण आचरितं भवति।

"एवमिणं संवरस्सदारं सम्मं संचरियं होइ सुप्पणिहिं कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिच्चं आमरणंतं च एस जोगो णेयव्वो धितिमता मतिमता अणासवो अकलुसो अछिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुसुद्धो सव्वजिणमणुन्नाओ एवं ततियं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपालितं भवति एवं णायमुणीणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसत्थं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं तइयं संवरद्दारं संमत्तं"। इदं सर्वं निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेवं व्याख्यातमस्ति कुत्रचिन्न लिखितं अर्थस्तु प्रथमसंवरद्वारे व्याख्यातमस्ति ततोवसेय इतिशब्दः-परिसमाप्तौ पूर्ववदेव वाच्यः

समाप्तमष्टमाध्ययनविवरणं श्रीप्रश्नव्याकरणांगस्य दशमस्य चाष्टमाध्ययनं व्याख्यातं च सदर्थ तृतीयं संवरद्वारं। इति तृतीयं संवरद्वारं।

इति श्रीमद् ज्ञानविमलसूरीश्वरविरचिते

प्रश्नव्याकरणे तृतीयं संवरद्वारं समाप्तं

॥ अथ चतुर्थं संवरद्वारात्मकं अष्टममध्ययनम् ॥

अथ सूत्रक्रमसंबंधः व्याख्यातं तृतीयं संवराध्ययनं, अथ चतुर्थं ब्रह्मचर्यसंवराध्ययनमारभ्यते, अस्य च पूर्वेण सह सूत्रक्रमत एवं संबंधो यदनन्तराध्ययनेऽदत्तादानविरमणाभिधानसंवरमणनानंतरं बंभचेरंति-ब्रह्मचर्याभिधानं संवरद्वारं उच्यते इति शेषः। किं रूपं तत् ब्रह्मचर्यसंवरस्येति प्रस्तावनासूत्रमाह-

जंबू। एत्तो य बंभचेरं उत्तमतवनियमणाणदंसणचरित्तसम्मत्तविणयमूलं, संयमनियमगुणप्पहाणजुत्तं, हिम-

---

ब्रह्मणा-शीलेन, ज्ञानेन वा चरणं-प्रवर्त्तनं ब्रह्मचर्यं एतावता सुशीलानामेव ब्रह्मचर्यं कुशीलानां नैवेत्यागतम्। जम्बूरित्यामंत्रणं शिष्यस्य, इतो-ऽदत्तादानविरतेः, "च" पुनरर्थे, चतुर्थं संवरद्वारं ब्रह्मचर्याभिधानं, तत् कीदृशं उदाराः-प्रधानाः ये तपःप्रभृतयः तथा तपोऽ-नशनादि, नियमाः-पिण्डविशुद्ध्यादयः उत्तरगुणाः, ज्ञानं-विशेषबोधो वस्तुनः, दर्शनं-सामान्यबोधा(धोऽ)वलोकनं, चारित्रं-सावद्ययोगविरतिलक्षणम् मिथ्यात्वमोहनीयक्षयोपशमजनितजीवपरिणामः-सम्यक्त्वम्, विनयः-अभ्युत्थानोपचाररूपः, एतेषां पदानां द्वन्द्वस्तेषां मूलमिव मूलं-कारणं यत्तत्तथा। पुनः कीदृशं संयमाः-अहिंसादयः, नियमाः-द्रव्याद्यभिग्रहाः पिण्ड-विशुद्ध्यादयो वा ते गुणानां मध्ये प्रधानास्तैर्युक्तं तत्तथा। पुनः कीदृशं? हिमवतः-पर्वतविशेषः तस्मादपि महत् तेजस्विकं प्रता-

पंतमहंततेयमंतं, पसत्थगंभीरथिमितमज्झं, अज्जवसाहुजणाचरितं, मोक्खमग्गं विसुद्धसिद्धिगतिनिलयं, सासय-मव्वाबाहमपुणब्भवं, पसत्थं, सोमं, सुभं, सिवमचलमक्खयकरं, जतिवरसारक्खितं, सुचरियं, सुसाहियं, नवरि

व्रता व्रतानां मध्ये महत् गुरुकं यतः

"व्रतानां ब्रह्मचर्यं हि निर्दिष्टं गुरुकं व्रतम्। तज्जन्यपुण्यसंभारसंयोगात् गुरुरुच्यते" ॥१॥ अन्यैरप्युक्तं—

"एकतश्चतुरो वेदाः ब्रह्मचर्यं च एकतः। एकतः सर्वपापानि, मद्यं मांसं च एकतः" ॥१॥ इति वचनात्

अतएव प्रशस्तं-शोभनं गंभीरं-अतुच्छं, कातरैर्दुरनुचरत्वात् स्तिमितं-स्थिरं मध्यं देहिनः अन्तःकरणं यत्तत्तथा एतावता कुशीलानां लब्धिः सिद्धिश्चापि न। ततएव आर्जवैः-ऋजुतागुणोपेतैः साधुभिः आचरितं-आसेवितम्, पाठान्तरव्याख्याने प्रशस्तैः गंभीरैः अक्षुद्रा स्थिरमध्यैः मध्यस्थैं रागद्वेषानाकुल(लि)तैरेतादृशै(ः) साधुजनैः सेवितमित्यर्थः मोक्षगतेर्मार्गं तत्प्रापकत्वात्, अथवा तादृशैः साधुजनैराचरितं मोक्षमार्गं यद् तद्, विशुद्ध(द्धा)-रागद्वेषादिदोषाभावतो निर्मला या सिद्धि(ः)-कृतकृत्यता सैव गम्यमानत्वात् विशुद्धसिद्धिगति(ः) जीवस्वरूपं तस्य(ाः)निलयं-स्थानं, "सिद्धानां गति(ः) सिद्धिरेवेति वचनाद्"। शाश्वतः(तं) साद्यपर्यवसितत्वात्, अव्याबाधः(धं) क्षुधादिबाधारहितत्वात्, अपुनर्भवं पुनः संसाराभावात्, प्रशस्तं-प्रधानं उक्तगुणसद्भावात्, सौम्यं-रागाद्यभावात्, शुभं-सर्वप्रियत्वात्, शिवं-विघ्नाभावात्, अचलं-स्पंदनादिक्रियाशून्यम्, अक्षतं पूर्णमासीचंद्रवत् आह्लादकरं तादृशं ब्रह्मचर्यव्रतं यतिवरैः संरक्षितं-पालितं, सुचरितं-शोभनानुष्ठानं, सुष्ठु साधितं-शोभनतया प्रतिपादितं-कथितं, नवरं-केवलं, मुनिवरैर्महर्षिभिः, महा-

मुणिवरेहिं महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमंताण य सया विसुद्धं सव्वभव्वजणाणुचिन्नं, निस्संकियं, निब्भयं, नित्तुसं, निरायासं, निरुवलेवं, निव्वुतिघरं, नियमनिप्पकंपं, तवसंजममूलदलियणेम्मं, पंचमहव्वयसुरक्खियं,

पुरुषैः ज्ञात्यादिगुणोपेतैः, धीराः–उत्तमाः, धीराणां मध्येऽपि शूरा–अत्यंतमहासत्त्वधनाः, ते च, धार्मिका धर्मशा(शी)लाः, धृतिमंतो–धैर्यवंतः तेषामेव कर्मधारयः तादृशानां सदा विशुद्धं–निर्दोषं। अनेन किं साधितं

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च, तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्धर्मं चरिष्यसि" इति निरस्तम् अतः तदुक्तं–

"अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्, दिवंगतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्"

अतः शीलं सदा विशुद्धम्, सर्वभव्यजनानुचरितं भव्यकल्याणयोग्यमित्यर्थः, निःशंकितं–अशंकितं ब्रह्मचारी हि सर्वजनानां निःशंकनीयो भवति विषयनिःस्पृहत्वात्, निर्भयं–ब्रह्मचारी हि निर्भयो भवति, निस्तुषं–विशुद्धतंदुलकल्पम्, निरायासं–न खेदकारकं, निरुपलेपं–स्नेहरहितम्, निर्वृतिः–चित्तस्वास्थ्यं तस्य गृहं इव (गृहं), यतः

"किं(क्व)यामः कुत्र तिष्ठामः, किं ब्रूमः, किं च कुर्महे रोगिणश्चिंतयंत्येवं, नीरोगाःसुखमासते" अतो नीरोगा ब्रह्मचारिणश्चेति गम्यं, तपोनियमेन अवश्यंभावेन निष्प्रकंपं–अविचलं तपःसंयमयोर्मूलदलिकयोग्यं, नेम्यं आदिभूतद्रव्यमित्यर्थः अथवा निभं वा तत्सदृशं इत्यर्थः व्रतांतरहिंसामृषावादानपि स्यादित्यर्थः

"न वि किंचि अणुन्नायं पडिसिद्धं वा वि जिणवरिन्देहिं मुत्तुं मेहुणभावं ण तं विणा रागदोसेहिं ॥१॥

१ नैव किञ्चिदनुज्ञातं प्रतिषिद्धं वाऽपि जिनवरेन्द्रैः मुक्त्वा मैथुनभावं यद् न तद्विना रागद्वेषौ॥१॥

समितिगुत्तिगुत्तं, झाणयरकवाडसुकयरक्खणमज्झप्पदिन्नफलिहं, संन्नयद्धोच्छइयदुग्गइपहं, सुगतिपहदेसगं च लोगुत्तमं, च वयवयचिणं पउमसरतलागपालिभूयं, महासगडअरगतुंबभूयं, महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं, महा-नगरपागारकवाडफलिहभूयं रज्जुपिणिद्धो व इंदकेतू विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं, जंमि य भग्गंमि होइ सहसा

तया पंचानां महाव्रतानां मध्ये सुष्ठु–अत्यंतं रक्षणं–पालनं यस्य तत्तथा समितिरी(भिरी)र्यादिभिः गुप्तिभिः–मनोगुप्त्यादिभिः सत्यादि(भि) नवभिर्वा गुप्तं–रक्षितम्, ध्यानप्रधानं ध्यानमेव कपाटं सुकृतं सुविरचितरक्षणार्थे यस्य तत्तथा, अध्यात्म–अनुभवज्ञा-नरूपोपयोगः तदेव दृढः कपाटदृढीकरणार्थं [परिघः]–स्फटिकोऽर्गला यस्य तत्तथा, सन्नद्ध बद्ध इव आच्छादित इव निरुद्धो दुर्गति-पथो येन तत्तथा, सुगतिपथस्य दर्शकम्, लोकोत्तम(म्) व्रतमिदं यदुक्तं

"[1]देवदाणवगन्धव्वा जक्खरक्खसकिन्नरा बंभचारिं नमंसंति दुक्करं जे करंति ते ॥१॥

पद्मैः उपलक्षितं सरः पद्मसरः–सतः संभवो जलाशयविशेषः, तडागश्च स एव पुरुषादिकृतं(तः) पद्मसरसोऽतिमनोहरत्वात् उपादेयत्वं, तत्तुल्यो धर्मः तस्य पालिभूतं रक्षकत्वेन, महाशकटारकाः–क्षान्त्यादिगुणास्तेषां तुंबभूतं–आधारभूतं न नाभिभंगे शकटा वहंति इति, महाविटपवृक्ष इव–विस्तारभूरुह इव आश्रितानां परोपकारकारित्वाद्धर्मः तस्य स्कंधभूतं तस्मिन् सति सर्वधर्मशाखिन उत्पा-द्यमानत्वात्, महानगरं विविधसुखहेतुत्वात्, प्राकार इव, कपाट इव, परिघ इव, रक्षाकरणत्वात् तद्वत्। रज्जुपिनद्ध इव–दवरक वेष्टित इव, इन्द्रकेतुः–महदुत्सवध्वजः, विशुद्धा येऽनेकगुणाः–धैर्यादयस्तैः संपिनद्धं–परिवृतं यस्य तत्तथा। यस्मिन्–ब्रह्मचर्ये भग्ने सति

१ देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः, ब्रह्मचारिणं नमस्यन्ति, यद् दुष्करं तत्ते कुर्वन्ति ॥१॥

सव्वं संभग्गमद्दियमथियचुन्निय-कुसल्लिय-पव्वयपडिय-खंडिय-परिसडिय-विणासियं विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं बंभं भगवंतं गहगणनक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपत्ती मणिमुत्तसिलप्पवालरत्तरयणागराणं च जहा समुद्दो वेरुलिओ चेव जहा मणीणं जहा मउडो चेव भूसणाणं, वत्थाणं चेव खोमजुयलं, अरविंदं चेव पुप्फजेट्ठं, गोसीसं चेव

अकस्मात् सर्वं सदाचारव्रतं संभग्नं भवति किंचन(किंवत्)घटवत्, मर्दितं-मथितं दधीव निर्लोडि(ठि)तं, चूर्णितं चनकपिष्टमिव, कुशल्यितं अंतःप्रविष्टतोमरादेः शल्येन शरीरमिव भग्नं सत् पुनः सज्जं न भवति तद्वत् ब्रह्मचर्यमपीति ज्ञेयम्। पर्वतपतितगंडशैल इव, प्रासादशिखरादेः कलशादिरिव अधोनिपतितं दण्ड इव विभागेन परिच्छिन्नं शटितं-कुष्टाद्युपहतांग इव, विनाशितं च-भस्मीभूत(तं) पवनविकीर्णं दारु इव निस्सत्ताकं ब्रह्मव्रतं भग्नं सत् एतादृशं असारं भवति एतेषां पदानां द्वन्द्वः कर्मधारयो वा किमेवं भवतीत्याह, विनय-शील-तपोनियमगुणानां वृन्दं-समूहो यस्य तत्तथा तदेवं लक्षणं ब्रह्मव्रतं भगवन्तं-भट्टारकं पूज्यं किंवत् इत्याह

इह समूहशब्दस्य छांदसत्वात् नपुंसकनिर्देशः, ग्रहगणनक्षत्रतारकाणां च मध्ये यथा उडुपतिः-चन्द्रः प्रवरः-प्रधानः इति योगः, तथैव व्रतानां मध्ये इदं व्रतं वा शब्दः पूर्वं विशेषणापेक्षया समुच्चये वा, मणयश्चंद्रकान्ताद्याः, मुक्ताफलानि, शिलाप्रवालानि-विद्रुमाणि, रक्तरत्नानि-पद्मरागादीनि तेषां आकरा-उत्पत्तिभूमयो ये ते तथा तेषां वा यथा समुद्रः प्रवरस्तथेदं ब्रह्मव्रतमिति शेषः। वैडूर्य-रत्नविशेषो यथा मणीनां मध्ये तथेदं ब्रह्मव्रतं प्रवरं इति दृश्यम्, भूषणानां-आभरणानां मध्ये यथा मुकुटः-किरीटम्, वस्त्राणां मध्ये यथा क्षौमयुगलं कार्पासिकवस्त्रस्य प्रधानत्वात् तथेदं ब्रह्मव्रतम्, इह च 'इव' शब्दो यथार्थे दृष्टव्यः, पुष्पानां मध्ये अरविन्दं

चंदणाणं, हिमवंतो चेव ओसहीणं, सीतोदा चेव निन्नगाणं, उदहीसु जहा सयंभुरमणो, रुयगवर चेव मंडलिकपव्वयाणं, पवरो एरावण इव कुंजराणं, सीहोव्व जहा मिगाणं, पवरो पवकाणं चेव वेणुदेवे, धरणो जह पण्णगइंदराया, कप्पाणं चेव बंभलोए, सभासु य जहा भवे सुहम्मा, ठितिसु लवसत्तमव्व पवरा, दाणाणं चेव अभ-

---

यथा ज्येष्ठं तथेदं ब्रह्मचर्यम्, चंदनानां मध्ये गोशीर्षाभिधानं चंदनं प्रधानं तथेदं ब्रह्मव्रतम्, हिमवानिव औषधीनां मध्ये यथा हिमवान्-गिरिविशेषः औषधीनामद्भुतकार्यकारिवनस्पतिविशेषाणां उत्पत्तिस्थानं तथाऽऽमर्षौषध्यादीनामागमप्रसिद्धानामिदमेव ब्रह्मव्रतमुत्पत्तिस्थानम्, यथा निम्नगानां-नदीनां मध्ये शीतोदा प्रवरा तथेदं ब्रह्मव्रतम्, उदधिषु यथा स्वयंभूरमणः-अन्तिमः समुद्रः महत्त्वेन प्रवरः तथेदं ब्रह्मव्रतम्, यथा मांडलिकपर्वतानां-मानुषोत्तरकुंडलवररुचकवराभिधानानां मध्ये रुचकवरः-त्रयोदशद्वीपः प्रवरः एवं तथेदं ब्रह्मव्रतं प्रवरमिति, यथा कुञ्जराणां मध्ये ऐरावणः-शक्रगजः तथेदं ब्रह्मव्रतमिति, सिंहो यथा मृगाणां मध्ये-आरव्यपशूनां मध्ये प्रवरः-प्रधानस्तथेदं ब्रह्मव्रतम्, पवकानां प्रक्रमात् सुपर्णकुमाराणां मध्ये यथा वेणुदेवः प्रवरस्तद्वद्व्रतमिदम्, धरणो यथा पन्नगेन्द्राणां-भुजगवराणां राजपन्नगेन्द्राणां मध्ये प्रवरस्तद्वदिदं ब्रह्मव्रतम्, कल्पानां-देवलोकानां मध्ये यथा ब्रह्मदेवलोकः तत् क्षेत्रस्य महत्वात् (तद्वदिदं ब्रह्मव्रतम्) समासु मध्ये यथा सुधर्मा सभा प्रतिभवनविमानभाविनी उत्पादसभा, व्यवसायसभा, अभिषेकसभा, अलंकारसभा, सुधर्मसभा आसु पंचसु मध्ये सुधर्मासभा प्रवरा भवति तथेदं व्रतम्, स्थितिषु-आयुषः स्थितिषु मध्ये लवस(प्त)त्तमानुत्तरसुरभवस्थितिर्वा शब्दो यथार्थे प्रवरा-प्रधाना तथेदं व्रतम्, तत्रैकोनपंचाशत् उच्छ्वासानां लवो भवति व्रीह्यादिस्तंबलवनं वा लवः तत्प्रमाणः कालोऽपि लवः ततो लवैः सप्तभिः सा प्रपच्यते सा लवसप्तमेति आख्याते विवक्षिताध्यवसायविशेषस्य मुक्तिसंपादकस्यापूर्यमाणैर्या

पदाणं; किमिराउ चेव कंबलाणं, संघयणे चेव वज्जरिसभे, संठाणे चेव समचउरंसे, झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं, णाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेस्सा, तित्थंकरे जहा चेव मुणीणं, वासेसु जहा महाविदेहे, गिरिसु गिरिराया चेव मंदरवरे, वणेसु जह नंदणवणं, पवरं दुमेसु जहा जंबू, सुदंसणा वीसुयजसा जीए नामेण य अयं दीवो। तुरगवती, गयवती रहवती, नरवती, जह वीसुए चेव, राया रहिए चेव जहा महारहगते,

---

||७०|| स्थितिर्विष्यते सा लवसप्तमेत्युच्यते, तत्र दानानि ज्ञानधर्मोपष्टंभाद्यनेकभेदानि तेषां मध्येऽभयदानं-निर्भयप्रदानं श्रेष्ठं तद्वदिदं ब्रह्मव्रतम्, कंबलानां-वासोविशेषाणां कृमिरागः-रक्तकंबल इव प्रवरः स्वभूमिगतरागः (तद्वदिदं व्रतम्), संघयणानां मध्ये वज्रर्षभनाराचं प्रधानं तद्वद्ब्रह्मव्रतम्, संस्थानानां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रधानं तद्वदिदं ब्रह्मव्रतम्, ध्यानेषु परमशुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं प्रवरं प्रधानं तथा व्रतेषु इदं ब्रह्मव्रतम्, ज्ञानेषु आभिनिबोधिकादिषु पंचकेषु मध्ये परमं केवलं श्रेष्ठं तद्वदिदं ब्रह्मव्रतं प्रधानं तुरेवकारार्थः, सिद्धं वा प्रवरतया संपूर्णतयाऽत्र सिद्धमित्यर्थः, लेश्यासु परमशुक्ललेश्या श्रेष्ठा तथैवेदं ब्रह्मव्रतं श्रेष्ठम्, तथा-तेनैव प्रकारेण चैव-निश्चितं मुनीनां मध्ये तीर्थकरः प्रधानस्तद्वदिदं ब्रह्मव्रतम्, वर्षेषु-क्षेत्रेषु यथा महाविदेहः श्रेष्ठः (तत्र) सनातनधर्मत्वात् तथा व्रतेषु ब्रह्मव्रतम्, गिरिषु राजा यथा मंदरवरो-जंबूद्वीपस्य मेरुगिरिराजः तथेदं व्रतानां मध्ये ब्रह्मव्रतम्, वनेषु यथा नंदनवनं प्रवरं देवानां अतिरमणशीलत्वात् कल्पद्रुमवत्वाच्च तथेदं व्रतम्, द्रुमेषु-वृक्षेषु यथा जंबूः, सुदर्शना-अनादृतदेवस्य स्थानं विश्रुतयशाः विख्यातकीर्तिः यस्याः नाम्ना कृत्वा अयं द्वीपो जंबूद्वीप इति संज्ञिकस्तद्विदं ब्रह्मव्रतम्। यथा तुरगपतिरश्वपतिः, गजपतिः गजानीकः, रथपतिः, नरपतिः ||७०||
चतुरंगिणीसेनायुक्तो यथा विश्रुतो-विख्यातो राजा श्रेष्ठः प्रधानस्तद्वद्विदं व्रतं विख्यातम्, यथा रथिको-महारथिको रथगतः परेषां

एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं, सीलं तवो य विणओ य, संजमो य, खंती गुत्ती मुत्ती तहेव इहलोइयपारलोइयजसे य, कित्ती य, पच्चओ य, तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं, सव्वओ विसुद्धं, जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजउत्ति, एवं भणियं वयं भगवया, तं च इमं–

अनभिभवनीयो भवति तद्वदेतद्व्रतधरः पुमान् उपद्रवानामनभिभूतो भवति,

अथ निगमयन्नाह एवमनेके गुणाः यस्मिन् व्रते अहीनाः प्रकृष्टाः आधीना आयत्ता भवंति क्वेत्याह–एकस्मिन् ब्रह्मचर्यव्रते सर्वे- गुणाः स्थिता इति दर्शितं, कथं? यस्मिन् व्रते आराधिते पालिते सति आराधितं व्रतमिदं निर्ग्रन्थप्रव्रज्यालक्षणं सर्वव्रतं शीलं–मनः समाधानं, तपोऽभिलापविरतिरूपं, विनयः–क्रोधादित्यागः, संयमश्च अनिदानरूपः, क्षान्तिः–क्रोधत्यागः, गुप्तिर्मानसविकारसंवृतिः, मुक्तिर्निर्लोभो वा सिद्धिर्वा, तथैवेति समुच्चये, इहलौकिकपारलौकिकिन्यः सिता यशांसि कीर्त्तयश्च प्रत्ययश्च साधुवादः आराधिता भवंति इति प्रक्रमः, तत्र यशः पराक्रमभवं, कीर्तिः दानपुण्यफलभूता, तथा सर्वदिग्गामि यशः, एकदिग्गामिनी कीर्त्तिः, सज्जनधौरेय इत्यादि प्रतीतिः प्रत्यय इति शब्दार्थाः। एवंभूतं व्यावर्णितं तस्मान्निभृतेन–निश्चलेन ब्रह्मचर्यव्रतमासेवनीयम् पालनार्थं? किंभूतं, मनःप्रभृतिकरणत्रययोगेन शुद्धं–निरवद्यं, यावत् भवतया प्रतिज्ञातं आजन्मेत्यर्थः यावत् श्वेतास्थिः एतावता शोषितमांसरुधिरादिः तादृशः संयतः–साधुः ब्रह्मव्रतपालनाय उद्यतः, एवं–वक्ष्यमाणं भणितम्–कथितम् व्रतमिदं केनेत्याह? भगवता–ज्ञानवता पूज्येन श्रीमहावीरेण, तच्च इदं वचनं पद्यत्रयप्रभृतिकं तोटकछंदोरूपेण काव्येन

पंचमहव्वयसुव्वयमूलं, समणमणाइलसाहुसुचिन्नं। वेरविरामणपज्जवसाणं, सव्वसमुद्दमहोदधितित्थं ॥१॥

तित्थकरेहि सुदेसियमग्गं, नरयतिरिच्छविवज्जियमग्गं। सव्वपवित्तिसुनिम्मियसारं, सिद्धिविमाणअवंगुयदारं ॥२॥

देवनरिंदनमंसियपूयं, सव्वजगुत्तममंगलमग्गं। दुद्धरिसं गुणनायकमेक्कं, मोक्खपहस्स वडिंसकभूयं ॥३॥

पंच महाव्रतनामकानि सुष्ठु-शोभनव्रतानि तेषां मूलमिव मूलं यत्तत्, कीदृशं समणंति समावं यथा भवति तथा, अनाविलैः-अकलुषैः शुद्धस्वभावैः साधुभिः-यतिभिः सुष्ठु चरितं आसेवितं, पुनःकीदृशं ? वैरस्य-परस्परामर्षस्य विरामं करणं-उपशमनप्रापणं निवर्त्तनपर्यवसानफलं यस्य तथा "मेहुणप्पभवं वेरं वेरप्पभवा दुग्गई" इतिवचनात् ब्रह्मव्रते तदुपशम इत्यागतम्, सर्वेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् महान् उदधिः स्वयंभूरमणः तद्वत् यद्दुरुत्तरत्वेन तत्र तीर्थमिव तीर्थं संसारदुस्तरणे तीर्थमिव-तरणोपायम् ॥१॥ तीर्थंकरैः-जिनैः सुष्ठु-शोभनतया उपदर्शितमार्गो गुप्त्यादि तत्पालनोपायम्, पुनः कीदृशं ? नरकतिर्यक्संबंधी विवर्जितो-निषेधितो गतिमार्गो येन तथा तम्, सर्वाणि पवित्राणि-समस्तपावनानि सुष्ठु निर्मितानि-शोभनविहितानि साराणि-प्रधानानि येन तत्तथा, सिद्धेर्मोक्षस्य विमानानां च स्वर्गलोकानां च अपावृतं-अवगुणीकृतं उद्घाटितं द्वारं-मुखं येन "शीलव्वयधरो न दुग्गइ गमणसीलो इति वचनात् ॥२॥ देवानां नराणां च इन्द्रैः नमस्यिता नमस्यिता नमस्कृता येन तथा तेषां पूज्यं-अर्चनीयं यत्तत्तथा। सर्वे जगदुत्तमानां मंगलानां मार्गः-उपायः अग्रं वा-प्रधानं यत्तत्तथा, दुर्द्धर्षं-परैरनभिभवनीयं, सकलगुणानां नायकम् प्रधानत्वेन अथवा गुणान् नयतीति वा, तथा एकं-अद्वितीयम्, एतत् सदृशं नान्यद्व्रतमिति, मोक्षपथस्य-सम्यग्दर्शनादेः अवतंसभूतं-शेखरकल्पं

जेण सुद्धचरिएण भवइ सुबंभणो सुसमणो सुसाहू सुइसी सुमुणी ससंजए स एव भिक्खू जो सुद्धं चरति बंभचेरं, इमं च रतिरागदोसमोहपवड्डणकरं किंमज्झ-पमाय-दोसपासत्थ-सीलकरणं अब्भंगणाणि य तेल्लम-

प्रधानमित्यर्थः इति काव्यत्रयार्थः ॥३॥

तथा येन ब्रह्मचर्येण शुद्धचरितेन-सम्यग् आचरितेन भवति सुब्राह्मणो यथार्थनामत्वात् "अब्रह्मचारी ब्राह्मणो न" यदुचिमहे "नित्यं यश्च कलाकलापकलितः प्राज्ञोऽपि विज्ञानवान् विद्यावेदविशारदोऽपि यतिरप्याश्चर्यकृच्छास्त्रवित्, धीरोदात्तगुणैरलंकृततनुस्तादृग् पुनर्नो यदि स्वीयाक्षाणि वशीकरोति पुरुषः किं तस्य पुंस्त्वं भुवि" इति वचनात्, सुश्रमणः-सुतपाः, सुसाधुः-शोभनमुनिः, सुशोभनऋषिः-षट्कायसंरक्षकः, सुमुनिः सम्यक्ज्ञानवान्, सुसंयतः सम्यक्यतनावान् स एव भिक्षुः-भिक्षणशीलः कर्मभेदनस्वभावः यः शुद्धं चरति ब्रह्मचर्य्यम्,

इदं अब्रह्म पुनः कीदृशं तदाह-रतिश्च-विषयाभिष्वंगः, रागश्च पित्रादिषु स्नेहरागः, द्वेषश्च प्रतीतः, मोहश्च-अज्ञानं, एषां प्रवर्द्धनं करोति तत्तथा, किं मध्यमस्य किं शब्दस्याक्षेपार्थत्वात् मध्यमः-प्रमादः अथवा प्रमाद एव मध्यदोषः तत्करणशीलत्वात् असारमिवासारम् तथा पार्श्वस्थानां-ज्ञानाचारादिबहिर्वर्तिनां साध्वाभासानां शीलं अनुष्ठानं निष्कारणं शय्यातराभ्याहृतादि पिण्डपरिभोगादि पार्श्वस्थस्य शीलकरणं पदत्रयस्य कर्मधारयः तस्य करणं-आसेवनं यत्तत्तथा एतदेव। पार्श्वस्थशीलं व्याख्यानयति, अभ्यञ्जनानि

१ सकलकलाकलापकलितोऽपि कविरपि पण्डितोऽपि हि प्रकटितसर्वशास्त्रतत्त्वोऽपि हि वेदविशारदोऽपि हि। मुनिरपि वियति विततनानाद्भुतविभ्रमदर्शकोऽपि हि, स्फुटमिह जगति तदपि न स कोऽपि हि यदि नाक्षाणि रक्षति ॥१॥

ञ्जणाणि य अभिक्खणं कक्ख-सीस-कर-चरण-वदण-धोवण-संबाहण-गायकम्म-परिमद्दणाणुलेवण-चुन्न-धास-धूवण-सरीरपरिमंडण-बाउसिकं,हसिय-भणिय-नट्टगीयवाइयनडनट्टकजल्लमल्लपेच्छणवेलंबक जाणि य सिंगारागाराणि य अन्नाणि य एवमादियाणि तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं वज्जेयव्वाइं सव्वकालं, भावेयव्वो भवइ य अंतरप्पा इमेहिं तवनियमसीलजोगेहिं निच्चकालं, किं ते ?-अण्हाणक-

घृतवशाम्रक्षणादिना, तैलमज्जनानि-तैलस्नानानि च, अभीक्ष्णं-अनवरतं, कक्षा-बाहुमूल[लं]शीर्षकरचरणवदनानां धावनं-प्रक्षालनं, संबाधनं गात्रकर्म च-हस्तादिगात्रचंपनरूपं, गात्रपरिकर्म-अंगपरिकर्म परिमर्दनं-सर्वतः शरीरमलनं, अनुलेपनं च-विलेपनम्, चूर्णैः-गंधद्रव्यक्षोद्रैः वासश्च-शरीरादिवासनम्, धूपनं चाऽगुरुधूमादिभिः, शरीरपरिमंडनं च, एतत्सर्वं बाकुशिकं, बकुशं-कर्बूर(बुर)चारित्रं प्रयोजनं यस्येति बाकुशिकं न तु भूषणं, नखकेशवस्तुसमारचनादिकं तदेवाह बाकुशिकम्। हसितं-हासः, भणितं-प्रक्रमादिकृतम्, नाट्यं-नृत्यम्, गीतं-गानम्, वादितं-पटहादि वादनम्, नटाः-नाटयितारः, नर्तकाश्च ये नृत्यं कुर्वन्ति ते, जल्ला-वरत्राखेलका, मल्लाः प्रतीताः बाह्वादिभिः खेलंति तेषां प्रेक्षणं नानाविधवंशखेलनादिसंबंधि वेलंबकाः-प्रविडंबकाः विदूषका-वैहासिका इति एतेषां द्वन्द्वः, छांदसत्वात् विभक्तिलोपो दृष्टव्यः ते सर्वे वर्जनीया इति योगः आंतरविभक्तिवशात् ज्ञेयम्, किं बहुना यानि च वस्तूनि शृङ्गारागाराणि-शृङ्गाररसगेहानि अन्यानि अपि-उक्तव्यतिरिक्तानि, एवमादिकानि-एवं प्रकाराणि, तपःसंयमब्रह्मचर्याणां घातश्च देशतः, उपघातश्च सर्वतो विधते येषु तानि सर्वघातोपघातकानि, किमत आह अनुचरता-आसेवमानेन ब्रह्मचर्यं वर्जयितव्यानि सर्वकालं.

१ दोरला रमणाहार भाषा

॥७२॥

अदंतधावणसेयमलजल्लधारणं मूणवयकेसलोए य खम-दम-अचेलग-खुप्पिवास-लाघव-सीतोसिण-कट्ठसेज्जा-भूमिनिसेज्जा-परघरपवेस-लद्धावलद्ध-माणावमाणा निंदण-दंसमसग-फास-नियम-तव-गुण-विणयमाविएहिं जहा से थिरतरकं होइ बंभचेरं। इमं च अबंभचेरविरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं,

अन्यथा ब्रह्मचर्यो व्याघातो भवति इति योगः, तथा भावयितव्यश्च भवति अन्तरात्मा ब्रह्मचर्यवता एवं भावनीयं, मया अंतरात्मा अनया रीत्या पालनीयः सर्वदा एभिः-वक्ष्यमाणैः तपोनियमशीलयोगैः नित्यकालम्, किं ते तद्यथा अस्नानकं-वा स्नानरहितत्वं, 'दंतधावनं प्रतीतम्, स्वेदः-प्रस्वेदः मलः-कक्खडीभूतः कठिन(नम्), जल्लो-मलविशेषः अथवा जल्लः-शरीरजन्यमलः, मलः-साधारणमलः, मौनव्रतं-विकथाभावः, केशलुञ्चः-केशापनयनं प्रतीतम्, क्षमा-क्रोधनिग्रहः, दमश्च-इन्द्रियनिग्रहः, अचेलकं-वस्त्राभावः, क्षुत्पिपासा च प्रतीता, लाघवं च-अल्पोपधित्वं, शीतोष्णे च प्रतीते, काष्ठशय्या फलकादिशयनं, भूमिनिषद्या-भूमिशयनादि, परघर [गृह] प्रवेशः शय्याभिक्षायाचनाद्यर्थम्, लब्धे वाऽभिमताशनादौ अलब्धे च तदप्राप्तौ लब्धेष्वेव यो मानो-लब्धिवानहमित्यादिरूपः, [अलब्धे च] अपमानश्च-दैन्यं, निंदनं-क्लेशः, दंशमशकस्पर्शाश्च, नियमाश्च-द्रव्याद्यभिग्रहाः, तपोऽनशनादिकः, गुणाः-मूलगुणोत्तरगुणादयः, विनयोऽभ्युत्थानादिरूपः, एतेषां द्वन्द्वः इत्येवमादिकैर्योगैः यथा-येन प्रकारेण "से" तस्य मुनेः ब्रह्मचर्यव्रतं स्थिरतरं-निश्चलं भवति, इदमेतद्ब्रह्मचर्यव्रतपरिरक्षणार्थ-आसेवनार्थं, प्रावचनिकं-प्रवचनस्येदं, भगवता-श्री महावीरेण सुष्ठु-शोभनतया कथितं-उपदेशितम्, कीदृशं ? प्रेत्य-परलोके सुखकारित्वात् भाविकं-भावनायुक्तं, आगमिष्यद्भद्रं-आगामिकाले श्रेय-

१ "दातण इति" भाषा

पेचाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं, अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसवणं।

तस्स इमा पंच भावणाओ चउत्थयस्स होंति अबंभचेरवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए, पढमं सयणासण-घर-दुवार-अंगण-आगास-गवक्ख-साल-अभिलोयण-पच्छवत्थुक-पसाहणक-ण्हाणिकावकासा अवकासा जे य वेसियाणं अच्छंति य जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ

स्करत्वात्, शुद्धं-निर्दोषं, न्यायोपपन्नं-नैयायिकं, अतएव अकुटिलं ऋजु, अनुत्तरं-एतस्मादन्यत् प्रधानं न, सर्वदुःखपापानां विशेषेण उपशामकं तन्नाशकत्वात्

तस्य-ब्रह्मचर्यव्रतस्य इमा अग्रे वक्ष्यमाणाः पञ्चसङ्ख्याका भावना चतुर्थव्रतस्य भवन्ति, अब्रह्मचर्यविरमणव्रतपरिरक्षणार्थं तत्र प्रथमभावनावस्तु यथास्त्रीसंसक्ताश्रयवर्जनलक्षणं तच्चैवं-शयनं-शय्या, आसनं सिंहासनं विष्टरं, गृहं-गेहं, द्वारं-तस्यैव मुखं प्रवेशनरूपं, अङ्गणं-गृहमध्यभागः, आकाशं-अनाच्छादितस्थानं, गवाक्षो-वातायनः, शाला-भाण्डशाला गृहोपस्करस्थानं, यत्र स्थित्वा अभिलोक्यते जनैः तदभिलोकस्थानं उन्नतभूप्रदेशः, पच्छवत्थुगं पश्चाद्वास्तुकं-पश्चाद्गृहं वर्चादिस्थानं, वा प्रसाधनं-मंडनक्रिया तस्य करणस्थानं, स्नानक्रियास्थानं, तस्या आश्रया स्थानकानि तेषां पदानां द्वन्द्वः, तत एते सर्वे स्त्रीसंसक्ता-स्त्रीजनादिसंक्लिष्टा वर्जनीया इति योगः तथा ये च अवकाशा-आश्रयाः स्थानका निवेश्या वा विषयतृपितानां वा तेषां आसने च तिष्ठन्ति च यत्र येषु अवकाशेषु स्त्रियः किंभूतास्ताः ? अभीक्ष्णं-अनवरतं मोहदोषस्य-अज्ञानदोषस्य रतेः रागस्य-कामरागस्य वर्द्धना वृद्धिकारिकाः यास्ताः, तथा कथयन्ति च कथा बहुविधाः बहुप्रकारा जातिकुलरूपनेपथ्यसंबंधिन्यः स्त्रीसंबंधिन्यः पुरुषाः स्त्रियो वा यत्रेति बहुप्रकारं वर्जनीयाः। ॥७३॥

तेऽवि हु वज्जणिज्जा, इत्थिसंसत्तसंकिलिट्ठा अन्नेवि य एवमादी अवकासा ते हु वज्जणिज्जा। जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणायतणं अंतपंतवासी एवमसंसत्तवास-वसहीसमितिजोगेण भावितो भवति, अंतरप्पा, आरतमणविरयगामधम्मे, जितेंदिए, बंभचेरगुत्ते १।

यत्र वेश्याश्रयाः यत्र बह्वयः स्त्रीकथाकथनं हुर्वाक्यालंकारे ते ब्रह्मचर्यवता वर्जनीया। एवं स्त्रीसंबंधिसंक्लिष्टा न केवलं उक्तरूपा वर्जनीयाः अन्येऽपि च एवमादयः अवकाशा–आश्रया वर्जनीयाः इति ज्ञेयं, हु–वाक्यालंकारे निश्चयार्थे च। किं बहुना यत्र स्थाने मनसो विभ्रमः ब्रह्मव्रतं पालयामि नवेत्येवंरूपश्च शृङ्गाररसप्रभवंमनसो अस्थिरत्वं जायते कदाचिच्च "चित्तवृत्तेरनवस्थितत्वं शृङ्गारजो विभ्रम उच्यते", भङ्गो वा ब्रह्मव्रतस्य सर्वभङ्गः, भ्रंशना देशतो भङ्गः, आर्त्त–इष्टविषयसंयोगाभिलापरूपं रौद्रं वा भवेत् ध्यानं तदुपायभूतहिंसानृतादत्तग्रहणानुबन्धिरूपं तत्तदनायतनमिति योगात् वर्जनीयाः। को वर्जयेदित्याह–अवद्यभीरुः पापाद्भिभ्यकः स वर्ज्यते इति अथवा वज्जं च वज्रसत्वात् पापमेव अनायतनं–अलाभस्थानं साधूनामनाश्रय इति। किंभूतः?–सावद्यभीरुः अंते इंद्रियाननुकूले प्रान्ते–स्थाने तत्रैव वशनशीलः अन्तप्रान्तवासी तत्रैव प्रकृष्टतर आश्रये वसनस्वभाव इत्यर्थः। अथ निगमयन्नाह—

एवं अनन्तरोक्तस्त्रीभिरसंसक्तवासो–वसतिः योऽसौ साधुः तद्विषयो यः समितियोगः–सदाचरणप्रवृत्तिसम्बन्धः स तथा तेन भावितो–वासितो अंतरप्पा–अन्तरात्मा जीवः किंविधः–विधिमर्यादीकृत्य आसक्तं–रतं ब्रह्मचर्ये मनो यस्य स आरतमनाः, विरतो–निवृत्तो ग्रामस्येन्द्रियवर्गस्य धर्मो लुब्धतया स्वविषयेन्द्रियग्रहणस्वभावो यस्य स तथा पदद्वये कर्मधारयः, अतएव जितेन्द्रियः, ब्रह्मचर्यगुप्तः इति प्रथमा भावना

बितियं नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता विब्बोयविलाससंपउत्ता, हाससिंगारलोइयकहव्व मोहजणणी न आवाहविवाहवरकहाविव इत्थीणं वा सुभगदुभगकहा चउसट्ठिं च महिलागुणा न वन्न-देस-

---

द्वितीयभावनावस्तु-किमित्याह ? नारीजनस्य मध्ये-स्त्रीपर्षदांतः नो-निषेधे कथा कथयितव्या का इत्याह-कथा-वाक्प्रपञ्चरचना विचित्रा या तत्र ज्ञानोपष्टम्भादिकारणवर्जमिति गम्यं, कीदृशी कथा वर्जनीयेत्याह—

विब्बोकविलाससंप्रयुक्ता-तत्र विब्बोकलक्षणं चेदं

"इष्टानामर्थानां प्राप्तावभिमानगर्वसंभूतः स्त्रीणामनादरकृतो विब्बोको नाम विज्ञेयः ॥१॥" विलासलक्षणं चेदं

"स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्म्मणां चैव। उत्पद्यते विशेषो यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥१॥"

अन्ये त्वाहुर्विलासो-नेत्रजो ज्ञेयः इति। हासो-हास्याभिधानो रसविशेषः शृङ्गारोऽपि रसविशेषस्तयोः स्वरूपमिदं, हासो-हास्यप्रकृतिर्विकृताङ्गवेषचेष्टाभ्यो भवति परस्त्रीभ्यः स च भूवा स्त्री हास्यवती। शृङ्गारोऽपि द्विधा संभोगो विप्रलम्भश्च एतत्प्रधाना या कथा, लौकिकी अविद्वज्जनसंबंधिनी कथा-वचनरचना सर्वमोहजनका मोहोदीरका, वाशब्दो विकल्पार्थः, तथा न-नैव। आवाहो-नवपरिणीतवधूवरस्य आकारणं, विवाहश्च-पाणिग्रहणं तत्प्रधाना या वरकथा-परिणेतृकथा तदुत्कर्षजनका प्रधाना वा सा कथा न कथयितव्या। तथा स्त्रीणां ताः सुभगदुर्भगा वा भवतीत्येवंरूपा न कथयितव्या कथा। चतुःषष्टिश्च महिलागुणाः आलिंगनादीनामष्टानां कर्मणां प्रत्येकमष्टाष्टभेदत्वेन चतुष्षष्टिर्जायते, गीतनृत्यौचित्यादयोऽपि नामतः चतुःषष्टिभेदा अपि संति वा वात्स्यायनप्रसिद्धा आसनादिभेदाः तत्प्रधाना कथा अपि न कथयितव्या, तथा न-नैव देशकुलरूपनामनेपथ्यपरिजनकथा वा न वाच्या स्त्री

जाति-कुल-रूव-नाम-नेवत्थ-परिजणकहावि इत्थियाणं अन्नावि य एवमादियाओ कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाओ अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा, न सुणेयव्वा, न चिंतेयव्वा, एवं इत्थी-

प्रक्रमः। तत्र लाटादिदेशसंबंधेन स्त्रीणां वर्णनं यथा-लाटदेशीयाः कोमलवचना रतिनिपुणाः सुस्तन्यो भवन्ति, जातिकथा यथा-धिग् ब्राह्मणी विधवा या जीवन्ती मृता इव, धन्या मन्ये जने शूद्रा पतिलक्षेऽप्यनिन्दिता। कुलकथा यथा-

अहो चौलुक्यपुत्रीणां साहसं जगतोऽधिकं। पत्युर्मृत्यौ विशंत्यग्नौ या प्रेमरहिता अपि ॥१॥ रूपकथा यथा-

चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गीः पीनघनस्तनी। किं लाटीनामतः साऽस्य देवानामपि दुर्लभा ॥१॥

नामकथा यथा-सा सुन्दरी सत्यं सौन्दर्यातिशयसमन्वितत्वात्, नेपथ्यं-वेषस्तत्कथा

यथा-धिग् नारीरौदीच्या बहुवसनाच्छादितांगलतिकत्वात्, यद्यौवनं न यूनां चक्षुर्मोदाय नो भवति ॥१॥

तदा परिजनकथा यथा-

चेटिका-परिवारोऽपि, तस्या कान्तो विचक्षणः। भावज्ञः स्नेहवान् दक्षो, विनीतः सत्कुलस्तथा ॥१॥

किं बहुना अन्याऽपि च एवमादिका उक्तप्रकाराः स्त्री-सम्बन्धिनी कथाः शृङ्गारकरुणाः-शृङ्गाररसेन कारुण्यवाक्प्रपश्चादिकाः, कीदृशीः? तपःसंयमब्रह्मचर्योपघातिनीः न कथाः कथयितव्याः। केनेत्याह-ब्रह्मचर्यमनुचरता पुंसा साधुना न श्रोतव्याः अन्यतः सकाशात्, न चिन्तयितव्याः मनसाऽपि यतिजनेनेति ज्ञेयं।

अथ द्वितीयभावनां निगमयन्नाह-एवं स्त्रीकथाविरतिः एवममुना प्रकारेण स्त्रीकथाविरतिसमितियोगेन भावितो-वासितो भवति

कइविरतिसमितिजोगेणं भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरयगामधम्मे जितिंदिए बंभचेरगुत्ते २।

ततीयं नारीण हसित-भणितं चेट्ठिय-विप्पेक्खित-गइ-विलासकीलियं विब्बोतियनट्टगीतवातियसरीरसंठाण-वन्न-करचरणनयणलावन्न-रूव-जोव्वण-पयोहरा-धर-वत्थालंकारभूसणाणि य गुज्झोवकासियाइं अन्नाणि

अन्तरात्मा-जीवः आरतमना विधि-मर्यादया विरतग्रामधर्मः, विजितेन्द्रियः-विजितविषयव्यापारः, इति प्रगट एव सूत्रार्थ इति द्वितीया भावना २।

अथ तृतीयभावनावस्तु स्त्रीरूपनिरीक्षणवर्जनं तत्प्रधाना भावना या सा चैवं—

नारीणां-स्त्रीणां हसितं, हास्यं विकारं नर्मादि भणितं सरागसंभोगविप्रलंभद्वयात्मकशब्दादि चेष्टितं-हस्तन्यासादिकरचालनारूपं, विप्रेक्षितं-निरीक्षितं कटाक्षादिना भ्रूचेष्टादिना, गतिर्गमनं मंथरालसपदस्थापनचेष्टाविशेषा, विलासो-हावभावादिलक्षणः, तत्र

हावो-मुखविकारः स्यात्, भावो-चित्तसमुद्भवः, विलासो-नेत्रजो ज्ञेयः, विभ्रमो भ्रूयुगांतयोः ॥१॥

तथा विभ्रमो-वेपचेष्टितः, इत्यादिरूपः, क्रीडितं-द्युतादि क्रीडा एषां समाहारद्वन्द्वः। [1]विब्बोकितं रतोत्पत्तिजनकं संभाषणं वा, नाटयं नृत्यं, गीतं गानं, वादितं वीणादिवादनं, शरीरसंस्थानं ह्रस्वदीर्घोन्नतादिलक्षणं, वर्णो गौरादिलक्षणः, करचरणनयनवदनानां लावण्यं-लवणिमा स्पृहणीयतारूपं, तथा रूपं चाकृतिः-आकारः, यौवनं-तारुण्यं, पयोधरौ-स्तनौ, अधरोऽधस्तन ओष्ठः, वस्त्राणि

---

१ लीलाविलासो-विच्छित्तिर्विब्बोकः कीलकिञ्चितं मोट्टायितं कुट्टमितं ललितं विहृतं तथा ॥१॥
विभ्रमश्चेत्यलंकारा स्त्रीणां स्वाभाविका दश इति तत्प्रदिपादकशास्त्राल्लक्षणान्यवसेयानीति

य एवमादियाइं तवसंजमबंभचेरघाओवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा न मणसा न वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं । एवं इत्थीरूवविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते ३ ।

चउत्थं पुव्वरयपुव्वकीलियपुव्वसंगंथगंथसंथुया जे ते आवाहविवाहचोल्लकेसु य तिथिसु जन्नेसु उस्सवेसु

वसनानि, अलंकारा-हारादयः, भूषणं च मंडनादिना शोभाकरणं एतेषां पदानां द्वन्द्वः ततस्तानि न प्रार्थयितव्यानीति शेषः । तथा गुह्यावकाशिकानि लज्जनीयस्थानत्वात् स्थगनीया आच्छादनीया अवकाशा देहावयवो श्रोणिनितम्बयोन्यादयः अन्यानि अपि हासादिकारणानि एवमादिकानि स्थानकानि तपःसंयमब्रह्मचर्योपघातकानि कुविकल्पोत्पत्तिदेशाः अनुचर्य अनुचरता-ब्रह्मव्रतमासेवता यतिना न चक्षुषा द्रष्टव्यानि अभिलाषतया दृष्टादृष्टिं न बध्नातीत्यर्थः । न मनसा चिन्तयितव्यानि । अनिदानं चारित्रं तवेवोदाणफले इति वचनात् वचसा न प्रार्थनीयानि इमानि रम्याणीत्यपि वाग्मात्रेणैव नोक्तव्यानीत्यर्थः । पावकानि-पापजनकत्वात् पापकर्माणि, एवमुक्तप्रकारेण स्त्रीरूपविरतिसमितियोगेन भावितो भवति अन्तरात्मा-जीवः आरतमना-विरतग्रामधर्मा जितेन्द्रियो-मुनिः ब्रह्मचर्यगुप्तो भवति इति तृतीया भावना ३

अथ चतुर्थभावनावस्तु यत्कामोदयकरं दर्शन-भणन-स्मरणं भवति तद्वर्ज्यमित्याह-तच्चैवं-पूर्वरतं गृहस्थाश्रमसम्बन्धिनी कामरतिः पूर्वक्रीडितं-गृहस्थावस्थाश्रयं द्यूतादिक्रीडनं तथा ये पूर्वार्थकालभाविनः संगंथाः संबंधाश्च श्वसुरकुलसंबंधाः शालक-शालिकादयः अथवा तद्भार्यास्तत्पुत्रादयः संस्तुताः-परिचितीकृता दर्शनभाषणादिभिः ततः एतेषां पदानां द्वन्द्वः तत एते सर्वे श्रमणेन अनभिलष-

य सिंगारागारचारुवेसाहिं हावभावपललियविक्खेवविलासगतिसालिणीहिं अणुकूलपेम्मिकाहिं सद्धिं अणुभूया सयणसंपओगा उदुसुहवरकुसुमसुरभिचंदणसुगंधिवरवासधूवसुहफरिसवत्थभूसणगुणोववेया रमणिज्जाउज्ज-

णीया अलक्ष्याः द्रष्टुं कथयितुं स्मर्तुं नाऽपि योग्याः इति सम्बन्धः । के ते ? वर्ज्या वक्ष्यमाणाः इत्याह आवाहः—वधूवरानयनं, विवाहः पाणिग्रहणं, बालकर्म बालानां नामकरणं, पत्चूडाकरणमुण्डनं, अन्नप्राशनादिकं सर्वं ततस्तेषु चशब्दस्य पूर्ववाक्यापेक्षया समुच्चयार्थः, तिथिषु अनंगत्रयोदशीप्रभृतिषु, यज्ञेषु, नागपूजासु उत्सवेषु, यात्रासु जनसमुदायेषु, स्त्रीभिः सार्द्धं शयनासनसंप्रयोगास्ते न लभ्याः द्रष्टुमिति योगः किंभूताभिः ? शृंगारागारचारुवेषाभिः—शृंगाररसागारभूताभिः शोभननेपथ्याभिः स्त्रीभिरिति गम्यं । किं भूताभिः स्त्रीभिः ? हावभावप्रललितविक्षेपविलासशालिनीभिः, तत्र हावभावलक्षणं पूर्वोक्तं प्रललिततलक्षणं चेदं—

हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रुनेत्रोष्ठप्रयोजितः । सुकुमारो विधानेन ललितं तत्प्रकीर्त्तितं ॥१॥

अप्रयत्नरचितो धम्मिल्लः[1] श्लथबन्धनः, असमंजसविन्यस्तमंजनं नयनाब्जयोः तथा अनादरबद्धग्रन्थिर्जघनवाससः वसुशालम्बिकेशपाशःस्रस्तांशुका जघने हारविन्यासो रसनायास्तथोरसि यतः स्त्री कांतं वीक्ष्य नाभिं प्रकटयति दोर्मूलं दर्शयंती न्यस्तमंडनादिकं वितनोति इत्यादिलक्षणैर्विक्षेपो ज्ञेयः । विलासगतिर्विलासेन गमनं एतैः या शोभन्ते शालन्ते तथा ताभिः । तथा अनुकूलमप्रतिकूलं प्रेम—प्रीतिर्यासां तास्ताभिः स्त्रीभिः सार्द्ध—सह अनुभूता—वेदिता शयनानि शय्यायामेकत्र वसनं तथा सम्प्रयोगाश्च—संपर्काः शयनसंयोगाः । कथंभूताः ? ऋतुसुखानि कालोचितानि षड्ऋतुसुखानि यानि वरकुसुमानि वरसुरभिचन्दनं च सुगन्धा वरचूर्णरूपा वासश्च धूपश्च शुभस्पर्शानि वा वस्त्राणि च भूषणानि च तालवृन्तादीनि भोगोपष्टम्भदायकानि वा एतेषां पदानां द्वन्द्वः तेषां ये गुणा-

[1] अप्रयत्नेन रचितो धम्मिल्लः......इत्यादिश्लोकचतुष्टयी अभयदेवीयावृत्तौ अत्र तु तन्नाचार्यो संगृहीतः

गेयपउरनड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइक्खग-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसरगीतसुस्सराइं अन्नाणि य एवमादियाणि तवसंजमबंभचेरघातोवघातियाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न तातिं समणेण लब्भा दट्ठुं न कहेउं नवि सुमरिउं जे, एवं पुव्वरयपुव्वकीलियविरतिसमितिजोगेण

नेकरूपेण युक्तास्तया ता:, तथा रमणीयातोद्यगेयप्रचुरनटादिप्रकरणानि तद् द्रष्टुं नलभ्यानीति सम्बन्धः। ते के इत्याह ? तथा नटाः नाटयितारः अन्यान् प्रति, नर्त्तकाः-ये नृत्यन्ति स्वयं, जल्ला-वरत्रखेलकाः, मल्ला प्रतीता, मौष्टिकाः-ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति रमन्ते वा, विडंबकाः-वैहासिकाः, कथकाः-कथाप्रबन्धाख्यायिकाः पाठका अध्येतारः, प्लवका ये उत्प्लुत्य नद्यादिकं तरन्ति, लासका ये रासकान् गायन्ति जयशब्दप्रयोक्तारो भांडा वा मङ्गलपाठका इति, आख्यायिका ये शुभाशुभं कथयन्ति, लंखा-वंशाग्रखेलकाः, मंखाश्चित्रफलकहस्ताः भिक्षाकाः, तूणइल्लाः-तूणाभिधानवाद्यवादकाः तुम्बवीणिकाः तुम्बवीणिका-वीणावादकाः,तालाचरास्तालवादकाः प्रेक्षाकारिणो वा एतेषां पदानां द्वन्द्वः तेषां प्रकरणानि क्रिया पुनः बहुविधानि-अनेकविधानि, मधुरस्वराणां-कलध्वनीनां गायकानां यानि गीतानि-गेयानि शोभनषड्जादिस्वरविशेषाणि तानि तथा,किं बहुना ? अन्यान्यपि एवमादिकानि उक्तप्रकारव्यतिरिक्तान्यपि तपःसंयमब्रह्मचर्यघातोपघातकानि अनुचरता-आसेवमानेन एतावता ब्रह्मचारिणा न-नैव श्रमणेन-साधुना,लभ्यानि-उचितानि द्रष्टुं-प्रेक्षितुं नयनाभ्यां, न कथयितुं नाऽपि वचसा सुन्दरा एते, नाऽपि स्मर्तुं चिन्तयितुं मनसाऽपि। अथ निगमयन्नाह-एवमुक्तप्रकारेण पूर्वरतं-पूर्वपरिचि-

१ भारती सात्विकी कौशिक्यारभट्यादिवृत्तयश्चतस्रो वाद्यानि वाद्यादीनि प्रकरणानि कथ्यन्ते।

भावित्तो भवति अंतरप्पा आरयमणविरतगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते ४।

पंचमगं आहारपणीयनिद्धभोयणविवज्जते संजते सुसाहू ववगयखीर-दहि-सप्पि-नवनीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिक-महु-मज्ज-मंस-खज्जक-विगतिपरिचत्तकयाहारे ण दप्पणं, न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं, न खद्धं, तहा भोत्तव्वं जह से जायामाता य भवति,

---

वरतं-सम्भोगादिकं पूर्वक्रीडितं द्युतादिकं तेन-विरतिनिवृत्तिसमितियोगेन भावितो वासितो भवति अन्तरात्मा-जीवः आरतमना-विरतग्रामधर्मा जितेन्द्रियः ब्रह्मचर्यगुप्तो भवति, इति चतुर्थी भावना ४।

अथ पञ्चमभावनावस्तु प्रणीतभोजनवर्जननाम तदाऽऽह-आहारोऽशनादिः स एवंविधस्त्याज्य इति योगः कीदृशः? प्रणीतो गलत्स्नेहबिन्दुः स च स्निग्धभोजनं तस्य विवर्जको यः स तथा स एवंविधः संयतः-संयमवान् षट्कायरक्षावान्, सुसाधुः-निर्वाणयोग्यसाधनतत्परः, पुनः कीदृशः? व्यपगता-अपगता क्षीरं-दुग्धं दधि तदेव स्त्यानीभूतं सर्पिर्घृतं नवनीतं म्रक्षणं तैलं गुलखण्डं मत्स्यंडिका पायखण्डा शर्करा वा मधु-मिष्टद्रव्यं क्षौद्रं वा; मद्यं-मदिरा मांसं-पिशितं खाद्यकलक्षणं अवगाहिमादिभेदं यद्यपि अमज्जमंसासिणो इति पाठात् साधुनामभक्षविकृतीनां त्याग एवमुक्तः, तथापि विकृतिसूत्रपाठत्वात् मद्यमांसाद्युक्तम्, अथवा पूर्वभक्तानुस्मरणमपि भवति अतस्तत्परिहारार्थं सूत्रपाठानुक्रमो ज्ञेयः, एतेषां पदानां कर्मधारयः एतादृशो विकृतिकारि-विकारकारि त्यक्त आहारो येन स तथा, न-नैव निषेधे दर्पणं-दर्पकारकं नैव भुञ्जते, तक्तव्यतिरेकादन्यदपि मदकारि नैव भुञ्जते, पुनः न बहुशो-दिनमध्ये न बहुवारं, न नैत्यिकं, न प्रतिदिनं, न च शाकं-वनस्पत्यादि भवन्ति, न-सूपाधिकं शालनकं दालिप्रचुरं नेत्यर्थः, तदपि

न य भवति विब्भमो न भंसणा य धम्मस्स, एवं पणीयाहारविरतिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा आरतमणविरयगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते ५। एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुपणिहितं इमेहिं पंचहिवि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं णिचं आमरणंतं च एसो जोगो णेयव्वो धितिमया मतिमया

न सद्दं-न प्रचुरं उनोदर्याधिकया तथा भोक्तव्यं, यथा से तस्य ब्रह्मचारिणः, यात्रा-संयमयात्रानिर्वाहः मात्रापरिमाणतः भवति संयमनिर्वाहाय भवति, तथा भोक्तव्यं परं न-नैव भवति धर्मस्य विभ्रमो भ्रंशना वा धर्मस्य। यदुक्तं-

जह दवग्गी पउरिंधणो वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविंदियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्स वि ॥१॥ तथा दृश्यते-
जह अब्भंगण१लेवो२, सगडक्खवणाण जत्तिओ होइ। इय संजमभरवहणट्ठयाए साहूणमाहारो ॥१॥

न च नैव भवति धातूपचयेन मोहोदयान्मनसो धर्मं प्रति अस्थिरत्वं भ्रंशनं वा चलनधर्म्मं ब्रह्मचर्यलक्षणात्। अथ निगमयन्नाह-एवं प्रणीताहारविरतिसमितियोगेन भावितो-वासितो भवति अन्तरात्मा-जीवः तादृशः साधुः आरतमनाः-विरतिग्रामधर्म्मा जितेन्द्रियः ब्रह्मचर्येण गुप्तो भवति साधुः इति पञ्चमी भावना ५।

एवमुक्तप्रकारेण इदं संवरद्वारं संवृतं रक्षितं भवति सुष्ठु-शोभनतया प्रणिहितं-स्थापितं मनसा इत्येतैः पञ्चभिः कारणैः भवना-

१ यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने समारुतो नोपशममुपैति। एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनो न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित् ॥१॥
२ यथा अभ्यञ्जनलेपौ शकटाक्षव्रणयोर्यावन्तौ भवतः एवं संयमवहनार्थं साधूनामाहारः ॥१॥

अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुन्नातो, एवं चउत्थं संवरदारं फासियं पालितं सोहितं तीरितं किट्टितं आणाए अणुपालियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसितं पसत्थं [सू० २७] चउत्थं संवरद्वारं समत्तं त्तिबेमि ॥४॥

भिः कृत्वा, मनोवाक्कायपरिरक्षितैः नित्यं-सदा आमरणान्तं-यावज्जीवमित्यर्थः, एषः कथ्यमानो योगः संवररूपो ज्ञातव्यः धृतिमता-धैर्यवता मतिमता-बुद्धिमता कीदृशो योगः अनाश्रवो, विरतिरूपः, अकलुषः-शुद्धाशयः, अच्छिद्रो निर्दोषत्वात्, अपरिस्रावी-अनिदानरूपः, असंक्लिष्टो-दुर्ध्यानरहितत्वात्, अतएव शुद्धो निर्दोषः सर्वजिनैः-सर्वतीर्थकरैः अनुज्ञातः एवमुक्तरीत्या चतुर्थं ब्रह्मचर्यलक्षणं संवरद्वारं संवरस्य मुखमिव मुखं-द्वारं स्पर्शितं कायेन, पालितं पुनर्निरतिचारत्वेन, शोधितं-गुर्वाज्ञानुसारेण, तीरितं अधिकाऽधिकोत्साहेन, कीर्त्तितं पुनः पुनः स्मरणादिना, आज्ञया अनुपालितं एभिः विशेषणैर्मर्यादा प्राप्तं भवति एवमनुना प्रकारेण, ज्ञातमुनिना-ज्ञातपुत्रेण भगवता प्रज्ञापितं, प्ररूपितं, प्रसिद्धं-विख्यातं प्रधानशासनमिदं आख्यातं, सुष्ठु-देशितं कथितं, प्रशस्तं प्रधानं, चतुर्थसंवरद्वारं समाप्तं नवमाध्ययनविवरणमिदं इति शब्दः-परिसमाप्तौ पूर्ववदेव वाच्यः।

श्री प्रश्नव्याकरणांगस्य दशमस्य नवमाध्ययनम् व्याख्यातं च सदर्थं तुर्यं ब्रह्मव्रतद्वारं ॥१॥

इति श्रीमद् ज्ञानविमलसूरीश्वरविरचिते

प्रश्नव्याकरणे चतुर्थं संवरद्वारं समाप्तं

॥ अथ पंचमं संवरद्वारात्मकं दशमाध्ययनम् ॥

अथ पंचमं परिग्रहविरमणं संवरद्वारं व्याख्यायते, अस्य चाऽयमनुक्रमः पूर्वं मैथुनविरमणमुक्तं तत्तु सर्वथा परिग्रहविरमणे कृते एव भवति तदभिधायकं पचमं द्वारमारभ्यते तस्येदमादिमं सूत्रम्-जंबू इत्यादि सूत्रानुक्रमो यथा-

जंबू! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभपरिग्गहातो विरते विरते कोहमाणमायालोभा

जम्बूरिति शिष्यस्यामंत्रणम्, अपरिग्रहो-धर्मोपकरणवर्जनोपकरणमूर्छावर्जितः तथा संवृतश्च इन्द्रियकषायसंवरणेन संवृतः तथा यः सः तादृशः श्रमणो भवति चकाराद्ब्रह्मचर्यादिगुणयुक्तः, एतदेव मपञ्चयन्नाह स च कीदृशः ? आरंभः-पृथिव्याद्युपमर्दः, परिग्रहो बाह्याभ्यन्तरभेदाद्द्विधा, कोऽसौ बाह्यो ?-धर्मसाधनवर्जो धर्मोपकरणमूर्च्छा वा, इतरस्तु मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रमाददुष्टयोगावलंबनरूपः, आह च

"पुढवाइसु आरंभो परिग्गहो धम्मसाहणं मोत्तुं। मुच्छा य तत्थ बज्झो इयरो मिच्छत्तमाइओ ॥१॥"

अनयोः समाहारद्वन्द्वस्तस्माद्विरतो निवृत्तो यः स श्रमणः। तथा क्रोध-मान-माया-लोभाद्विरतः।

---

१ पृथिव्यादिष्वारम्भः परिग्रहो धर्मसाधनं मुक्त्वा मुर्च्छा च तत्र बाह्यः इतरो मिथ्यात्वादिकः ॥१॥

एगे असंजमे १ दो चेव रागदोसा २ तिन्नि य दंडगारवा य गुत्तीओ तिन्नि तिन्नि य विराहणाओ ३ चत्तारि कसाया झाण-सन्ना-विकहा तहा य हुंति चउरो ४ पंच य किरियाओ समितिइंदियमहव्वयाइं च ५

अथ मिथ्यात्वलक्षणांतरपरिग्रहविरतत्वं प्रपञ्चयन्नाह-

एकोऽविवक्षितभेदत्वादविरतिलक्षणैकस्वभावत्वात्, असंयमोऽसंयतत्वम् १

द्वावेव रागद्वेषौ बंधने इति शेषः। २

त्रयश्च दंडा-आत्मनो दण्डत्वात् दुष्प्रणिहितमनोवाकायलक्षणाः, गारवाणि गौरवाणि च गृद्ध्यभिमानाभ्यां आत्मनः कर्मणो गौरवहेतवः ऋद्धिरससातविषयाः परिणामविशेषाः त्रीणि इति प्रकृतमेव, तथा गुत्तीओ तिण्णित्ति गुप्तयो मनोवाकायलक्षणा-अनवद्यप्रवीचाराऽप्रवीचाररूपाः ३, तिस्रश्च विराधना ज्ञानादीनां सम्यगननुपालनाः ॥३॥

चत्वारः कषायाः-क्रोधादयः, ध्यानानि-एकाग्रतालक्षणानि आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लध्यानानि, संज्ञानं अनादिचेतनोद्भूतं विज्ञानं संज्ञाः-आहार१भय२मैथुन३परिग्रह४ संज्ञाभिधानाः, विकथा-विरुद्धवाक्-प्रपंचरचना कथा स्त्री-भक्त-देश-राजकथादिलक्षणाः एताश्च भवन्ति ॥४॥

पंचक्रियाः-जीवव्यापारात्मिकाः कायिक्यधिकरणिकी-प्राद्वेषिकी-पारितापनिकी-प्राणातिपातक्रियालक्षणा भवन्ति, सर्वत्र क्रियापदं योज्यम् , तथा निरवद्यप्रवृत्तिरूपाः समितयः ईर्या-भाषैषणादाननिक्षेपपरिष्ठापनिकाख्याः, तथा इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-नेत्र-श्रोत्रादीनि, महाव्रतानि अहिंसा-सूनृतास्तेय-ब्रह्माकिञ्चनरूपाणि प्रतीतान्यत्रैव वर्णितानीति ५।

छज्जीवनिकाया छच लेसाओ ६ सत्त भया ७ अट्ठ य मया ८ नव चेव य बंभचेरवयगुत्ती ९ दसप्पकारे य समणधम्मे १० एक्कारस य उवासकाणं ११

पृथव्यप्तेजोवायुवनस्पत्यादयः षड् जीवनिकायाः, षड् लेश्याः कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्म-शुक्लाख्याः ॥६॥

तथा सप्तभयानि-इहलोकभयं-स्वजातीयान्मनुष्यादेः, परलोकभयं-विजातीयात्तिर्यगादेः, तथा इहलोकभयं अत्रभवे, परलोकभयं परभवे, आदानभयं-द्रव्याश्रितं भयम्, अकस्माद्भयं बाह्यनिमित्तानपेक्षं, आजीविकाभयं-वृत्तिभयमित्यर्थः, मरणभयं, अश्लोकभयमिति-अपयशःभयमिति सप्तभयाः ॥७॥

अष्टौ च मदाः-मदस्थानानि, जाई १ कुल २ बल ३ रूवे ४ तव ५ ईसरिए ६ सुए ७ लाभे ८ ॥८॥

"वसहि १ कह २ निसिज्जि ३ दिय ४ कुड्डंतर ५ पुव्वकीलिए ६ पणीए ७। अइमायाहार ८ विभूषणाय ९ नव बंभगुत्तीओत्ति ॥१॥" एवं लक्षणा नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः ॥९॥

दशप्रकारश्च श्रमणधर्मः यथा-"खंत्ती १ मद्दव २ अज्जव ३ मुत्ति ४ तव ५ संयमे य ६ बोधव्वे। सच्चं ७ सोयं ८ अकिंचणं ९ च बंभं १० च जइधम्मो १" ॥१०॥

एकादश चोपासकानां-श्रमणोपासकानां प्रतिमा यथा-दंसण १ वय २ सामाइय ३ पोसह ४ पडिमाय ५ अबंभ ६ सचित्ते ७ आरंभ ८ पेस ९ उद्दिट्ठ वज्जए १० समणभूए य ११ ॥

१ प्रवचनसारोद्धार गाथा ९८०-९९४ गत प्रतिपादितश्रावकप्रतिमास्वरूपादुद्धृतमशेषं प्रतिभाति ॥ २ प्रवचनसारोद्धारगाथा ९८० ॥

अत्र च गाथायां प्रतिमेति उक्तः–सः कायोत्सर्गः तत्र दर्शनं सम्यक्त्वं १ व्रतानि अणुव्रतादीनि २ सामायिकं च सावद्यानवद्ययोगपरिवर्जनासेवनस्वरूपम् ३, पौषधं चाष्टमीचतुर्दशीप्रमुखेषु पर्वदिनानुष्ठेयोऽनुष्ठानविशेषः ४ प्रतिमा च कायोत्सर्गः ५ अब्रह्मब्रह्मचर्यं ६ [सचित्तं चअचेतनद्रव्यं ७ इति समाहार द्वन्द्वः] दर्शनादिषु पञ्चसु पदेषु प्रतिमा शब्दो योज्यः, अब्रह्मादिषु पञ्चसु पदेषु (अब्रह्मसचित्तयोस्तु) वर्जकशब्दो योज्यः, आरम्भश्च–स्वयं कृष्यादिकरणं ८ प्रेषणं परेषां पापकर्मसु व्यापारणं ९ उद्दिष्टं च तमेव श्रावकमुद्दिश्य सचेतनं सदचेतनीकृत्य पक्वं तदेव वर्जयति–परिहरति स आरंभ–प्रेषोद्दिष्टवर्जकः, प्रतिमेति शब्दः प्रकृतं १० । इह च प्रतिमाप्रतिमावतोरभेदोपचारात् प्रतिमावतो निर्देशः कृतः । तथा श्रमणः साधुः इव यः स श्रमणभूतो भूतशब्दस्योपमानार्थत्वात् न तु तदेवेति, चशब्दः–समुच्चये एतावता एकादश श्राद्धानामुपासकानां प्रतिमाः–प्रतिज्ञा अभिग्रहाः,

एतासाम् कालमानं यथा–प्रतिमायां प्रथमायां एको मासः कालमानं, द्वितीयायां द्वौ मासौ, तृतीयां त्रयो मासाः, चतुर्थ्यां चतुर्मासाः, यावदेकादश्यामेकादश मासाः, एतच्च कालमानं यद्यपि दशाश्रुतस्कन्धादिषु साक्षान्नोपलभ्यते तथाप्युपासकदशासु प्रतिमाप्रतिपन्नानां आनन्दादिश्रमणोपासकानां सार्द्धवर्षपंचकलक्षणं [प्रतिमैकादश]प्रमाणं प्रतिपादितम्, [1]प्रवचनसारोद्धारादिषु तथैव भणितम्, तथा उत्तरोत्तरास्वपि तासु प्रतिमासु क्रियमाणासु पूर्वपूर्वप्रतिमाः प्रतिपादिताः सर्वा अपि क्रिया–अनुष्ठानविशेषरूपाः कर्त्तव्या एव । इयमत्र तात्पर्यं द्वितीयायां प्रतिमायां प्रथमप्रतिमोक्तमनुष्ठानं निरवशेषं कर्तव्यमिति । तृतीयायां तु प्रथमद्वितीयप्रति-

१ प्रवचनसारोद्धारे पृ० २९३ तमे पतदधिकं योग्यमपि अत्र स्खलितं प्रतिभाति ॥ २ यत्र ( ) एतच्चिन्हं न्यस्तमशुद्धस्थले शुद्धं [ ] एतच्चिन्हं त अधिक । य ॥ ३ ....

माद्वयोक्तमप्यनुष्ठानं विधेयं एवं यावदेकादश्यां प्रतिमायां पूर्वप्रतिमादशकोक्तं सर्वमप्यनुष्ठानं कार्यमिति

अथ दर्शनप्रतिमास्वरूपनिरूपणायाह, सम्यग्दर्शनं–सम्यक्त्वं प्रथमा दर्शनप्रतिमा भवति इति कीदृशं सम्यक्त्वं–प्रशम–संवेग–निर्वेदानुकंपाऽऽस्तिक्यलक्षणैः पंचगुणविशिष्टं तथा कुग्रहः–कुशास्त्राभिनिवेशः शंका–कांक्षा–विचिकित्सा–मिथ्यादृष्टिप्रशंसा–तत्संस्तवरूपाः पंच सम्यक्त्वातिचारशल्यरहितम्, अणुव्रतादिगुणविकलस्य योऽभ्युपगमः सा दर्शनप्रतिमा, सम्यग्दर्शनप्रतिपत्तिः तत्र पूर्वं यदि केवलं आसीत् तथापि शंकादिदोषराजाभियोगाद्याकारषट्कवर्जितत्वेन यथावत् सम्यग्दर्शनाचारविशेषपरिपालनाभ्युपगमेन च प्रतिमात्वं संभाव्यते, कथमन्यथा उपासकदशासु एकमासं प्रथमायाः प्रतिमायाः पालनेन व्यवहारः प्रतिपादितः इत्यादि ज्ञेयम् १

अथ द्वितीया–अणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरमणादीनि गुणव्रतानि शिक्षाव्रतानि वधबंधाद्यतिचाररहितानि निरपवादानि च धारयतः सम्यक् परिपालयतो द्वितीया २ तृतीयायां सामायिकप्रतिमायां सामायिकं–सावद्ययोगपरिवर्जननिरवद्ययोगसेवनस्वभावं कृतं–विहितं देशतो येन सामायिककृतः, इदं तात्पर्यं अप्रतिपन्नपौषधस्य दर्शनव्रतोपेतस्य प्रतिदिनं उभय–(काल)सम्बन्धि सामायिककरणं तृतीया ३।

चतुर्थी पौषधप्रतिमा यस्यां चतुर्दश्यष्टमीप्रभृतिदिवसेषु अमावस्यापौर्णिमादिषु पर्वतिथिषु, चतुर्विधमप्याहारशरीरसत्कारा-ब्रह्मचर्या(र्य)व्यापारपरिवर्जित(र्जन)रूपं परिपूर्णं पौषधम्, न पुनरन्यतरेणापि प्रकारेण हीनं सम्यक् विधिनाऽनुपालयति आसेवते। एतासु चतसृष्वपि व्रतादिप्रतिमासु बंधादीन्–बंधवधच्छेदप्रभृतीन् षष्ठिसंख्याकान् द्वादशव्रतविषयान् (*अतिचारान्*) प्रयत्नतो वर्जयति–परिहरतीति ४।

अथ प्रतिमाप्रतिमास्वरूपं सम्यक्त्वं अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतप्रतिमाचतुष्टयवान् स्थिरचित्त आराधकः [इतरो हि विराधको भवति, यतोऽस्यां प्रतिमायां] निशि च चतुष्पथादौ कायोत्सर्गः क्रियते पौषधदिनेष्वपि द्रष्टव्यः प्रतिमाकायोत्सर्गः किं प्रमाणं? एकं रात्रिप्रमाणं वा सर्वरात्रिप्रमाणो वा अस्नानः स्नानवर्जकः विकटे प्रकाशदेशे भुंक्ते एवं दिवा न रात्रौ इत्यर्थः, दिवापि प्रकाशदेशे दिवापि अबद्धपरिधानकच्छः दिवा ब्रह्मचारी रात्रौ परिमाणकृत् प्रतिमाकायोत्सर्गरहितेषु दिवसेषु इत्यर्थः, कायोत्सर्गस्थितः किं चिन्तयति इत्याह जिनगुणान् कामक्रोधादिनिजदोषान् तत्प्रतिपक्षभूतान् क्षांत्यादिगुणान् धारयति पंचमासान् यावत् इति पंचमी।

अथ षष्ठीं प्रतिमामाह-शृंगारादिकथा-स्त्रीकथावर्ज्जं शरीरमात्रविभूषादिकं कुर्वन् रात्रावपि मैथुनं वर्जयन् चित्तक्षोभविधायकं यत् किञ्चिदपि तत्सर्वं वर्जयन् षड् मासान् यावत् विचरति इति षष्ठी।

अथ सप्तमी-सप्तमासान् यावत् पूर्वोक्तक्रियायुक्तः सचित्तं सचेतनं आहारं-अशन-पान-खादिम-स्वादिमरूपं नैव आहारयति इति सप्तमी ७।

अथाष्टमी पूर्वोक्तक्रियायुक्तं अष्टमासान यावत् आरंभस्य पृथिव्याद्युपमर्दनलक्षणस्य स्वयमात्मना करणं विधानं वर्जयति इत्यष्टमी८।

नवमी पुनः पूर्वोक्तसकलक्रियावान् नवमासान् यावत् पुत्रमित्रभ्रातृप्रेष्यादिपरैरपि न कारापयति उभयजन्या हिंसा स्वयं करणेऽपि कारापणेऽपि कृष्यादीनामपि इति ज्ञेयं नवमी ९।

अथ दशमी-पूर्वोक्तक्रियायुक्तो दशमासान् यावत् तदर्थं कृतं भक्तमोदनादि नैव भुंजीत दूरे त्वन्यत् सावद्यकरणं तत्र क्षुरमु-

१ एतदधिकं प्रवचनसारोद्धारे पृष्ठ २९४ तमे

ण्डितमस्तकः शिखां धारयति केवलस्तादृशश्रावकः दशमप्रतिमास्थो यदि भूम्यादौ स्थापितं निधानादिकं जानाति तदा तत्पृच्छतां सुतादीनां च कथयति अकथिते सति वृत्तिच्छेदमाप्तेः अथ नैव जानाति तदा कथयति अहं न जानामि एतावन्मुक्त्वा नान्यत् किमपि जल्पितुं कल्पते इति तात्पर्यार्थः, इति दशमी १०।

अथैकादशीमाह-क्षुरमुण्डः कृतलोचो वा रजोहरणपतद्ग्रहधारी साधूपकरणं गृहीत्वा श्रमणो निर्ग्रन्थस्तद्वदनुष्ठानकरणात् स श्रमणभूतः साधुकल्पः गृहान्निर्गत्य निखिलसाधुसमाचारीचरणचतुरः समितिगुप्त्यादिसम्यगनुपालयन् भिक्षार्थं गृहकुलप्रवेशे प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्तेति भाषमाणः कश्चित्पृच्छति कस्त्वं तदा प्रतिमाप्रतिपन्नः श्रमणोपासकोऽहमिति ब्रुवाणो ग्रामनगरादिषु अनगार इव मासकल्पादिना विचरत्येकादश मासान् यावदिति एतच्च उत्कृष्टतः कालमानमुक्तम्। जघन्यतः पुनरेका[दशा]पि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तादिमाना एव तच्च मरणे वा प्रव्रजितत्वे वा सम्भवति नान्यथेति। तथा एकादशमासान् यावदित्येकादशी ११।

अथ उत्तरासु सप्तस्वपि प्रतिमासु आवश्यकचूर्ण्यां प्रकारान्तरमपि दृश्यते तथाहि-"राइभत्तपरिण्णाए पंचमी सचित्ताहारपरिण्णाए छट्ठी दिया बंभचारी परिमाण कडा सत्तमी दिया वि राओ वि बंभयारी असिणाणए वियडभोइ योसट्ठ केशमंसु रोम नहत्ति अट्ठमी सारंभपरिण्णाए नवमी पेस[सारंभ]परिण्णाए दशमी उद्दिट्ठभत्तपाणवज्जए समणभूएत्ति एकादशी" इति दृश्यते इत्यादि भूयान् विचारस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः इति।

१ प्रवचनसारोद्धार पृष्ठ २९६ तमे एतदालापको न्यस्तो

भिक्खुपडिमा १२ किरियठाणा य १३

वारसयभिक्खुपडिमा-तथा द्वादश साधूनां भिक्षूणां प्रतिमा अभिग्रहविशेषास्ताश्चेमाः-मासाइ सत्तंता पढमा बीयाय तईय सत्त राइदिणा अहोराई ११ एगराई १२ भिक्खुपडिमाण वारसगं ॥१॥ तत्रैकमासिकी द्विमासिकी, त्रिमासिकी सप्तमी सप्तमासिकी एवं सप्त अष्टमी-नवमी-दशमी प्रत्येकं सप्तरात्रिदिवसमानाः, एकादशी अहोरात्रिदिवसमाना, द्वादशी एकरात्रिमाना तद्व्याख्यानं तु पूर्वलिखितमस्ति ततो ज्ञेयम्।

"तेरसकिरियाट्ठाणा" त्रयोदश क्रियास्थानानि आत्मनो व्यापाररूपाः यथा-

अट्ठा १-णट्ठा २-हिंसा ३ ऽकम्हा ४ दिट्ठीय ५ मोस ६ ऽदिन्नेय ७ अज्झप्प ८ माण ९ मित्ते १० माया ११ लोभे १२ रियावहिया १३॥१॥

व्याख्या करणं क्रिया कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टा तस्याः स्थानानि-भेदाः क्रियास्थानानि तानि च त्रयोदश तत्र अट्ठा णट्ठा हिंसत्ति अत्र त्रिपु पदेपु प्राकृत्वात् चतुर्थ्येकवचनस्य लोपो द्रष्टव्यः ततो अर्थाय स्वपरप्रयोजनाय क्रिया अर्थक्रिया, अनर्थाय-स्वपरप्रयोजनाभावेन क्रिया अनर्थक्रिया, हिंसायै क्रिया हिंसाक्रिया, तथा अकस्मात् क्रिया, तथा दृष्टिविपर्यासाऽदत्तादानक्रिया, अध्यात्मक्रिया, मानक्रिया, अमित्रक्रिया मायाक्रिया, लोभक्रिया, ईर्यापथिकीक्रिया, इति, एतानि व्याचिख्यासुः प्रथमस्थानमाह त्रसस्थावरप्राणिपु यः कश्चित् दण्डयं दण्डयते आत्मनोऽन्यो वा प्राणी येन, तथा [स्वशरीरादेः] स्वजनाद्यर्थं वा राजनियोगाद्यर्थं वा

१-प्रवचनसारोद्धार गाथा ८१८

येन स अर्थदण्डः १ यः पुनः कश्चित् सरटादिकं [कृकलास] मूषकादिकं वा वनलतादिकं वा प्रयोजनं विनैव मारयित्वा छित्वा, त्यजति सा अनर्थक्रिया, २ । अयं सर्पादिर्वैरी वा अस्मान् हिंसितवान् हिनस्ति, हिंसिष्यति वा मनसि विचार्य सर्पादिवैरिणो वा यो दण्डं आरभते स हिंसादण्डः ३ अन्यार्थे मृगपक्षिसरीसृपप्रभृतीनां मारणाय शरलोष्ट्वादिकं क्षिपति अन्यं पुनर्हन्यात् अन्तराले स दण्डोऽकस्माद्दंडः एवं शाल्यादिकं अन्यस्मिन् छिद्यमाने अन्यं छिद्यादिति अकस्माद्दण्डः ४ दृष्टेर्बुद्धेः विभ्रमो विपर्यासो मतिविभ्रमः मित्रमपि सत् अमित्रं कृत्वा घातयेत् स दृष्टिविपर्यासो दृष्टिक्रिया, ५ आत्मार्थं परेषां वा अर्थाय यो मृषा वदति स मृषादण्डः, ६ मृषावादवत् आत्मार्थं नायकादीनां परार्थं वा अदत्तादानं कुरुते स अदत्तादानदंडकः ७ अध्यात्मं मनः तत्र भवो वा बाह्यनिमित्तान-पेक्षः शोकादि अभिभव एतावता यस्य संमुखं न कोऽपि किञ्चिदनिष्टं जल्पति न कोऽपि विरूपं कुरुते तथापि हृदयेन किञ्चिदतिशयेन दुर्मनाः भवति तस्याध्यात्मिकी क्रिया भवति, तस्य चत्वारि कारणानि क्रोध–मान–माया–लोभाश्चेत्यादीनि कारणानि अध्यात्मक्रि-यायां भवन्ति बाह्यनिमित्तमनपेक्ष्याभ्यंतरनिष्कारणमन्तरेण क्रोधादिसमुद्भूतं दौर्मनस्यं भवति तस्याध्यात्मिकक्रियेति तात्पर्यार्थः ८ यः पुनर्जातिमदादिना जाति–कुल–रूप–बल–श्रुत–तपो–लाभैश्वर्यमदाष्टविधलक्षणेन मानेन मत्तः सन् परं हीलेइ खिसइ गरहइ एषा क्रिया मानक्रिया ९ तथा यः पुनर्मातापितृस्वजनादीनां अल्पेऽप्यपराधे तीव्रं दण्डं कुरुते दहनांकनबधताडनादिकं तन्मित्रद्वेषप्रवृत्ति अमित्रक्रियास्थानं सा अमित्रक्रिया १० मायाक्रियास्थानं यथा–मनसि अन्यत् वाचि अन्यत् आचरति अपि अन्यत् विसंवादि गुप्त-सामर्थ्यः सन् करोति एषा क्रिया मायाक्रिया ११ इतः उर्ध्वं पुनर्लोभप्रत्ययिकी क्रिया सावद्यारंभा–पापव्यापारा परिग्रहेषु गाढ-तराकांक्षायुक्तः, स्त्रीषु कामभोगेषु अत्यंताशक्तः, आत्मानं गाढादरेण रक्षन् अन्यसत्त्वानां वधबंधनमारणादिलक्षणानि करोति एषा

भूयगामा १४ परमाधम्मिया १५

लोभप्रत्ययिकी क्रिया १२ ईरणं ईर्या-गमनं तद्विशेषः पंथा ईर्यापथस्तत्रभवा ऐर्यापथिकी, इति व्युत्पत्तिमात्रं प्रवृत्तिनिमित्तं तु केवल योगप्रत्यय उपशांतमोहादिगुणत्रयस्य सातवेदनीयकर्मस्य (णः) बंधः सा ईर्यापथिकी, यथा साधोः समितिगुप्तिसंवृतस्य उपशांतमोह-क्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणगुणस्थानत्रयवर्त्तिनः अप्रमत्तस्य अत्राप्रमत्तग्रहणेनान्येषां कषायप्रत्ययानां केवलं योगनिमित्तकर्मबंधोदया-संभवात् अप्रमत्तशब्देनार्थः। भगवतः यावच्चक्षुःपक्ष्मांकवर्तिनः यावत् चक्षुर्निमेषोन्मेषमात्रोऽपि योगः संभवति तावत् सूक्ष्मा-एक-सामायिकबंधत्वेनेत्यलं सातबंधलक्षणा क्रिया भवति सा ईर्यापथिकीक्रिया त्रयोदशक्रियास्थानमिति'

भूयग्गामाणय १४ तथा चतुर्दशभूतग्रामाः जीवसमूहाः तत्रैकेन्द्रियाः सूक्ष्माबादराश्च, द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पंचेन्द्रियाः संज्ञिनः असंज्ञिनश्चेति सप्त ताः(ते) पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाद्द्विधेति १४

[2]पंचदश परमाधार्मिका नारकाणां दुःखोत्पादकाः असुरकुमारविशेषाः ते चामी-अंबे १ अंबरिसी २ चेव सामेय सबले विय ४ रूद्द ५ उवरुद्द ६ काले ७ महाकालेत्ति ८ आवरे १, असिपत्ते ९ धणु १० कुम्भे ११ वालू १२ वेयरणी इय १३ खरस्सरे १४ महाघोसे १५ एए पन्नरस परमाहम्मिया त्ति गाथा॥ व्याख्या-परमाश्च ते अधार्मिकाश्च संक्लिष्टपरि-णामत्वात् परमाधार्मिका-असुरविशेषास्ते च व्यापारभेदेन पंचदश भवंति तत्र यः परमाधार्मिकदेवो नारकान् अंबरतले नीत्वा निःशंकं

१ प्रवचनसारोद्धार गाथा ८१८-८३५ वृत्तौ पृष्ठ २३७-२३९ तमे वर्णितत्रयोदशक्रियास्थान-निरूपणादत्रोद्धृतं प्रतिभाति॥
२ प्रवचनसारोद्धार गाथा ८५-८६ वृत्तौ पृष्ठ ३२१-३२२ तमे पंचदशपरमाधार्मिकस्वरूपादत्रोद्धृतं प्रतिभाति अक्षरशः॥

मुञ्चति स अंबः१ यस्तु नारकान् निहत्य कल्पनिकाभिः खंडशः कृत्वा भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोति स अंबरीषः२ यस्तु रज्जुपाणिप्रहारादिना शातनपातनादि करोति वर्णतोऽपि श्यामः स श्यामः ३ यश्च अंत्रवसाहृदयकालेज्यकादीनि उत्पाटयति वर्णतोऽपि शबलः स शबलः ४ यः कुन्तादिषु नारकान् प्रोतयति स रौद्रत्वाद्रौद्रः ५, यस्तु तेषां नारकाणां मुद्गरादिना अंगोपांगं विभनक्ति अतिरौद्रत्वात् स महारौद्रः ६ यः पुनः चुल्ल्यादिकं कण्ड्वादिषु पचति वर्णतोऽपि कालः स कालः ७ यश्च नारकाणां तीक्ष्णमांसानि खंडयित्वा खादति वर्णतश्च महाकालः स महाकालः८ असिः-खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्य यस्तदाश्रितनारकान् असिपत्रपातनेन तिलशः छिनत्ति सोऽसिपत्रः९ यो धनुर्मुक्तार्धचन्द्रादिभिर्बाणैः कर्णादीनां छेदनभेदनादि करोति स धनुपत्रः १० भगवत्यां तु महाकालानन्तरमसिः ततोऽसिपत्रः ततः कुंभिरिति पठ्यते, तत्र योऽसिना नारकान् छिनत्ति सोऽसिः शेषं तथैव, यः कुम्भ्यादिषु तान् पचति स कुंभः ११ यः कदंबपुष्पाकारासु वज्राकारासु वैक्रियवालुकासु तप्तासु चनकानिव तान् पचति स वालुकः १२ विरूपं तरणं अस्याः प्रयोजनं सा वैतरणी यथार्था पूयरुधिरत्रपुताम्रादिभिरतितापात् कलकलायमानैः भृतां नदीं विकुर्व्य तत्तारणार्थं यः नारकान् कदर्थयति स वैतरणिकः १३ यो वज्रकंटकाकुलं शाल्मलीवृक्षं नारकमारोप्य खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन् वा कर्षति स खरस्वरः १४ यस्तु भीतान् अपलायमानान् नारकान् पशूनिव वाटेषु महाघोषं कुर्वन्निरुणद्धि स महाघोषः१५ एवमेते पंचदश परमाधार्मिकाः प्राग्जन्मनिबद्धसंक्लिष्टक्रूरक्रियाः पापाभिरताः पंचाग्न्यादिरूपं मिथ्याकष्टतपः कृत्वा रौद्रीमासुरगतिमनुप्राप्ताः संतो नारकाणामाद्यासु तिसृषु पृथिवीषु विविधवेदनाः समुदीरयन्ति तथा कदर्थ्यमानांश्च नारकान् दृष्ट्वा इहत्यमेषमहिषकुर्कुटादियुद्धप्रेक्षकनरा इव हृष्यन्ते हृष्टाश्चाट्टाट्टहासं चेलोत्क्षेपं त्रिपधास्फालनादिकं च कुर्वन्ति किं बहुना ? यथैषामित्थ प्रीतिर्न तथा नितान्तकान्ते प्रेक्षणकादाविति ज्ञेयं इति पंचदशाऽपि परमाधार्मि-

गाहासोलसया १६ असंजम १७ अबंभ १८ णाय १९

कसरूपम्।

गाहा सोलसा य १६ गाहा सोलसयति गाथा पोडशानि गाथाभिधानं पोडशमध्ययनं येषां तानि गाथा पोडशकानि-सूत्रकृतांगस्य प्रथमश्रुतस्कन्धाध्ययनानि तानि चैतानि समओ १ वेयालियं २ उवसग्गपरिण्णाय ३ थीपरिण्णाय ४ निरयविभत्ति ५ वीरत्थओ य ६ कुसीलाण परिभासा ७ ॥१॥ वीरिय ८ धम्मो९ समाही १० मग्ग११ समोसरणाणि१२ अहा तहं १३ गंथो १४ जमईयं १५ तह गाहा १६ सोलसमं चेव अज्झयणमिति।

असंजमो१७ सप्तदशविधः असंयमः, स चाऽयं-पुढवि १ दग २ अगणि ३ मारुय ४ वणप्फई ५ वि ६ ति ७ चउ ८ पणिंदि ९ अजीवे १०, पेह ११ उवेह १२ पमज्जण १३ खेचण १४ मणो १५ वइ १६ काय १७ जोगेहिं १ इति सप्तदश योगाः, अन्यत्राप्युक्तं पंचाश्रवाद्विरमणः पंचेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः। तथा द्वादशाविरतिः प्रमादपंचकं वा, इति असंयमः तथा संयमादन्यः असंयम इति व्युत्पत्तिमात्रव्याख्यानं ज्ञेयं।

अबंभं १८ अष्टादशविधं अब्रह्म तच्चेयं ओरालियं च १ दिव्वं २ मण १ वय २ कायाण ३ करण जोगेहिं। अणुमोयण १ करावण २ करणेण ३ द्वारसाबंभंति १। औदारिकं मनःप्रभृतिकरणानामनुमोदनादियोगैर्नवधा एवं दिव्यवैक्रियमपीत्यष्टादशधाऽब्रह्मभेदं ज्ञेयं-

एगुणविसाए णाए १९ एकोनविंशतिर्ज्ञाताध्ययनानि तानि चामूनि उक्खित्तणाए१ संघाडे२ अंडे३ कुम्मेय ४ सेलए५

तुम्बे य ६ रोहिणी ७ मल्लि ८ मायंदी ९ चंदिमा उ य १० ॥१॥ दावद्दवे ११ उदगणाए १२ मंडुक्के १३ तेयलीइ य १४ णंदिफले १५ वरकंका १६ आइन्ने १७ सुसमा १८ पुंडरीए य १९ ॥२॥ इति ज्ञाताध्ययनानि,

असमाहिठाणा २० असमाहिठाणा विंशतिरसमाधिस्थानानि–चित्तस्वास्थ्याश्रयाः, तानि चामूनि–द्रुतचारित्ता १ अप्रमार्जितचारित्ता २ दुःप्रमार्जित चारित्ता ३ अतिरिक्तशय्यासनिकत्वं ४ आचार्याभिमुखभाषित्वं ५ स्थविरोपघातित्वं ६ भूतोपघातित्वं ७ संज्वलनत्वं प्रतिक्षणरोषणत्वं ८ क्रोधनत्वं–अत्यंतक्रोधशीलता ९ पृष्टमांसिकत्वं–परोक्षस्यावर्णवादित्वं १० अभीक्ष्णमवधारकत्वं शंकितस्यापि अर्थस्याप्यवधारकत्वं ११ नवानामधिकरणानां क्रोधादीनामुत्पादनं १२ पुराणानाम् तेषामुदीरकत्वं १३ सरजस्कपाणिपादत्वं १४ अकालस्वाध्यायकरणं १५ कलहत्वं–कलहहेतुभूतकर्त्तव्यकारित्वं १६ रात्रौ महच्छब्देन उल्लापितत्वं शब्दकरणत्वं १७ झंझाकारित्वं गणस्य चित्तभेदकारित्वं मनोदुःखकारिवचनभाषकत्वं वा १९ सूर्यप्रमाणभोजित्वमुदयास्तमनं यावद्भोजित्वं १९ एषणायां गोचर्यां असमितत्वं चेति २० इति विंशतिरसमाधिस्थानानि ज्ञातव्यानि ॥२०॥

एकविंशतिः शबलाश्चारित्रमालिन्यहेतवः ते चामी–हस्तकर्मकरणं १ मैथुनमतिक्रमादिना २ रात्रिभोजनं ३ आधाकर्मणः ४ शय्यातरपिंडग्रहणं ५ उद्देसिकक्रीतापमित्यकाछेद्यानिसृष्टादेश्च भोजनं ६ प्रत्याख्याताशनादिभोजनं ७ षण्मासान्तर्गणाद्गणान्तरसंक्रमणं वा अनिष्टया विचरणं वा ८ मासस्यान्तस्त्रिकृत्वो नाभिप्रमाणजलावगाहनं ९ मासस्यान्तस्त्रिर्मायायाः करणं १० राजपिंडादिना भोजनं ११ आकुट्या प्राणातिपातकरणं १२ एवं मृषा· वादनं १३ अदत्तग्रहणं १४ तथैवात्यंतसचित्तपृथिव्यां कायोत्सर्गादिकरणं १५ एवं

सस्नेहं सरजस्कायिकायां कायोत्सर्गादिकरणं १६ अन्यत्रापि प्राणिबीजादियुक्ते कायोत्सर्गकरणं १७ आकुट्या मूलकंदादिकभोजनं १८ संवत्सरस्यान्तर्दशकृत्वो नाभिप्रमाणजलावगाहना १९ संवत्सरस्यान्तर्दशमायास्थानकरणं २० अभीक्ष्णं शीतोदकप्लुतहस्तादिनाऽशनादेर्ग्रहणं भोजनं २१ चेत्येकविंशतिः शबलाः अतिक्रमव्यतिक्रमादेर्यावत् सर्वत्र पदं ज्ञेयमिति ॥२१॥

परीसहाय २२-खुहा १ पिवासा २ सी उण्हं ३-४ दंसा ५ चेला ६ ऽरई ७ त्थीओ ८। चरिया ९ निसहिया १० सिज्जा ११ अक्कोस १२ वह १३ जायणा १४ ॥१॥ अलाभ१५रोग१६तणफासा १७ मलसक्कारपरिसहा १८-१९ पन्ना २० अन्नाण२१ समत्तं २२ इय बावीसपरिसहा ॥२॥ इति परीषहाः ॥२२॥

सूयगडज्झयणा २३-त्रयोविंशतिः सूत्रकृताऽध्ययनानि तत्र समयादीनि प्रथमश्रुतस्कंधभवानि पूर्वोक्तानि षोडश द्वितीयश्रुतस्कंधभवान्यध्ययनानि सप्त तद्यथा "पुंडरिय १ किरियट्ठाणं २ आहारपरिण्ण ३ पच्चक्खाण किरियाय ४ अणायार ५ अद्द ६ नालंद एय ७ सोलसाइं तेवीसं ॥१॥" इति त्रयोविंशतिः अध्ययनानि ॥२३॥

देवा २४-चतुर्विंशतिर्देवाः तत्र गाथा "भवण १ वण २ जोइ ३ वेमाणियाय४ दस अट्ठ पंचेगविहा इति "चउवीसं देवा केइ पुण बिंति अरिहंता"। इति ॥२४॥

तथा भावणत्ति पंचविंशतिर्भावनाः ताश्च प्रवचने प्रतिमहाव्रतं पंच पंचाभिहिताः स्वयमेवेति ज्ञेयाः ॥२५॥

उद्देसणकाला २६ तथा षड्विंशतिः उद्देशनकालाः दशाकल्पव्यवहाराणां तत्र गाथा-दस उद्देसणकाला दसाण छच्चेव हुंति

कप्पस्स दस चेव य ववहारस्स हुंति सव्वेवि छव्वीसं१ दशाकल्पानां दश उद्देशनकालाः दश व्यवहारकल्पानां षट् उद्देशनकालाः कल्पस्य जीतव्यवहारकल्पस्येति एवं षड्विंशतिर्ज्ञेयाः ॥२६॥

गुणत्ति सप्तविंशतिरनगारगुणाः तत्र महाव्रतानि पंच, ५ इन्द्रियनिग्रहाः पंच ५ क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः ४ सत्यानि त्रीणि ३ तत्र भावना सत्यं-शुद्धान्तरात्मा करणसत्यं-यथोक्तक्रियाप्रतिलेखनादिकरणं योगसत्यं-मनःप्रभृतीनामविचलनं १७ क्षमा १८ विरागता १९ मनःप्रभृतिनिरोधाश्च ३ एवं २२ ज्ञानादि संपन्नता २५ वेदनादि सहनं२६ मरणांतिकोपसर्गसहनं चेति२७ अहवा "वय छक्क ६ मिंदियाणं च निग्गहो ११ भावकरणसच्चं च १२ खमया १४ विरागया विय १५ मनमाईणं निरोहो य ॥१८॥१॥ एवं कायाण छक्क २४ जोगंमि जुत्तया २५ वेयणाइ पीडणया सहणे २६ तहा मरणंते संलेहणाय २७ एए अणगार गुणा ॥२॥" त्ति ज्ञेयं ॥२७॥

पकप्पाय २८-पकप्पत्ति अष्टाविंशतिविधः आचारप्रकल्पः निशीथांतमाचारांगमित्यर्थः स चैवं "सत्थपरिण्णा १ लोकविजओ २ सीओसणिज्जं ३ सम्मत्तं ४ आवंति ५ धुव ६ विमोहो ७ उवहाणसुयं ८ महपरिण्णा ९ ॥१॥" प्रथमस्य श्रुतस्कन्धस्याध्ययनानि द्वितीयस्य तु "पिंडेसण १ सेज्ज २ इरिया ३ भासजायाय ४ वत्थेसणा ५ पाएसणा ६ उग्गहपडिमा ७ सत्त सत्तिया ८ एवं १४ भावणा १५ विमुत्ती१६ इत्याचारांगस्य उग्घाई १ अणुग्घाई २ आरोवण ३ तिविहमो निसीहं तु इइ अट्ठावीसविहो आयारपकप्प नामो त्ति ॥२॥" तत्र उद्घातिकं यत्र लघुमासादिकं प्रायश्चित्तं

पावसुत २९ मोहणिज्जे ३०

अनुद्घातिकं यत्र गुरुमासादि कल्पते २ आरोपणा च यत्र कस्मिंश्चिद् प्रायश्चिते अन्यदप्यारोप्यते पर्यायछेदादिना वा इत्यष्टाविंशतिः आचारप्रकल्पाः ॥२८॥

पावसुय २९ पावसुयत्ति एकोनत्रिंशत् पापश्रुतप्रसंगास्ते चामी अट्ठनिमित्तंगाइं दिव्वु १ प्पायं २ तलिक्ख ३ भोमं ४ च ५ सर ६ वंजण ७ लक्खणे ८ एक्किक्कं पुण तिविहं सुत्तं वृत्ति वार्तिकं १ एवं २४ गंधव्व २५ नट्ट २६ वत्थुं २७ तिगिच्छ २८ धणुवेयसंजुत्तं २९ इत्येकोनत्रिंशत्पापश्रुतानि ॥२९॥

मोहणिज्ज ३० त्रिंशत् मोहनीयस्थानानि–महामोहबंधहेतवः, तानि चामूनि–जलान्तर्बोलनेन त्रसजीवानां हिंसनं १ एवं हस्तादिना मुखादिश्रोतःपिहननं २ वर्धादिना शिरोवेष्टनं ३ मुद्गरादिना शिरोभिघातेन हननं ४ भवोदधिपतितजंतूनां द्वीपकल्पस्य प्राणिनो हननं ५ सामर्थ्ये सत्यपि घोरपरिणामात् ग्लानस्यौषधादिभिरप्रतिचरणं ६ तपस्विनो बलात्कारेण धर्माद्भ्रंसनं ७ सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्गस्य परेषां विपरिणामकरणेनापकारकरणं ८ जिनानां निंदाकरणं ९ आचार्यादेः खिसनं १० आचार्यादीनां ज्ञानदानादिभिरुपकारिणां कार्येष्वपि अप्रतितर्पणं ११ पुनः पुनरधिकरणस्य–नृपप्रयाणकादिनादेः कथनं १२ वशीकरणादिकरणं १३ प्रत्याख्यातभोगप्रार्थनं १४ अभीक्ष्णमबहुश्रुतत्वेप्यात्मनो बहुश्रुतत्वप्रकाशनं १५ एवमतपस्विनोऽपि तपस्वितामकाशनं १६ बहुप्राणिनां अन्तर्धूमेनाग्निना हिंसनं १७ अकृत्यं स्वयंकृतस्याऽन्यशिरस्याविर्मोचनं १८ विविधप्रकारैः मायया परवंचनं १९ अशुभाशयात् सत्यस्यापि सभायां मृषेति प्रशंसनं २० अक्षीणकलहत्वं २१ विश्रंभोत्पादनेन परधनापहरणं २२ एवं परदारलोभनं २३ अकुमारत्वेनाप्यात्मनः

कुमारत्वभणनं २४ एवमब्रह्मचारित्वेऽपि ब्रह्मचारित्वप्रकाशनम् २५ येनैश्वर्यत्वं प्रापितस्तस्यैव परोक्षे द्रव्यस्य लोभकरणं २६ यत्प्रभावेन ख्यातिं गतस्तस्य कथञ्चिद् अन्तरायकरणं २७ राजासेनाधिपराष्ट्रचिंतकादेर्बहुजननायकस्य हिंसनं २८ अपश्यतोऽपि 'पश्यामीति मायया देवादिकमिति भणनं २९ अवज्ञया देवेषु अहमेव देव इति प्रख्यापनं ३० इति त्रिंशन्मोहनीयस्थानानि

सिद्धातिगुणा य ३१ सिद्धातिगुणाश्चेति एकत्रिंशत् सिद्धानामादित एव गुणाः सिद्धगुणाः सिद्धानां वा आत्यंतिकाः गुणाः सिद्धगुणाः ते चामी-"से ण तंसे न चउरंसे ण वट्टे ण परिमंडले ण आयते"इति संस्थानपञ्चकस्य निषेधतः वर्णपञ्चकस्य गंधद्वयस्य रसपञ्चकस्य स्पर्शाष्टकस्य वेदत्रयस्य एवं २८ अकायः २९ असंगः ३० अरूह ३१ श्चेति यदुक्तं "पडिसेहणसंठाणे ५ वण्ण ५ गंध २ रस ५ फास ८ वेदे य ३ पणपण दु पणट्ठ तिहा इगतीसाकाय असंगऽरूहा ॥१॥" अथवा क्षीणाभिनिबोधिकज्ञानावरणः क्षीणश्रुतज्ञानावरण इत्यष्टकर्मभेदानाश्रित्य एकत्रिंशद्भेदा आह च पंचणाणावरणे णव दंसणावरणे चत्तारि आउए अन्तो पंच सेसे दो दो भेया खीणाभिलावेण भणियव्वा इगतीसं ॥१॥ सिद्धगुणाः। ज्ञानाव(रण) ५ दर्शनाव० ९ वेदनीय २ मोहनीय २ आयुः ४ नामक० २ गोत्रक० २ अन्तराय ५ प्रकृतयः क्षीणाः इति वाच्यम् ।

जोगसंगहे ३२ अथ द्वात्रिंशद्योगसंग्रहाः-युज्यन्ते इति योगाः मनोवाक्कायव्यापारास्ते चेह प्रशस्ता विवक्षितास्तेषां शिक्षाचार्यगतानां आलोचनादिभिरपलापादिना प्रकारेण संग्रहणानि संग्रहाः प्रशस्तयोगसंग्रहत्वात् आलोचना अत एव तथोच्यते ते च

१ आलोयणा निरवलावे...बत्तीसं संगहा इति गाथापञ्चकम्

द्वात्रिंशत् भवन्ति, तानाह–आलोयणत्ति तत्र प्रथमं मोक्षसाधकयोगसंग्रहाय शिष्येण आचार्याय आलोचना दातव्या, इति कोऽर्थः? शिष्येण स्वकीयापराधालोचना आचार्याय सम्यग् निर्मायतया कथयितव्या इत्यर्थः १, निरवलावे त्ति आचार्योऽपि मोक्षसाधकयोगसंग्रहायैव दत्तसमालोचनायां निरपलापत्वं, अपरिश्राविस्त्वं नाऽन्यस्मै कथयितव्यमित्यर्थः २ आवत्तीसु दढधम्मयात्ति प्रशस्तयोग–संग्रहाय साधुना आपत्सु द्रव्यादिभेदात् सुदृढधर्मता कार्या सुतरां सुदृढधर्मणा भाव्यम् ३, अणिस्सिओवहाणेत्ति शुभयोग संग्रहायैव अनिश्रितत्वं च तदन्यनिरपेक्षमुपधानं च तपोऽनिश्रितोपधानं परसाहायाऽनपेक्षं तपो विधेयमित्यर्थः ४ सिक्खत्ति योगसंग्रहाय शिक्षा सेवितव्या सा च सूत्रार्थग्रहणरूपा, प्रत्युपेक्षाद्यासेवना चेति द्विविधा ५ णिप्पडिकम्मयत्ति तथैव निष्प्रतिकर्मता शरीरस्य विधेया ६ अण्णाययत्ति तपसि अज्ञातता अप्रकटता कार्या यशः पूजाद्यर्थत्वेनाप्रकाशयद्भिस्तपः कार्यमित्यर्थः ७ अलोभयत्ति अलोभता विधेया ८ तितिक्खत्ति तितिक्षा–परीषहादिजयः ९ अज्जवत्ति–धर्मे ऋजुता भावः १० सुइत्ति सत्यं संयमः इत्यर्थः ११ सम्मदिट्ठित्ति सम्यग्दर्शनशुद्धिः १२ समाहियत्ति समाधिः चेतःस्वास्थ्यम् १३ आयारे विणओवएत्ति द्वारद्वयं तत्राचारोपगतः स्यात् मौनं कुर्यात् इत्यर्थः १४ विनयोपगतो भवेन्न मानं कुर्यादित्यर्थः १५ धिइमइयत्ति धृतिप्रधानामतिर्धृतिमतिरदैन्यं धर्मे १६ संवेगत्ति संवेगः संसारभयं मोक्षाभिलाषो वा १७ पणिहित्ति प्रणिधिर्माया सा न कार्या इत्यर्थः १८ सुविधिसदनुष्ठानं १९ संवरत्ति आश्रवनिरोधः २० अत्तदोसोवसंहारेत्ति स्वकीयदोषस्य निषेधः २१ सव्वकामविरयत्ति समस्तविषयवैमुख्यं २२ पच्चक्खाणेत्ति प्रत्याख्यानं मूलगुणविषयं २३ उत्तरगुणविषयं च २४ विउस्सग्गत्ति व्युत्सर्गो द्रव्यभावभेदभिन्नः २५ अप्पमाएत्ति प्रमादवर्जनं २६ लवालवेत्ति कालोपलक्षणं तेन क्षणे क्षणे समाचार्यनुष्ठानं कार्यं २७ संवर-

जोगेत्ति ध्यानमेव संवरयोगो ध्यानसंवरयोगः २८ उदए मारणंतिएत्ति मारणांतिकेऽपि वेदनोदये न क्षोभः कार्यः २९ संगाणं परिणत्ति संगाणां विषयाभिष्वंगानां ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञा कार्या ३० पायच्छित्त करणे इयत्ति प्रायश्चित्तकरणं कार्ये ३१ आराहणयाय मरणंतेत्ति मरणरूपोऽन्तो मरणान्तस्तत्र सम्यगाराधना संयमः कार्यः ३२ इति द्वात्रिंशत् योगसंग्रहाः सदृष्टान्ता आवश्यकनिर्युक्तिवृत्तितोऽवसेया विस्तरार्थिभिः तत्र द्रष्टव्यमिति

तिंत्तीसासायणा ३३ अथ त्रयस्त्रिंशदाशातना आयो–ज्ञानादीनां लाभस्तस्य शातना खंडना यथा भवति सा अशातनास्ताश्चेमाः रायणियस्स सेहो पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स इत्येवमालापो दृश्यते तत्र रत्नाधिकस्य पुरओत्ति अग्रतः १ सपक्खे समानपक्षं समपार्श्वं यथा भवति तथा समश्रेण्या गच्छति इत्यर्थः। चंक्रमणे स्थिते उपविष्टे गुरोरग्रे उभयोः पार्श्वे [आसन्ने] गंता स्थाता निषीदन् एवं ९ शिष्यस्याशातना भवंति विचारभूमौ गतयोः द्वयोः पूर्वमाचमनं शैक्षस्याशातना १० एवं पूर्वं गमनागमनालोचयतः ११ तथा रात्रौ रत्नाधिकेन को जागर्त्ति इति पृष्टे तद्वचनमप्रतिशृण्वतः १२ तथा रात्निकस्य आलपनीयस्य पूर्वमालापयत आशातना १३ लब्धमशनादि पूर्वं परमालोचयतः १४ एवमन्यस्योपदर्शयतः १५ एवं निमंत्रयतः १६ रात्निकमनापृच्छय अन्यस्मै भक्तादि ददतः १७ स्वयं प्रधानतरं भुंजानस्य १८ क्वचित्प्रयोजने दिवापि रात्निकवाचाऽप्रतिशृण्वतः १९ रात्निकं प्रति तत्समक्षं वा बृहता शब्देन बहुभाषमाणस्य २० व्याहृतेन मस्तकेन वंदे इति वक्तव्ये किं भणसि इत्यादि ब्रुवाणस्य २१ रात्निके प्रेरयति कस्त्वं प्रेरणाया-

१ प्रवचनसारोद्धारवृत्ति गाथा १२९-१४९ यावदाशातना स्वरूपम्

एगातियं करेत्ता एक्कुत्तरियाए वड्ढिए तीसातो जाव उ भवे एकाहिका विरतीपणिहीसु, अविरतीसु य एवमादि-सु पहूसु ठाणेसु, जिणपसाहिएसु, अवितहेसु, सासयभावेसु, अवट्ठिएसु संकं कंखं निराकरेत्ता सद्दहते सासणं

मयदतः २२ हे आर्य ग्लानं किं न प्रतिचरसीत्याद्युक्ते त्वमेव किं न त्वं प्रतिचरसीत्यादि भणतः २३ गुरौः धर्मं कथयति सति अन्य-मनस्कतां भजतो नानुमोदयतः २४ कथयति गुरौ न स्मरसीति वदतः २५ धर्मकथामाच्छिदतः २६ भिक्षावेला वर्तते इत्यादि वचनतः पर्षदां भिंदानस्य २७ गुरोः पर्षदोऽनुत्थितायास्तथैव व्यवस्थितायाः स्वदक्षत्वं जनयतो धर्मं कथयतः २८ गुरोः संस्तारके निषीदतः २९ गुरोः संस्तारके पादघट्टनं कुर्वतः ३० उच्चासने निषीदतः ३१ समासने निषीदतः ३२ गुरौ किञ्चित्पृच्छति तत्र स्थितस्यैवोत्तरं ददतः ३३ इति त्रयस्त्रिंशदाशातना उक्ताः त्रयस्त्रिंशत्सुरेन्द्राः विंशतिर्भवनपतिषु दश वैमानिकेषु द्वौ ज्योतिष्केषु, चंद्रसूर्याणाम-संख्येयत्वेऽपि जातिग्रहणात् द्वावेव विवक्षितौ, एको नृदेवश्चक्रवर्ती जात्यपेक्षया इति त्रयस्त्रिंशत् इयं सङ्ख्या वक्ष्यमाणसूत्रगत्या न प्रतीयते तथापि ग्रन्थान्तरादवसेयेति.

एवमेकत्वादिसंख्योपेता असंयमादयो भावा भवन्ति, किंभूतेषु? एतेषु आदिमं-प्रथमं एकादिकं-एकद्विव्यादिकं किं कृत्वा सङ्ख्या-सङ्ख्याविशेषत्वं विधाय एकोत्तरिकया वृद्ध्या इति गम्यते वर्द्धितेषु संख्याधिक्यं प्राप्तेषु किंयन्तीं संख्यां यावद्वर्द्धितेषु इत्याह-तेत्तीसेत्ति यावत्त्रयस्त्रिंशद्भवति तावद्वक्तव्यम्, एकाधिकासु संख्यासु शंकादि निराकृत्य: शासनं श्रद्दधते स श्रमण इति संबंधः। तथा विरतयः प्राणातिपातादिविरमणानि प्रणिधानानि विशिष्टैकाग्रत्वानि तेषु, अविरतेषु अविरमणेषु, अन्येषु च उक्त व्यतिरिक्तेषु एवमादिकेषु एवं प्रकारेषु बहुषु स्थानेषु पदार्थेषु संख्येयेषु चतुस्त्रिंशदादि यावद्बहुसंख्येयेषु, जिनशासितेषु-जिनप्रणीतेषु

भगवतो अनियाणे, अगारवे, अलुद्धे, अमूढमणवयणकायगुत्ते (सू० २८)

जो सो वीरवरवयण-विरतिपवित्थर-बहुविहप्पकारो, सम्मत्तविसुद्धमूलो, धितिकंदो, विणयवेतितो, निग्गततिलोक्क-विपुलजसनिचियपीणपवरसुजातखंधो, पंचमहव्वयविसालसालो, भावणतयंतज्झाणसुभजोगनाणप-

---

समयार्थादिषु केषु केषु प्रोक्तेषु, अवितथेषु-सत्येषु आप्तप्रणीतं सत्यमेवेति वचनात्, शाश्वतभावेषु तथाऽक्षयस्वभावेषु अतएवाव-स्थितेषु सर्वदा द्रव्यतया भावेषु, शङ्कां-संदेहं कांक्षां-अन्यमतग्रहरूपां तां निराकृत्य-अपनीय सद्गुरुपर्युपासनादिभिः, श्रद्धा धरदानं तमेव सचं निःशंकं जं जिणेहिं पवेइयमिति प्रतीतिरूपं, शासनं-प्रवचनं जिनस्य भगवतः स एव श्रमणः स कीदृशः ? अनिदानः-देवेन्द्रादिपर्यायप्रार्थकः, अगौरवः-ऋद्ध्यादिगौरववर्जितः, अलुब्धो-अलम्पटः, अमूढो-दक्षः, मनोवचनकाय-गुप्तश्च यः स तथा अपरिग्रहसंवृतः श्रमणः इत्यर्थः।

अधुना अपरिग्रहत्वमेव वर्णयन्नाह

योऽयं वक्ष्यमाणविशेषणः संवरपादपः चरमं संवरद्वारमिति संबंधः कीदृशः ? संवरपादपः, वीरवरस्यश्रीमन्महावीरस्य यद्वच-नाज्जाता या विरतिः परिग्रहान्निवृत्तिः सैव प्रविस्तरो-विस्तारो यस्य स तथा, तत्र संवरपक्षे बहुविधप्रकारत्वं विचित्रविषयापेक्षया क्षयोपशमाद्यपेक्षया च पादपपक्षे मूलकन्दादिविशेषापेक्षयेति ततः कर्मधारयः। तथा सम्यक्त्वमेव सम्यग्दर्शनमेव विशुद्धं निर्दोषं मूलं-कन्दस्याऽधोवर्त्ति यस्य स तथा, धृतिः-चित्तस्वास्थ्यं सैव कन्दः-स्कन्धाऽधोभागरूपो यस्य स तथा। विनय एव वेदिका पार्श्वतः परिकररूपा यस्य स तथा पुनः कीदृशः ? प्राकृतत्वात् शब्दव्यत्ययः निर्गत-त्रैलोक्यगतं-भुवनत्रयव्यापकं अतएव विपुलं-

ल्लववरंकुरधरो, बहुगुणकुसुमसमिद्धो, सीलसुगंधो, अणण्हवफलो, पुणो य मोक्खवरबीजसारो, मंदरगिरिसिहरचूलिका इव इमस्स मोक्खवरमुत्तिमग्गस्स सिहरभूओ, संवरवरपादपो चरिमं संवरदारं ।

जत्थ न कप्पइ गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोण-मुह-पट्टणा-समगयं च किंचि अप्पं व बहुं व

विस्तीर्णे यद्यशः-ख्यातिस्तदेव निचितो-निबिडः पीनः-पीवरो महान् सुजातः-सुनिष्पन्नः स्कन्धो यस्य सः तथा पुनः कीदृशः ? पंचमहाव्रतान्येव विशालाः-विस्तीर्णाः शालाः-स्कन्धशाखाः यस्य स तथा। पुनः कीदृशः ? भावना एवानित्यत्वादि त्वक् यस्य सः तथा, पुनः कीदृशः ? ध्यानं च शुभयोगाश्च धर्मध्यानादि सद्व्यापाराः ज्ञानं च-बोधविशेषः तान्येव पल्लववरांकुराः-प्रवालप्रवरप्ररोहांस्तान् धारयतीति यः स तथा सर्वत्र कर्मधारयः। बहवो ये गुणाः शुभफलरूपा वाऽतएव कुसुमानि तैः समृद्धो जातसमृद्धियैः स तथा, शीलं-ब्रह्म तथा ऐहिकफलानपेक्षप्रवृत्तिरेव वा सदाचारं समाधानं वा तदेव सुगन्धः-सद्गन्धो यत्र स तथा, अनाश्रवः नवकर्मानुपादानं स एव फलं यस्य स तथा, अथवा अनाश्रवो वचनस्थितत्वं तदेव फलं यस्य आज्ञाफल इत्यर्थः

पुनः कीदृशः ? पुनः पुनर्वरबीजं-बोधिस्तदेव सारं मिंजालक्षणो यस्य स तथा, मंदरगिरिः-मेरुधराधरस्तस्य शिखरे या चूलिका चूडा तथा इव सा इव, अस्य-प्रत्यक्षस्य मोक्षवरे-भावमोक्षे सकलकर्मक्षयलक्षणे गंतव्ये मुक्तिरेव निर्लोभता यो मार्गः तस्य शिखरभूतः-शेखरकल्पः कोऽसौ इत्याह संवर एव-आश्रवनिरोध एव वरपादपः पंचप्रकारस्याऽपि संवरस्य उक्तरूपस्येति ज्ञेयं

अथ चरिमं संवरद्वारं उपसंहरन्नाह-चरमं संवरद्वारं-आश्रवनिरोधमुखं इति पुनर्विशेषयति यत्र संवरद्वारे-परिग्रहविरमणलक्षणे सति न कल्पते-न युज्यते परिगृहीतुं इति संबंधः किं तत् इत्याह-ग्रामागारनगरखेटककर्बटमडंबद्रोणमुखपत्तनाश्रमगतं वा एतेषां

अणुं व थूलं व तसथावरकायदव्वजायं मणसावि परिघेत्तुं ण हिरन्नसुवन्नखेत्तवत्थु, न दासीदासभयकपेसहयगयगवेलगं च, न जाणजुग्गसयणाइ, ण छत्तकं, न कुंडिया, न उवाणहा, न पेहुणवीयणतालियंटका, ण यावि अय-तउय-तंब-सीसक-कंस-रयत-जातरूव-मणि-मुत्ताधार-पुडक-संख-दंत-मणि-सिंगसेल-काय-वरचेल-

---

पदानां व्याख्यानं पूर्वं व्याख्यातमस्ति किञ्चित् इति अनिर्दिष्टस्वरूपं सामान्यं सर्वमेव इत्यर्थः अल्पं वा मूल्यतः बहुं वा मूल्यतः, एवं अणुं वा-स्तोकप्रमाणं, स्थुलं वा-महत्प्रमाणं, त्रसकायरूपं शंखादि सचेतनं अचेतनं वा, एवं स्थावरकायरूपं रत्नादिद्रव्यजातं वा चेतसापि आस्तां कायेन परिगृहीतुं न कल्पते। एतदेवाह-न-निषेधे हिरण्यं अघटितसुवर्णं रूप्यं सुवर्णं स्वर्णं क्षेत्रं सेतुकेतूभयात्मकत्रयं, वास्तु-गृहं खातोच्छ्रितोभयात्मकं गृहीतुं, न निषेधे दासः-कर्मकरः, दासी-कर्मकरी, भृतको-मूल्यक्रीतो दासः, प्रेष्यो-ग्रामादौमोचनयोग्यः, हयाः-अश्वाः, गजाः-हस्तिनः, गव्याः-गोधनम्, एलकं-अजादयो न कल्पते। न-निषेधे यानं-शकटं रथादि, युग्यं आसनानि गोल्लदेशप्रसिद्धानि यानयुग्यासनानि, न-निषेधे छत्रकं-आतपवारणं, न कुण्डिका-कमंडलूः, न उपानहः पादरक्षणानि, न पेहुणानि-मयूरपिच्छव्यंजनानि,न तालवृन्तकं व्यंजनादीनि, अन्यनिष्पन्नानि, न चापि निषेधे अन्यदपि अयो-लोहं, ताम्रं त्रपु-वंगं सीसकं कांश्यं प्रतीतं, रजतं-रूप्यं, जातरूपं सुवर्णं, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, मुक्ताधारपुटकं-शुक्तिसंपुटं शङ्खस्त्रिरेखः, दंताः प्रतीतास्तदेवमणिः प्रधानगजदंताः, अथवा दंतजो मणिः, नरमादादिमुक्तारूपं शृङ्ग-विषाणं, शैलाः पाषाणाः, काचवरः, -प्रधानकाचः, पाठान्तरे 'लेसे'त्ति इति पाठः तत्र श्लेषद्रव्यं कचवरानिष्पन्नं प्रधानवस्तु चेलं-वस्त्रं, चर्म-अजिनं, एतेषां द्वन्द्वः एतानि

---

१ वत्थुं इति भाषा।

चम्मपत्ताइं महरिहाइं परस्स अज्झोववायलोभजणणाइं परियड्डेउं गुणवओ न यावि पुप्फफलकंदमूलादियाइं सणसत्तरसाइं सव्वधन्नाइं तिहिवि जोगेहिं परिघेत्तुं ओसहभेसज्जभोयणट्ठयाए संजएणं, किं कारणं ?, अपरिमितणाणदंसणधरेहिं, सीलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं, तित्थयरेहिं, सव्वजगज्जीववच्छलेहिं, तिलोयमहिएहिं,

---

अथवा एतेषां सत्कानि यानि पात्राणि–भाजनानि तानि, तथा महार्हाणि–महार्घ्याणि अन्यान्यपि इत्यर्थः, परस्स–अन्यस्य, अध्युपपातः–ग्रहणैकाग्रचित्तता लोभ–मूर्च्छाजनकानि यानि तानि परिकर्षयितुं–परिवर्द्धयितुं परिपालयितुं कस्य गुणवता (तो) मूल गुणादिसंपन्नस्य भिक्षोरिति शेषः। न चापि गृहीतुं कल्पते, पुष्पफलकंदमूलादिकानि–वनस्पत्यादिशाकजातानि सनः सप्तदशो व्रीह्यादीनां तानि सनसप्तदशकानि सर्वधान्यानि गृहीतुं न कल्पते, जव १ गोधूम २ व्रीहि ३ कंगू ४ मग ५ मास ६ निष्पाव ७ आढकी ८ कुलत्थ ९ राजमाष १० कलाद ११ त्रिपुटक १२ चनक १३ राल १४ लट्टा १५ अलसी १६ शण १७ इत्यादीनि धान्यानि त्रिभिरपि योगैः मनःप्रभृतिभिः न कल्पते गृहीतुं, किमर्थं तदाह औषधभैषज्यभोजनार्थाय, तत्र औषधं एकजात्यादिएकजातीयं शुंठ्यादि भैषज्यं चूर्णादि, तथा औषधं एकांगं, भैषज्यं द्रव्यसंयोगरूपं संयतेन–साधुना इति तृतीयार्थे षष्ठी संयतस्य–साधोः को हेतुः–किं कारणं, कैरुच्यते न कल्पनीयं, तदाह–अपरिमितज्ञानदर्शनधरैः–सर्वविद्भिः, शीलं–समाधानं चित्तस्य गुणाः–मूलगुणादयः, विनयोऽभ्युत्थानादिकः, तपःसंयमौ प्रतीतौ तान्नयति–वृद्धिं मापयति ये ते तथा तैः, तीर्थकरैः–शासनप्रवर्त्तकैः, सर्वजगज्जीव(वानां)–त्रैलोक्यजीवानां वात्सल्यभूता (तैः)–हितचिंतकत्वात् बन्धुकल्पैरित्यर्थः, त्रैलोक्यमहितैः–त्रिभुवनपूज्यैः

(2) जिणवरिंदेहिं एस जोणी जंगमाणं दिट्ठा न कप्पइ, जोणिसमुच्छेदोत्ति तेण वज्जंति समणसीहा, जंपिय ओदण कुम्मास-गंज-तप्पण-मंथु-भुज्जिय-पलल-सूप-सक्कुलि-वेढिम-वरसरक-चुन्न-कोसग-पिंड-सिहरिणि-वट्ट-मोयग-खीर-दहि-सप्पि-नवनीय-तेल्ल-गुल-खंड-मच्छंडिय-मधु-मज्ज-मंस-खज्जक-वंजण-विधिमादिकं पणीयं

जिनाः-छद्मस्थवीतरागास्तेषां वराः-केवलिनः तेषां इन्द्राः तीर्थङ्करनामकर्मोदयवर्त्तित्वात् ये ते तथा तैः, एषा-पुष्पफलधान्यरूपा, योनिः-उत्पत्तिः जङ्गमानां-त्रसानां इत्यर्थो दृष्टा-उपलब्धा केवलज्ञानेन ततश्च न कल्पते, कस्माद्धेतोरित्याह-

योनिसमुच्छेदो-योनिविध्वंसः कर्तुं इति गम्यते, परिग्रहे औषध्याद्युपयोगे च तेषां अवश्यं ध्वंसो भावीति ज्ञेयं, तेनैव कारणेन वर्जयन्ति-परिहरन्ति पुष्पफलादिकं सर्वं पूर्वोक्तं, क इत्याह श्रमणसिंहाः-मुनिपुङ्गवाः । यदपि च ओदनादि तदपि च न कल्पते संनिधीकर्तुं सुविहितानामिति गम्यं, तत्र ओदनं-कूरः, कुल्माषाः-माषाः, ईषत्खिन्ना मुद्गादय इत्यन्ये गंजो-भोज्यविशेषः, तर्पणः सक्तु मंथुरिति-बदरादिचूर्णः, भुज्जियत्ति-भ्रष्टं धान्यम्, पललंति-तिलपिष्टम् सूप्पो-मुद्गादिदालिजन्यो विकारः, शष्कुली-तिलपर्पटिकाविकारः वेढिमाः-कुङ्कणदेशप्रसिद्धाः, वरसारकाणि-चूर्णकोशकानि च रूढिगम्यानि तत्र फलपत्रादिविकारजन्यं भक्ष्यं वरसारकाणि, पिष्टमुद्गविकारजन्यानि चूर्णकोशान्यपि इति वृद्धाः, पिंडा-गुडादिपिण्डाः, शिखरणी-गुडमिश्रदधि वट्टत्ति-घनतीमनं दहीवडादि, मोदकं प्रतीतम्, क्षीरं-दुग्धम्, दधि, सर्पि-र्घृतम्, नवनीतं-म्रक्षणं, तैलं, गुडं, खंडं च प्रतीतम् मत्स्यंडिका-खंडविशेषः, मधुमद्यमांसकानि प्रतीतानि, तत्र मधु त्रिधा कुत्तिमाक्षिकभ्रामरीकं, मद्यं द्विधा काष्टपिष्टोद्भवं, मांसं त्रिधा जलस्थलखचरोद्भवं, चर्म वा,

१ ओष इति भाषा

उवस्सए परघरे व रन्ने न कप्पती तंपि सन्निहिं काउं सुविहियाणं, जंपिय उद्दिट्ठठवियरचियगपज्जवजातं पकिण्ण–पाउकरण–पामिच्चं, मीसकजायं, कीयकडपाहुडं च दाणट्ठपुन्नपगडं समणवणीमगट्ठयाए वा कयं, पच्छाकम्मं,

---

खाद्यानि–अशोकवर्त्तयः व्यञ्जनानि–तक्रादीनि शालनकादीनि वा एतेषां द्वन्द्वः एतेषां, विहिमाइयं–विधिरचना–पाकविशेषरचनाप्रभीतं–भावितं स्निग्धं वा उपाश्रये–वसतौ परगृहे वा अरण्ये–अटव्यां न कल्पते–न संगच्छते, तदपि संनिधीकर्तुं यदुक्तं .

पिंडमुब्भेइम लोणं तिल्लं सप्पिं च फाणियं ण ते संनिहिमिच्छन्ति नायपुत्तवओरया ॥१॥ इति चह भावं कर्तुं इति शेषः,सुविहितानां–परिग्रहवर्जने शोभनानुष्ठानानां सुसाधूनां, यदपि च उद्दिष्टादिरूपं ओदनादि न कल्पते तदपि परिगृहीतुं सम्बन्धः इत्याह–उद्दिष्टं नाम यावदर्थिकान् पाखण्डिनः श्रमणान्–साधून् चोद्दिश्य दुर्भिक्षापगमादौ यद्भिक्षावितरणं तदुद्देशिकमुद्दिष्टं, स्थापितं प्रयोजने याचितं गृहस्थेन तदर्थं स्थापितं यत्तत्, एवं रचितकं मोदकचूर्णादि साध्वाद्यर्थं प्रताप्य पुनर्मोदकतया रचितं, पर्यवोऽवस्थान्तरं जातो यत्र तत् पर्यवजातं अयमुद्देशिकभेदः कूरादिकं उद्धरितं–दध्यादिना विमिश्रं करंबादिकं पर्यायान्तरमापादितमित्यर्थः कृताभिधानः। प्रकीर्णं–विक्षिप्तं छर्दितपरिशाटीत्यर्थः अनेन छर्दिताभिधानदोष उक्तः। पाउकरणंत्ति–प्रादुष्क्रियते अंधकारापवरकादेः साध्वर्थं बहिःकरणेन दीपमण्याद्धिरणेन वा प्रकाश्यते यत्तत्प्रादुष्करणं, प्रामित्यकं–अन्योन्यं पालयित्वा यद्दीयते तत्, मिश्रजातं–साध्वर्थं गृहस्थार्थं चाऽऽदित उपस्कृतं, क्रयेण–मूल्येन क्रीतं साधुदानायेति क्रीतकृतं, प्रभूतप्राभृतकं–साधुदानार्थं सङ्खडीपूर्वं वा पश्चात् ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः, वा शब्दः पूर्ववाक्यापेक्षया विकल्पार्थः, तथा दानमर्थो यस्य तद्दानमर्थं, पुण्यमेव अर्थो यस्य तत्

१. खाओं इति भाषा

पञ्चम संवरद्वारे परिग्रह विरतौ भिक्षा असन्निधिः

पुरेकम्मं, नितिकम्मं, मक्खियं, अतिरित्तं, मोहरं चेव सयग्गहमाहडं, मट्टिउवलित्तं, अच्छेज्जं चेव अणीसट्ठं जं तं तिहीसु जन्नेसु ऊसवेसु य अंतो वा बहिं व होज्ज समणट्ठयाए ठवियं हिंसासावज्जसंपउत्तं न कप्पती तंपिय परिघेत्तुं।

पुण्यार्थं श्रमणाः-पंचविधा निर्ग्रन्थशाक्यतापसगैरिकाजीविका स एव अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा तदर्थं कृतं-निष्पादितं, वनीपकाः-याचकाः तदर्थं कृतं एते चत्वारोऽपि उद्देशिकभेदाः, पश्चा-दानानन्तरं भाजनधावनादिकर्म यत्राशनादौ तत्पश्चात्कर्म, पुरो-दानात्पूर्वं हस्तधावनादिकर्म पूर्वकर्म, नैत्यिकं-नित्यमवस्थितमेवत् प्रमाणं दातव्यमिति, म्रक्षितं-उदकादिना संसृष्टं अयमेषणादोषः।

अतिरित्तंति-"बत्तीसं किरकवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ पुरिसस्स महिलयाए अट्ठावीसं भवे कवला" ॥१॥ एतत्प्रमाणातिक्रान्तमयं च मंडलीदोषः, मोहरं त्ति-मौखर्येण पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तवादिना बहुभाषितत्वेन यल्लभ्यते तत् मोहरं अयमुत्पादनादोषः, सयं-आत्मनाऽदत्तं गृह्यते यत् तत्स्वयं ग्राह्यं दातॄणामभावेऽपि संलापादिना स्वयमेव धर्माशीःपूर्वकं गृह्यते अयं अपरिणताख्यदोषांतर्भवति,

आहडत्ति-स्वग्रामादेः साध्वर्थमानीतं-आहृतं, मट्टिओवलित्तं त्ति-मृत्तिकाजतुगोमयादिना उपलिप्तं, आच्छेद्यं-यदाच्छिद्य-उद्दाल्य भृत्यादिभ्यः स्वामी ददाति,चेव-निश्चितं, अनिसृष्टं-यद्बहुसाधारणं सत् यत् एक एव ददाति एतादृशं यत्,तिथिषु-मदनत्रयोदश्यादिषु, यज्ञेषु-यज्ञपाटकेषु, उत्सवेषु-इन्द्रमहोत्सवादिषु, यात्रासु-जनसमुदायेषु, अन्तर्बहिर्वा उपाश्रयात् श्रमणार्थं स्थापितं-दानादौ प्रस्थापितं, पुनः कीदृशं? हिंसालक्षणं यत् सावद्यं तत्सम्प्रयुक्तं न कल्पते तत्-किमपि पूर्वोक्तं सर्वं परिगृहीतुं-लातुं,

---

१ पिण्डनिर्युक्ति गाथा ६४२ पृष्ठ १७२.

अह केरिसयं पुणाइ कप्पति?, जं तं एक्कारसपिंडवायसुद्धं, किणण-हणण-पयण-कयकारियाणुमोयण-तवकोडीहिं सुपरिसुद्धं, दसहि य दोसेहिं विप्पमुक्कं, उग्गमउप्पायणेसणाए सुद्धं, ववगयचुयचवियचत्तदेहं, च फासुयं ववगयसंजोगमणिंगालं, विगयधूमं, छट्ठाणनिमित्तं, छक्कायपरिरक्खणट्ठा हणिं हणिं फासुकेण

अथ-पुनः कीदृशं किंविधं सत् पुनः कल्पते-संगच्छते साधूनामिति यत् तत् पिण्डं तदाह-एकादशोत्तरपिंडपातशुद्धं-आचारस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य प्रथमपिण्डेषणाध्ययने एकादश उद्देशादिभिः पिण्डपातैस्तैः शुद्धं-निर्दोषम्, पुनः कीदृशं? किणणं-मूल्यादिना, हननं-शस्त्रादिच्छेदनेन, पचनं-पाकादिना, तथा कृतकारितानुमोदनानि स्वयं करणकारणानुमतयः तानि तथा त एव नव कोट्यो विभागैः कृत्वा सम्यग् परिशुद्धं-निर्दोषं, दशभिश्च-शङ्कितादिदोषैः विप्रमुक्तं-रहितं, आधाकर्मादय उद्गमदोषाः षोडश दायकादुत्पद्यंते, धात्र्यादय उत्पादना दोषा षोडश ग्राहकादुत्पद्यन्ते, एषणा गवेषणाभिधाना दोषा दश उद्गमोत्पादनैषणा तया शुद्धं, पुनः कीदृशं? व्यपगतो-गतः चेतनपर्यायादचेतनत्वं प्राप्तं, च्युतं-जीवनादिक्रियया विच्युतं-तेभ्य एव आयुःक्षयेण, त्यजितं-त्यक्तदेहं परित्यक्तसंसर्गसमुत्थशक्तिजनिताशनादिपरिणामा एवं यत्तत् तथा, चः-समुच्चये, प्रासुकं-निर्जीवं पूर्वोक्तं कल्पत इति ग्रहीतुं, व्यपगतसंयोगमनंगारं विगतधूमं चेति पूर्वव्याख्यातमेव षट्स्थानकनिमित्तं यस्य भैक्ष्यस्य तत्तथा, तानि चामूनि

[1]वेयण १ वेयावच्चे २ इरियट्ठाएय ३ संजमट्ठाए ४ तह पाणिवित्तीयाए ५ छट्ठं पुण धम्मचिंताए ६ ॥,

तथा षट्कायपरिरक्षणार्थं इति व्यक्तं, अहनि अहनि-प्रतिदिनं सदापीत्यर्थः, प्रकर्षेण गताः असवः-प्राणाः यस्मिन्निति प्रासुकं

१ पिंडनिर्युक्ति गाथा ६६२

पञ्चम संवरद्वारे परिग्रह विरतौ भिक्षा असन्निधिः

भिवरोण यटियव्वं, जंपिय समणस्स सुविहियस्स उ रोगायंके बहुप्पकारंमि समुप्पन्न वाताहिकपित्तसिंभअतिरित्तकुविय तह सन्निवालजाते, व उदयपत्ते, उज्जलबलविउलकक्खडपगाढदुक्खे, असुभकडुयफरुसे, चंडफलविवागे, महब्भए, जीवियंतकरणे, सव्वसरीरपरितावणकरे, न कप्पती तारिसेवि तह अप्पणो

व्युत्पत्त्या तादृशेन भैषज्येन वर्तितव्यम् , यदपि च औषधादि तदपि संनिधीकर्तुं न कल्पते, यस्य साधोः–श्रमणस्य सुविहितस्य–अपार्श्वस्थस्य, "तु" वाक्यालङ्कारे कदेत्याह–रोगो–ज्वरादिः स चासौ आतङ्को–भयं–कृच्छ्रजीवितकारी तत्र, बहुप्रकारे–विविधे, समुत्पन्ने–जाते, तथा वातादिकं तदादिकं पित्तसिंभयो–र्वायुश्लेष्मणोः अतिरिक्तेन–आधिक्येन कुपितकोपस्तं तथा महान् यः सन्निपातः–त्रिदोषजः तज्जाते–सत्यपि एतेषां द्वन्द्वः, तथा उदयप्राप्ते–उदिते प्रकटिते सति, उज्ज्वलं–सुखलेशवर्जितं बलवत् कष्टेनापसरणीयं विपुलं–बहुकालवेद्यं, त्रितुलं वा–त्रीन्–मनः प्रभृतीन् तुलां आरोपयति कष्टावस्थीकरोति इति त्रिकुलमित्यपि पाठः। अतएव कर्कशद्रव्यमिवाऽनिष्टं प्रगाढं–प्रकर्षवत् यत्पुनरेवमसुखं यत्र तत्तथा तत्र, किंभूतेत्याह, अत एव अशुभः–असुखो वा कटुकः–कटुकद्रव्यवत् अनिष्टः परुषो यत्र दारुणश्चण्डः फलं–विपाको दुःखानुबंधिलक्षणो यस्य तत्तथा–तत्र, महद्भयं–इह लोकादिर्यस्य तत्तथा तत्र, किं बहुना, जीवितांतकरः, सर्वशरीरपरितापनकारकं, न कल्पते–न युज्यते, तादृशेऽपि–रोगातङ्कादौ सोढुं न शक्यते तेन कारणेन पुष्टालम्बनं विना ज्ञानाद्याराधनार्थं सालंबनस्य कल्पतेऽपि यतः–

काहं अछित्ति अदुवा अहीहं तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं। गणं वणीइए सारविस्सं सालंबसेवी समुवेई मोक्खम् १ इति वचनात्

परस्स या ओसहभेसज्जं भत्तपाणं च तंपि संनिहिकयं, जंपिय समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गहधारिस्स भवति भायणभंडोवहिउवकरणं पडिग्गहो पादबंधणं पादकेसरिया पादठवणं च पडलाइं तिन्नेव रयत्ताणं च गोच्छओ तिन्नेव य पच्चवा रयोहरण–चोलपट्टक–मुहणंतकमादीयं एयंपिय संजमस्स उववूहणट्टयाए वायायव–

पञ्चम संवरद्वारे परिग्रह विरतौ भिक्षा असन्निधिः

आत्मने परस्मैपदनिमित्तं औषधं, भैषज्यं, भक्तपानं च तदपि संनिधीकृतं–संचयीकृतं परिग्रहविरतत्वात् यद्यपि श्रमणस्य–साधोः सुविहितस्य "तु" शब्दो भाषामात्रसूचकार्थः, पतद्ग्रहधारिणः सपात्रस्य भवति। भाजनं–पात्रं, भाण्डं–मृण्मयं तदेव उपधिकः–औधिक उपकरणादि–औपग्रहिकं अथवा भाजनं–भांडं उपधिश्च इत्येवंरूपं उपकरणं एतदेवाह, पतद्ग्रहशब्देन पात्राणि उपलक्ष्यते १ पात्रबन्धनं–झोलिकारूपं २ पात्रकेसरिका या पात्रप्रमार्जिनी पोचिका ३ पात्रस्थापनं–यत्र कंबलखंडे पात्रं निधीयते, पडलकानि च–भिक्षावसरे पात्रप्रच्छादनकानि वस्त्रखण्डानि, तिन्नेवत्ति–तानि च यदि सर्वस्तोकानि तदा त्रीणि भवन्त्येव अन्यथा पञ्च सप्तापि भवन्ति। रजस्त्राणं–पात्रवेष्टनवस्त्रं, गोच्छकः–पात्रवस्त्रआच्छादनरूपः त्रय एव प्रच्छादाः द्वौ सौत्रिकौ तृतीय और्णिकः, रजोहरणं–प्रतीतं धर्मध्वजं ऋषिचिह्नं तं चोलपट्टः–परिधानवस्त्रं, मुखानन्तकं–मुखवस्त्रिका एतेषां द्वन्द्वः तत एतानि आदिर्यस्य तत्तथा, एतत्सर्वं अपि संयमस्य उपबृंहणत्वात् उपष्टंभार्थं न परिग्रहसंज्ञया यतः–

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं, तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य १

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा २ इत्यादि

दंस-मसग-सीय-परिरक्खणट्टयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएण णिचं पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सततं निक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहि उवकरणं,

एवं से संजते, विमुत्ते, निस्संगे, निप्परिग्गहरुई, निम्ममे, निन्नेहबंधणे, सव्वपावविरते, वासीचंदणसमाणकप्पे, समतिणमणिमुत्तालेट्ठुकंचणे समे, य माणावमाणणाए समियरते, समितरागदोसे, समिए, समितीसु

तथा वातातपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थं तथा उपकरणं-रजोहरणादिकं रागद्वेषरहितं यथा भवति तथा परिहर्त्तव्यं-मोक्तव्यमित्यर्थः। तथा एतेषां-पात्रादीनां उपकरणानां रक्षणहेतुपरिमाणादिकं बृहत्कल्पवृत्ति-प्रवचनसारोद्धार-पिण्डनिर्युक्तिवृत्त्यादिभ्योऽवसेयं, संयतेन-साधुना नित्यं-सदा तथा प्रतिलेखना-प्रत्युपेक्षा निरीक्षणं, प्रस्फोटनं धूननं उभाभ्यां सह प्रमार्जना-रजोहरणादिक्रिया सा तथा तस्यां, अहोरात्रिदिनं अप्रमत्तेन-अप्रमादिना भवितव्यं सततं-निरन्तरं यतः

"अज्झत्थ विसोहिए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो। अपरिग्गहोत्ति भणिओ जिणेहिं तिलुक्कदंसीहिं" १,

निक्षिप्तव्यं-भूमादौ मोक्तव्यम्, गृहीतव्यं चेति किं तदित्याह भाजन-भांड-उपधि-उपकरणं-

एवमनेन प्रकारेण संयतः-संयमी, विमुक्तः-त्यक्तधनादिः निःसंगोऽभिष्वङ्गवर्जितः, निर्गतपरिग्रहरुचिर्यस्य स तथा, निर्ममो "ममेति" शब्दवर्जितः ममत्वरहितः, निर्गतस्नेहबन्धनः, सर्वपापविरतः, वास्यां-छेदनोपकरणायां अपकारिणि चंदने उपकारके च समानस्तुल्यः कल्पः-समाचारो-मानसिकविकल्पो यस्य स तथा द्वेषरागविरहित इत्यर्थः, समा-उपेक्षणीयत्वेन तुल्या तृणमणिमुक्ता यस्य स तथा, लेष्टुः-दृषद् प्रस्तरः काञ्चनं-सुवर्णं तत्रापि समभावः, समश्च हर्षदैन्याभावात्, मानेन पूजया सहापमानेन न्यक्कारो

सम्मदिट्ठी समेय जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे, सुयधारते, उज्जुते, स साहू, सरणं सव्वभूयाणं, सव्वजगवच्छले, सचभासके, य संसारंतट्ठिते, य संसारसमुच्छिन्ने, सततं मरणाणुपारते, पारगे य सव्वेसिं संसपाणं, पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्मगंठीविमोयके, अट्ठमयमहणे, ससमयकुसले य भवति । सुहदुक्खनिव्विसेसे, अब्भिंतरबाहिरंमि सया तवोवहाणंमि य सुट्ठुज्जुते, खंते, दंते, य हियनिरते, ईरियासमिते, भासा-

मानापमानता यस्य सः (समः मानापमानौ यस्य स तथा) शमितं–उपशमितं रजः–पापं रतिर्विपयेषु रयौत्सुक्यं येन सः शमितरागद्वेपः, समितः सम्यक् भावप्राप्तिः समितिषु ईर्यादिषु, सम्यग्दृष्टिः–सम्यग्दर्शनी, समः सम्यग्दर्शी यः सर्वप्राणभूतेषु प्राणा द्वीन्द्रियादित्रसाः भूतानि–स्थावराः स एव श्रमणः इति वाक्यनिष्ठा । श्रुतधारकः, ऋजुकोऽवक्रः, उद्यतो वाऽनलसः, संयमी सुसाधुः–सुष्ठु निर्वाणसाधकः, शरणं–त्राणं सर्वभूतानां पृथिवीप्रमुखाणां, सर्वजगद्वात्सल्यकर्त्ता हित इत्यर्थः, सत्यभाषकश्च, संसारान्ते स्थितश्च–भवप्रान्ते स्थितः, संसारसमुच्छिन्नः–संसारोच्छेदकर्त्ता, सततं–निरन्तरं मरणानां पारगः–बहुत्वं अनन्तमरणापेक्षया सर्वदैव तस्य बालादिमरणानि भविष्यन्तीत्यर्थः, पारगश्च–सर्वेषां संशयानां छेदक इत्यर्थः, प्रवचनप्रवरमातृभिः अष्टाभिः–समितिपंञ्चकगुप्तित्रयरूपाभिः करणभूताभिः, पुनः कीदृशः ? अष्टकर्मरूपो यो ग्रन्थितस्य विमोचको यः स तथा, अष्टमदमथनः–अष्टमदस्थाननाशकः, पुनः स्वसमयः–सिद्धान्तः तस्मिन् कुशलः–चतुरो निपुणश्च भवति, सुखदुःखनिर्विशेषो–हर्षादिरहितश्च, अभ्यन्तरस्यैव–शरीरस्य कार्मणलक्षणस्य शोपकत्वात् अभ्यन्तरः प्रायश्चित्तादिः षड्विधस्य बाह्यस्यापि औदारिकलक्षणस्य तापकत्वात् बाह्यं अशनादि षड्विधं अनयोश्च द्वन्द्वः तत अभ्यन्तरबाह्ये सदा–नित्यं तप एव उपधानं–गुणोपष्टम्भकारितया उपधानं तत्र च, सुष्ठु युक्तः–अतिशयेन उद्यतः, क्षांतः–क्षमावान्,

संखेविव निरंजणे, विगयरागदोसमोहे, कुम्मो इव इंदिएसु गुत्ते, जच्चकंचणगं जायरूवे, पोक्खरपत्तं व निरुवलेवे, चंदो इव सोमभावयाए, सूरो व्व दित्ततेए, अचले जह मंदरे गिरिवरे, अक्खोभे सागरो व्व थिमिए, पुढवी व सव्वफाससहे, तवसा चिय भासरासिछन्निव्व जाततेए, जलियहुयासणो विव तेयसा जलंते, गोसीसचंदणंपिव सीयले, सुगंधे य, हरयो विव समियभावे, उग्घोसियसुनिम्मलं व आयंसमंडलतलं व पागडभावेण

यमानकर्मानुलेपः एतच्च विशेषणं माविनि भूतोपचारवद्भाव्यते, सुविमलवरकांसस्य भाजनमिव विमुक्ततोयः श्रमणपक्षे तोयं संबंधहेतुस्नेहः, शंखवन्निरञ्जनः श्रमणपक्षे रञ्जनं जीवस्वरूपोपरंजनकारी(रि) रागादिकं वस्तु यस्य, अतएव विगतरागद्वेषमोहः, पुनः कीदृशः? कूर्म इव इन्द्रियेषु गुप्तः यथा कच्छपः चतुर्भिः पादैः ग्रीवापंचमैश्च कदाचिद्गुप्तो-भवति, एवं साधुरपि इन्द्रियाण्याश्रित्य गुप्तो भवति। जात्यकाञ्चनमिव जातरूपो रागादिद्रव्यनाशात् लब्धस्वरूप इत्यर्थः, पद्मदलमिव निरुपलेपः-भोगगृद्धि-लेपरहितः, चन्द्र इव सौम्यतया पाठान्तरे सौम्यभावतया अनुपतापकत्वेन स्वपरेषामपि शीतत्वात्, सूर्य इव दीप्ततेजास्तपस्तेजोयुक्तत्वात्, अचलो-निश्चलः परीषहादिभिः यथा मंदिरगिरिवरो मेरुरित्यर्थः, अक्षोभः-क्षोभवर्जितः औत्सुक्याभावात् सागर इव स्तिमितः लोलताकल्लोलरहितत्वात्, पृथिवीवत्सर्वस्पर्शसहः-शुभाशुभस्पर्शेषु समचित्त इत्यर्थः, तपसाऽपि च हेतुभूतेन भस्मराशिवत् यथा भस्मच्छन्नो वह्निरंतर्ज्वलति बहिः छन्नो भवति तथा(थैव) श्रमणशरीरं तु बहिस्तु म्लानं अन्तस्तु शुभलेश्यया दीप्यमानं भवति, ज्वलितहुताशन इव तेजसा ज्वलन् भाति, श्रमणपक्षे तेजो-ज्ञानं भावतमोनाशकत्वात्, गोशीर्षचन्दनमिव शीतलो मनःसन्तापोपशमकत्वात्, सुगन्धिश्च शीलसौगन्ध्यात्, उदकतट इव-ह्रद इव सम एव समिकः स्वभावो यस्य स तथा, यथा वाताभावे ह्रदः समो भवति अभितस्त उन्नत जलोपरि-

पञ्चम संवरद्वारे परिग्रह विरत विशेषणानि

॥९५॥

सुद्धभावे, सोंडीरे कुंजरोव्व, वसभेव्व जायथामे, सीहे वा जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे, सारयसलिलं व सुद्धहियये, भारंडे चेव अप्पमत्ते, खग्गिविसाणं व एगजाते, खाणुं चेव उड्डकाए, सुन्नागारेव्व अप्पडिकम्मे, सुन्नागारावणस्संतो निवायसरणप्पदीपज्झाणमिव निप्पकंपे, जहा खुरो चेव एगधारे, जहा अही चेव एगदिट्ठी, आगासं चेव निरालंबे,

भाव इत्यर्थः, उद्घृष्टं सुनिर्मलं आदर्शमंडलमिव प्रगटभावेन निर्मायतया–अनिगूहितभावेन सुस्वभावः–शोभनस्वरूपः शुद्धभावश्चेति, शौण्डीरः–शूरः कुंजर इव पराभवसैन्यापेक्षया परीषहसहने आरंभटगतः, वृषभवत् जातस्थामा अंगीकृते महान् जातसामर्थ्यः, सिंहवत् यथा मृगाणां दुःप्रधर्ष्यः तथा साधुः परीषहमृगाणां दुर्द्धर्षः मृगाधिप इति विशेषणं स्वरूपप्रतिपादनार्थं मृगाणां दुष्प्रधर्ष्यत्वं तथा शृगाला परीषहास्तेषां दुष्प्रधर्ष्यं साधुनामेवेति गम्यं, शारदसलिलवत् शुद्धहृदयः, यथा शारदं जलं निर्मलं तथा साधुरपि शुद्धहृदयः, यथा भारण्डाभिधानः पक्षी अप्रमत्तश्चकितो भवति, खड्गी–आटव्यपशुविशेषः तस्य मस्तके एकशृङ्गो भवति तद्वद्रागादिसहायैः रहितत्वादेकीभूतः, स्थाणुरिव उर्ध्वकायः कायोत्सर्गवेलायां, शून्यागारं यथा केनापि यथा न संमार्ज्यते न समरी इति भावः तद्वत् शरीरे अप्रतिकर्मा, पुनः कीदृशः ? शून्यापणस्य चांतर्मध्ये वर्तमानं किमिव किंविध इत्याह–निर्वातशरणं प्रदीपध्यानमिव–वातवर्जितं गृहदीपज्वलनमिव निष्प्रकंपः–दिव्याद्युपसर्गेऽपि शुभध्याननिश्चलः, यथा क्षुरः एकधारो भवति एवं मुनिरपि उत्सर्गलक्षणे एकधारो चरति, यद्यप्यपवादमार्गः सेव्यते तथाप्युत्सर्गमाश्रयर्धमेवेति कृत्वा, अथवा मूलगुणसाधनमुत्सर्गः उत्तरगुणावलंबनमपवादः इत्यपि, यथा अहिः एकदृष्टिः पन्नगः एवं साधुर्मोक्षसाधने नैकदृष्टिः, यथा आकाशं निरालंबनं न किञ्चिदालंबनं एवं साधुर्ग्रामनगरदेशकुलाद्यालंबनरहित

विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के, कयपरनिलए जहा चेव उरए, अप्पडिबद्धे अनिलोव्व, जीवोव्व अप्पडिहयगती, गामे गामे एकरायं नगरे नगरे य पंचरायं दूइज्जंते य जितिंदिए, जितपरीसहे, निब्भओ विऊ सचित्ताचित्तमीसकेहिं दव्वेहिं विरायं गते, संचयातो विरए, मुत्ते, लहुके, निरवकंखे, जीवियमरणासविप्पमुक्के निस्संधं निव्वणं चरित्तं धीरे काएण फासयंते, अज्झप्पज्झाणजुत्ते, निहुए, एगे चरेज्ज धम्मं।

इत्यर्थः, यथा विहगः-पक्षी सर्वतो विप्रमुक्तः एवं साधुरपि परिग्रहनिर्मुक्तः तथा परकृतनिलयः, तथा उरगः-सर्पः परकृते बिले वसति तथा साधुरपि परकृता वसतिराश्रयते, तथा वायुरिव यथा अनिलो वायुः प्रतिबंधरहितो भवति तथा साधुरपि प्रतिबंधरहितः, यथा जीवः अप्रतिहतगतिः-अवारितगमनागमनस्तथा साधुरपि अप्रतिबंधविहारः, कया रीत्या तदाह-ग्रामे ग्रामे एकरात्रं यावत् नगरे नगरे च पंचरात्रं दूइज्जंतेवि-विचरन् इत्यर्थः एतच्च भिक्षाप्रतिमापन्नसाध्वपेक्षया सूत्रं ज्ञेयं कुत एवंविधोऽसौ ? इत्याह

जितेन्द्रियः-वशीकृतइन्द्रियग्रामः, जितपरीषहः, निर्भयो-भयरहितः,विद्वान्-गीतार्थः पाठान्तरे विशुद्धो-निरतिचारः, पुनः कीदृशः ? सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्येषु विरागतां गतः संचयात् विरतः, मुक्त इव मुक्तः निर्लोभ इत्यर्थः, लघुकः गौरवत्रयत्यागात्, निर्गतकांक्षः-कांक्षावर्जितः, जीवितमरणयोः आशंसा वाञ्छा तया विप्रमुक्तः, निःसंधिः चारित्रपरिणामव्यवच्छेदाभावात् निःसन्धिानम्, निर्व्रणं-निरतिचारं चारित्रं यस्य स तथा, धीरो-बुद्धिमान् धियं ईरयति इति धीरः-अक्षोभ्यो वा, कायेन-कायक्रियया न मनोरथमात्रेण स्पृशन्, सततं-निरन्तरं अध्ययनेन आत्मध्यानयुक्तः यः स तथा, निभृतः-उपशांतः निश्चलो वा, एको-रागादिसहाया- ॥९६॥

इमं च अपरिग्गहवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेचाभाविकं, आगमेसिभद्दं, सुद्धं, नेयाउयं, अकुडिलं, अणुत्तरं, सव्वदुक्खपावाण विओसमणं,

तस्स इमा पंच भावणाओ चरिमस्स वयस्स होंति परिग्गहवेरमणरक्खणट्ठयाए-पढमं सोइंदिएण सोचा सद्दाइं मणुन्नभद्दगाइं, किं ते ?,वरमुरय-मुइंग-पणव-दद्दुर-कच्छभि-वीणा-विपंची-वल्लकि-वद्धीसक-सुघोस-

भावान्, चरेद्-अनुपालयेत्, धर्म-चारित्रलक्षणमिति, इमं पूर्वोक्तं सर्वं परिग्रहविरमणव्रतपरिरक्षणार्थं, प्रवचनमार्ग-प्रावचनिकं, भगवता-श्रीमहावीरेण सुष्ठु-शोभनतया कथितं उपदेशितम्, आत्मने हितं-पथ्यमिव, प्रेत्य-परलोके परमभावोपेतं, आगामिकाले भद्रमिव कल्याणकारी, शुद्धं-निर्दोषं, न्यायोपपन्नम्, अकुटिलं-ऋजु, अनुत्तरं-प्रधानं, सर्वदुःखपापानाम् उपशमनम्।

तस्य-परिग्रहविरमणव्रतस्य इमा-अग्रे वक्ष्यमाणाः पंचसंख्याका भावनाः-वासनारूपाः चरिमं-अन्तिमं यद्व्रतं तस्य भवन्ति परिग्रहविरमणरक्षणार्थम् पश्चानां मध्ये प्रथमं-भावनावस्तु शब्दनिःस्पृहत्वं नाम, तचैवं श्रोत्रेन्द्रियेण-कर्णेन कृत्वा[श्रुत्वा] शब्दान्-भाषापर्याप्तिनिर्गतवर्णान्, मनोज्ञाः-मनोरमाः संतो ये वद्भद्रकास्तान् के ते शब्दास्तानाऽऽह-वरा-प्रधानाः ये मुरजाः-महामर्दलाः अङ्कयआलिंग्यभेदात्, मृदंगाः-लघुमर्दलाः हरीतक्याकाराः,पणवाः-लघुपटहाः, दर्दुराः-मृण्मयाः पटहाः चर्मावनद्धमुखकलशीकाः,कच्छभीवाद्यविशेषः, वीणा विपंची वल्लकी सर्वेऽपि वीणाभेदाः, परं तन्त्रीणां विशेषाः, वद्धीसकं-वाद्यविशेषं, सुघोषा-घंटाविशेषः, नंदिका-द्वादशतूर्यनिर्घोषः,तानि चामूनि-भंभा मउंद मद्दल हुड्डुक तिलमा य कुरड कांसाला काहल वीणा वंसो शंखो पणवो

नदि-सुसरपरिवादिणि-वंस-तूणक-पव्वक-तंती-तल-ताल-तुडिय-निग्घोसगीयवाइयाइं। नड-नट्टक-जल्ल-मल्ल-मुट्ठिक-वेलंबक-कहक-पवक-लासग-आइक्खक-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिय-तालायर-पकरणाणि य बहूणि महुरसरगीतसुस्सराति। कंची-मेहला-कलाव-पत्तरक-पहेरक-पायजालग-घंटिय-खिंखिणि-रयणोरुजालिय, छुद्दिय-नेउर-चलणमालिय-कणगनियलजालभूसणसद्दाणि। लीलचंकम्ममाणाणूदीरियाइं तरुणीजण-

य यारसमो१ इति, सुसरपरिवादिनी-वीणाविशेषः, वंशो-वेणुः, तूणको-वाद्यविशेषः, पर्वकोप्येवमेव तन्त्री-वीणाविशेषः, तला-हस्ततालाः, तालाः-कांसिकाः, एतान्येव त्रुटितानि वाद्यानि तेषां यो निर्घोषः शब्दः, तथा गीतं-गेयं, वादितं च-वाद्यं सामान्यमिति द्वन्द्वः ततस्तान् श्रुत्वा इति योगः, तथा नट-नर्त्तक-जल्ल-मल्ल-मौष्टिक-वैडंबक-कथक-प्लवक-लासग-आइक्खग[आख्यायक]-लंख-मंख-तूणइल्ल-तुंबवीणिक-तलचराद्याः पूर्वं व्याख्यातार्थाः, तैः प्रक्रियन्ते-क्रियन्ते यानि नटादिप्रकर्षेण करणानि-अंगविक्षेपादीनि, बहूनि-अनेकानि, मधुरस्वराणां-कलध्वनीनां गायकानां यानि गीतानि सुस्वराणि तानि श्रुत्वा श्रमणेन न सक्तव्यमिति योगः। केषां केषां शब्दास्तेषां नामान्याह-काञ्ची-कट्याभरणविशेषः, मेखलापि तस्यैव भेदः, कलापको-ग्रीवाभरणं,प्रतरकाणि-आभरणविशेषानि, पहेरकश्च-आभरणविशेषः, पादजालकं-पादाभरणं, घंटिका-महत्तमघुर्घुर्यः, किंकिण्यः-क्षुद्रघंटिकाः, रयणत्ति-रत्नसंबंधी उर्व्वोः-वृहज्जंघयोः जालं गत्तचया, छुद्दियत्ति-लघुकिंकणीरूपं, नूपुरं-पादाभरणम्, चालनकमालनकमपि तथैव पादाभरणं लोके "अंगूथली"इत्यादि भाषारूपं वा, कनकं-स्वर्णं. तन्मयनियल[डः]-पादाभरणविशेषः तस्य जालकं-समूहः, एतान्येव भूषणानि तेषां ये

१ विष्वाक इति भाषा

हसियभणियकलरिभितमंजुलाइं गुणवयणाणि व बहूणि महुरजणभासियाइं अन्नेसु य एवमादिएसु सद्देसु मणुन्नभद्दएसु ण तेसु समणेण सज्जियव्वं, न रज्जियव्वं, न गिज्झियव्वं, न हसियव्वं, न मुज्झियव्वं, न विनिग्घायं, आवज्जियव्वं, न लुभियव्वं, न तुसियव्वं, न सइं च मइं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि सोइंदिएण सोच्चा सद्दाइं अमणुन्नपावकाइं, किं ते ?, अक्कोस-फरुस-खिसण-अवमाणण-तज्जण-निब्भंछण-

शब्दाः ते तथा, तत्किंभूतानि इत्याह ? लीलया चंक्रम्यमाणानां-हेलया कुटिलगमनं कुर्वाणानां उदीरितान्-संजातान् लीलामंथरगमन जनितान् इत्यर्थः,पुनस्तरुणीजनस्त्रीजनः तेषां हसितानि-रिभितानि-भणितानि माधुर्यविशिष्टध्वनिविशेषरूपाणि, कलरिभितानि-कलरतिस्वरघोलनावंति, मंजुलानि-मनोहराणि तानि, तथा गुणवचनानि-स्तुतिवादाँश्च, बहूनि-प्रचुराणि, मधुरजनभाषितानि-इष्टजनभणितानि, अन्यान्यपि-उक्तव्यतिरिक्तानि अपि इष्टानि,इत्यादि बहुप्रकारास्तेषु-शब्देषु, मनोज्ञभद्रकेषु,न-निषेधे, तेषु शब्देषु श्रमणेन-साधुना न सक्तितव्यं-आसंगतया न भाव्यम्-न भवितव्यम् ,तेषु रागो न कार्यः न रंजितव्यं,न गर्द्धितव्यं-अप्राप्तेषु वाञ्छा न कार्या, न हासो विधेयः-विस्मयेनेति कृत्वा, न मोहितव्यं तद्विपाकविचारे मूढतया न भवितव्यम्, तदर्थं आत्मनः परेषां वा विनिघातो न विधेयः तदर्थं न केषाञ्चिद्प्यावर्जनं कार्यं, तल्लाभे लोभो-मूर्च्छा नो विधेयः, न तोष्टव्यं-तत्प्राप्तौ तोषो न विधेयः, न स्पर्शति वा स्मरणं तद्विषये मतिं च तत्र-शब्देषु शुभेषु कुर्यात्। पुनरपि प्रकारान्तरेणाह-अन्यदप्युच्यते इत्यर्थः, श्रोत्रेन्द्रियेण श्रुत्वा शब्दान् अमनोज्ञान् पापकान् अशुभान् के ते इत्याह ? तद्यथा आक्रोशो-म्रियतां स्तेय(न)स्त्वमित्यादिरूपः, परुषः-रे मुण्ड इत्यादिरूपः, खिसनं-निन्दनं अश्लीलोऽसीत्यादिरूपं, अवमानना-अपूजा वंचनं गूथादिमया मलिना तथा तर्जना-ज्ञास्यसि रे अग्रे इति, निर्भर्त्सनं-मे दृष्टिपथादपसर,

दित्तवयण-तासण-उक्कूजिय-रुन्न-रडिय-कंदिय-निग्घुट्ठरसिय-कलुण-विलवियाइं अन्नेसु य एवमादिएसु सद्देसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं, न हीलियव्वं, न निंदियव्वं, न खिंसियव्वं, न छिंदियव्वं, न भिंदियव्वं, न वहेयव्वं, न दुगुंछावत्तियाए लब्भा उप्पाएउं, एवं सोतिंदियभावणाभावितो भवति अंतरप्पा मणुन्नाऽमणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसप्पणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडे पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्मं १।

दीप्तवचनं-रूसणवचनं-कोपवाक्यं, त्रासनं-भयकारिवाक्यम्, उत्कूजितं-अव्यक्तमहाध्वनिकरणम्, रुदितं-अश्रुविमोचनेन "रुन्नं" रोदनं मय(ह)च्छब्देन, क्रन्दितं-आक्रन्दनं-इष्टवियोगादौ, निर्घुष्टरसितम्-निर्घोषरूपं शृगालशूकरादिवत् फूत्कारः, कलुणम्-करुणोत्पादकम्, विलपितम्-आर्त्तस्वररूपम्, एतेषां द्वन्द्वस्ततस्तानि श्रुत्वा, अन्येषु इत्येवमादिकेषु शब्देषु अमनोज्ञेषु अतएव पापकेषु-अशुभेषु श्रमणेन-साधुना "न"-निषेधे रोषितव्यं-क्रोधो न उत्पादनीयः, न हीलितव्यं-नावज्ञा कार्या, न निंदना(दितव्यं)-न निंदा कार्या स्वचित्ते न गर्हा कार्या लोकसमक्षम्, न खिंसा अमनोज्ञा एते इत्यादिरूपा(कार्या), न छिंदितव्यं न द्रव्यच्छेदः कार्यः, न भेदो विधेयः, अथवा न भेत्तव्यम्, न वधस्तन्नाशः कार्यः, अथवा तेभ्यो भयं प्राप्य ते न हातव्याः, न जुगुप्सावृत्तिका लभ्या-उत्पादयितुं जनयितुं वा संज्ञादिनाऽपि इत्यर्थः, निगमयन्नाह प्रथमां भावनामिति, एवं श्रोत्रेन्द्रियविषया भावना भावितो भवति अंतरात्मा-जीवः मनोज्ञाऽमनोज्ञाभ्यां ये शुभाशिशुभाऽशुभाः शब्दाः इति गम्यते तेषु क्रमेण यो रागद्वेषः तयोर्विषये प्रणिहितः-संवृत्तः आत्मा यस्य स तथा साधुः निर्वाणसाधनपरः, मनोवचनकायगुप्तः, संवृत्तः-संवरवान्, पिहितेन्द्रियः-निरुद्धहृषीकः, प्रणिहितेन्द्रियो निश्चलेन्द्रियः संयमविषये, एतादृशः सन् धर्मं-संवरधर्मं चरेत् साधुः-मुनिः ॥ इति प्रथमा भावना ॥१॥

बितियं चक्खिंदिएण पासिय रूवाणि मणुन्नाइं भद्दकाइं सचित्ताचित्तमीसकाइं कट्ठे, पोत्थे य, चित्तकम्मे लेप्पकम्मे, सेले य, दंतकम्मे य, पंचहिं वण्णेहिं अणेगसंठाणसंठियाइं, गंठिमवेढिमपूरिमसंघातिमाणि, य मल्लाइं बहुविहाणि य अहियं नयणमणसुहकराइं, वणसंडे पव्वते य गामागरनगराणि य खुद्दिय-पुक्खरिणि-वावी-दीहिय-गुंजालिय-सरसर पंतिय-सागर-बिल पंतिय-खादिय-नदी-सर-तलाग-वप्पिणीफुल्लुप्पलपउम-

द्वितीयं भावनावस्तु चक्षुरिन्द्रियसंवरो नाम तद्यैवं-चक्षुरिन्द्रियेण दृष्ट्वा रूपाणि नरयुग्मादीनि मनोज्ञभद्रकाणि-मनोहरशुभकानि सचित्ताचित्तमिश्रकानि तेषु इत्याह क क स्थाने काष्ठे-पुत्तलिकादौ, पुस्तिका-पुस्तके, चित्रकर्म प्रतीतम् तस्मिन्, लेप्यकर्मणि-मृत्तिका (या) भित्त्यादौ वा, शैले-पाषाणे, दंतकर्मणि तत्र किंभूते इत्याह, रूपनिर्माणक्रियायां पंचभिर्वर्णैः युक्तानीति गम्यम्, तथाऽनेकसंस्थानसंस्थितानि, ग्रन्थिमं-ग्रथनेन निष्पन्नम् मालावत्, वेष्टिमं-वेष्टनेन जातं निभृतकुसुमं गेन्दुकवत्, पूरिमं-वंशपूरितं शोतकुसुममालवत् संघातिमं-समूहेन निष्पन्नं इतरेतरनिवेशितमालावत् एतेषां द्वन्द्वः, एभिः प्रकारैः निर्मितानि यानि माल्यानि मालासु साधितानि पुष्पाणि बहुविधानि-अनेकप्रकाराणि अधिकतराणि नयनमनसां सुखकराणि यानि तथा तानि, वनखंडानि पर्वताश्च[तान्] ग्रामाकर नगराणि प्रतीतानि, क्षुद्रिका-जलाशयविशेषः परं लघुको, पुष्करिणी-पुष्करवती चतुःकोणा वा, वापी-वर्तुला चतुःकोणाऽपि, दीर्घिका कूपाकारा ऋजुसारिणी, गुंजालिका-वक्रायतसारिणी वा, सरः खात-अखात-सरोवरादि सरसरपङ्क्तिका एकस्मात् सरसः अन्यत् सरः सरःसरःपङ्क्तिका, सागरः-समुद्रः, धातुखानिपद्धतिः-बिलपङ्क्तिका-खातिका-वप्रगर्ता, नदी-निम्नगा, सरः-स्वभावजो जलाशयविशेषः, तडागः कृतकं कासारं, वप्पिणीत्ति केदारः एतेषां पदानां द्वन्द्वः, किंभूतान्, फुल्लै-विकसितैः उत्पलैः-नीलोत्पलादिभिः पद्मैः-सामान्यैः

पडह्ल-कुज्ज-पंगुल-वामण-अंधिल्लग-एगचक्खु-विणिहय-सप्पिसल्लग-वाहिरोगपीलियं विगयाणि य मयकक-

पादादौ काठिन्यं यदुक्तं "प्रकुपिता वातपित्तश्लेष्माऽधोऽधः प्रपन्नाः, वक्षोरुजंघास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरे पादमाश्रित्य शनैः शनैः शोफमुपजनयति(न्ति) यत्तत् श्लीपदमेव वक्ष्यते"।

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः। ये देशास्तेषु जायन्ते, श्लीपदानि विशेषतः ॥१॥

पादयोर्हस्तयोर्वापि जायते श्लीपदं नृणाम्। कर्णोष्ठनासास्वपि च, क्वचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥२॥

कुब्जः पृष्ठादौ पंगुलः-चंक्रमणाऽसमर्थः, वामनः-ह्रस्वसर्वशरीरः एते च मातापितृशुक्रशोणितदोषोद्भवाः कुब्जवामनकादयो भवन्ति। उक्तं च—गर्भेवातप्रकोपेण दोहदे वाऽपमानिते। भवेत् कुब्जः कूणिः पंगुर्मूको मन्मन एव वः ॥१॥ इति।

तथा अंधेल्लगत्ति-अंध एव अंधिलको जात्यंधः, एकचक्खुत्ति-काणः, एतच्च दोषद्वयं गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च, तत्तु गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धकत्वं कुरुते तदेकाक्षिगतं काणत्वं विधत्ते तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतश्च(तं च) शुक्लाक्षमित्यादि ज्ञेयम्। विणिहयत्ति-विनिहतचक्षुरित्यर्थः तत्र यज्जातस्य चक्षुर्विहनेन अंधत्वं काणत्वं वा दर्शितम्। सप्पिसल्लगत्ति-सह पिसल्लकेन-पिशाचेन वर्त्तते यः स तथा ग्रहगृहीत इत्यर्थः, अथवा सर्पतीति सर्पी पीठसर्पी स च गर्भदोषात्कर्मदोषाद्भवति, स किल पाणिगृहीतकाष्ठः सर्वत्रातिशल्यकस्तब्धपुरुषाकार इत्यर्थः शल्यवान् शूलादिभिन्न इत्यर्थ। व्याधिना-विशिष्टपीडया चिरस्थायी(यि) गदेन वा, रोगेण वा सद्योघातिगदेन वा पीडितो यः स तथा। विगतानि मृतककलेवराणि, सकिमिण- ॥१००॥

"राफो" इति भाषा

लेवराणि सकिमिणकुहियं च दव्वरासिं अन्नेसु य एवमादिएसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव न दुगुंछावत्तियावि लब्भा उप्पातेउं, एवं चक्खिदियभावणाभावितो भवति अंतरप्पा जाव चरेज धम्मं २।

ततियं घाणिंदिएण अग्घाइय गंधातिं मणुन्नभद्दगाइं; किं ते?, जलयर-थलयर-सरस-पुप्फफल-पाण-भोयण-कुट्ठ-तगर-पत्त-चोददमणक-मरुय-एलारस-पक्कमंसि-गोसीस-सरसचंदण-कप्पूर-लवंग-अगर-कुं-

कुहियत्ति-सहकृमिभिर्यः कुथितश्च, तथा द्रव्यराशिं पुरीषादिदुगंछितद्रव्यसमूहं दृष्ट्वा तेषु-गंड्यादिपदसमुदायेषु, अन्येषु-एवमादिरूपेषु अमनोज्ञपापकेषु तेषु श्रमणेन न रोषितव्यं यावत् करणात् न हीलितव्यमित्यादीनि पदपदानि न जुगुप्साप्रत्यिकाऽपि लभ्या उत्पादयितुं शुचिना योगेनेत्यर्थः, एवमनुनाप्रकारेण चक्षुरिन्द्रियभावनाभावितो भवति। अंतरात्मा जीवः यावत् स साधुर्धर्मं चरेत्-आसेवते इति द्वितीया भावना २॥

अथ तृतीयामाह-घ्राणेन्द्रियेण आघ्रातुं योग्यानि यानि द्रव्याणि मनोज्ञानि भद्रकाणि-घ्राणमनोनिर्वृतिकराणि कानि तानि तद्यथा--जले जातानि जलजानि, स्थले जातानि-स्थलजानि, सरसानि-आर्द्राणि, पुष्पफलपानभोजनानि प्रतीतानि, कुष्ठं-गंधद्रव्यं, तगर(१) गन्धद्रव्यविशेषः, पत्रं-तमालपत्रम्, चूयंत्ति-सर्वसुगंधद्रव्यविशेषः, दमणकः पुष्पजातिविशेषः, मरूकः[३] प्रतीतः, एलारसः-सुगन्धिफल विशेषरसः,पक्कमंसी-असंस्कृता मांसी-गन्धद्रव्यविशेषः, गोशीर्षाभिधानं यत् चन्दनं सरसं-आर्द्रं यत् चंदनं-श्रीखण्डं, कर्पूरः-घनसारः

१ 'कोट्ठ' इति भाषा। २ 'चूया' इति भाषा.। ३ 'मरुओ इति भाषा।

म-कक्कोल-उसीर-सेयचंदण-सुगन्धसारंग-जुत्तिवरधूववासे उउयपिंडिम-णिहारिमगंधिएसु अन्नेसु य एवमादिसु गंधेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव न सतिं च मइं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि घाणिंदिएण अग्घातिय गंधाणि अमणुन्नपावकाइं किं ते?, अहिमड-अस्समड-हत्थिमड-गोमड-विग-सुणग-सियाल-मणुय-मज्जार-सीह-दीविय-मयकुहिय-विणट्ठकिविण-बहुदुरभिगंधेसु अन्नेसु य एवमादिसु गंधेसु अम-

लवंगानि प्रतीतानि, अगुरु-दारुविशेषः कृष्णादिबहुभेदतः, कुंकुमं-काश्मीरजं केशरं, कक्कोलत्ति-फलविशेषः, ओशीरं-वीरणीमूलं, श्वेतचंदनं-चूर्णवासादिसत्कपडां वास्पंदघट्टनं मलयजं, सुगंधानां-सद्गन्धानां सारंगानां युक्तिः-योजनं येषु ते तथा वरधूपवासेषु ततस्तान् आघ्राय तेषु योगात्, तथा ऋतुजः-स्वस्वकालान्वितः पिण्डिमो-बहुपरिमलत्वेन दूरनिर्यायी-दूरतरादागमनशीलो यो गंधः स विद्यते येषु ते तथा तेषु, अन्येष्वपि च एवमादिकेषु गन्धेषु उक्तानुक्तेषु शुभेषु मनोज्ञेषु भद्रकेषु-प्रधानेषु, रमणीयेषु तेषु-द्रव्यादिकेषु, श्रमणेन साधुना न सक्तव्यं-आसक्तेन न भाव्यम् । यावत् शब्देन सर्वे पूर्वशब्दा ग्राह्या स्वकीयां मतिं च पुनरर्थे तत्र-विषयेषु न कुर्यात्, पुनरपि घ्राणेन्द्रियेण आघ्रातुं योग्यानि यानि गंधानि अमनोज्ञानि-पापकानि कानि तानीत्याह-मृतकानि-जीवनिर्मुक्तानि अहीनां-सर्पाणां मृतकानि, अश्वानां-हयानां मृतकानि, हस्तिनां मृतकानि, गवां मृतकानि, वृका (तेषां) श्वानानां-कुर्कुराणाम् शृगालानां मनुजानां-मनुष्याणां मार्जाराणां सिंहानां द्वीपिनश्चित्रकास्तेषां मृतकानि-जीवरहितानि कुथितानि-द्वीन्द्रियादिजीवोपगतानि विनष्टानि-पूर्वाकारविनाशेन (उत्तराकारं प्राप्तानि), कृमिवंति बहुदुरभिगंधानि या अत्यंत(तं) अमनोज्ञगंधानि यानि तानि तादृशेषु ॥१०१॥

१ वरगडा इति भाषा ॥

पुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं न हीलियव्वं जाव पिहियचाणिंदिए चरेज्ज धम्मं ३ ।

चउत्थं जिब्भिदिएण साइय रसाणि उ मणुन्नभद्दकाइं, किं ते ?, उग्गाहिमविविहपाण-भोयण-गुलकय खंडकय-तेल्लघयकयभक्खेसु बहुविहेसु लवणरससंजुत्तेसु महुमंसबहुप्पगारमज्जिय-निट्ठाणगदालियंब-सेहंब-

---

भाजनेषु अन्येष्वपि-एवमादिकेषु-उक्तानुक्तेषु गंधेषु अमनोज्ञपापकेषु न तेषु श्रमणेन रोषितव्यम्-कोपो न कर्तव्यः, न हीलितव्यः-नक्रादिमोटनेन यावत्करणेन न पिहितघ्राणेनापि भवितव्यम् किन्तु धर्मं चरेत् साम्यभावं चरेत्। इति तृतीया भावना ॥३॥

अथ चतुर्थीभावनामाह-जिह्वेन्द्रियसंवरः एतद्वक्ष्यमाणः जिह्वेन्द्रियेण आस्वाद्य खाद्यरसान् सुमनोज्ञभद्रकान्-स्वादुस्वादुवत्तः कान् तान् इत्याह तद्यथा-अवगाहः-स्नेहबोलनं तेन पाकतो जातं अवगाहिमं-पक्वान्नं-खंडखाद्यादि, विविधं पानं-द्राक्षापानकादि, भोजनं-ओदनं, गुडकयं-गुडसंस्कृतं, खंडकृतं-खंडसंस्कृतं लड्डुकादि, तैलघृतकृतं-अपूपादि भक्ष्यं-भोज्यं आस्वाद्येति संबंधः। तेषु भक्ष्येषु शष्कु(शष्कु)लिकाप्रभृतिषु बहुविधेषु-विचित्रेषु लवणरससंयुक्तेषु "निर्लवणमस्वादु" इति वचनात् मधुमांसे प्रतीते बहुप्रकारा मज्जिका रसाद्वैततया प्रकृष्टमूल्यनिष्पादितं यत् "निट्ठाणंति जा सयसहस्सं"लक्षमूल्य(ल्यं)श्चेति यद्भवति तन्निट्ठाणगं, दालिकाम्लं मरीचराजिकादिना निष्पन्नं, सैन्धाम्लं संधानेन-आम्लिकादिना आम्लीकृतं, तथा दुग्धं दधि च प्रतीतम्, सरको-गुडधातकीपुष्पादिना सिद्धः, मद्यवरः-पिष्टोद्भवः, वारुणी-मदिरापान(नं) सीधुकापिशायनं-संयोजितविशेषद्रव्यमयं तथा शाकं-अष्टादशरसशाकं ततस्तथा ते बहुप्रकारा यस्मिन् एतेषां सर्वत्र कर्मधारयः तेषु शाकाऽष्टादशता त्वेवं—

सुपो१ दणो२ जवन्नं३ तिन्नि य मंसाइ६ गोरसो७ जूसो८ भक्खा९ गुललावणिया१० मूलफला११ हरियगं१२ डागो१३

दुद्ध-दहि-सरयमज्जवरवारुणीसीहुकाविसायणसायट्ठारसबहुप्पगारेसु भोयणेसु य मणुन्न-वन्नगंधरसफासबहुदव्वसंभितेसु अन्नेसु य एवमादिएसु रसेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं जाव न सइं च मतिं च तत्थ कुज्जा, पुणरवि जिब्भिदिएण सायिय रसातिं अमणुन्नपावगाइं, किं ते ?, अरसविरससीयलुक्खणिज्जप्पपाणभोयणाइं

होइ रसालू य१४ तहा पाणं१५ पाणीय१६ पाणगं१७ चेव। अट्ठारसमो सागो१८ निरुवहओ लोइओ पिण्डो ॥२॥

तिम्मेव मंसाइंति-जलचरादिसत्कानि, जूसोत्ति-शुंठी-तंदुल-जीरकदुभांडादिरसः भक्खत्ति-खंडखाद्यादीनि, गुललापनिका-गुलपर्पटिका लोकप्रसिद्धा गुडधाना वा, सूपो-मुद्गादिः, तंदुलजवान्नं, मूलफलमित्येकपदं, हरितकं ति-जीरकादिसंस्कृतं, डागो वस्तुलादिभर्जिकाविशेषः, रसालु त्ति-आम्लमधुरफलादि, मज्जिका देशे आहारविशेषः, पानं-मद्यं, पानीयं-जलं, पानकं-द्राक्षापानकादि, सागोत्ति तत्र प्रसिद्धशाकं, तथा भोजनेषु विविधशालनकेषु च, मनोज्ञवर्णगंधरसस्पर्शनिर्वृतानि, बहुद्रव्यैः संभृतानि-उपस्कृतानि तथा तेषु अन्येष्वपि एवमादिकेषु रसेषु, मनोज्ञभद्रकेषु "न" निषेधे तेषु श्रमणेन-साधुना न सक्तव्यं इति पूर्ववत् योज्यं, तत्र स्मृतिं मतिं न कुर्यात्। तथा पुनरपि जिह्वेन्द्रियेण आस्वाद्य रसान् तथाविधान्-अमनोज्ञान् पापकान् कान् तान् इत्याह-अरसानि-अहार्यरसानि हिंग्वादिभिरसंस्कृतानि इत्यर्थः, विरसानि-पुराणत्वेन विगतरसानि, शीतानि-अनौचित्येन शीतलानि, रूक्षाणि-निःस्नेहानि, निज्जप्पित्ति-निर्याप्यानि निर्बलानि यानि पानभोजनानि तानि, तथा दोसीणत्ति-दोषान्नं-रात्रिपर्युषितं तदपि

१ पल्वेति भाषा

दोसीणवावन्न-कुहिय-पूइय-अमणुन्न-विणट्ठससूय-बहुदुब्भिगंधियाइं तित्तकडुयकसायअंबिलरसलिंडनीरसाइं अन्नेसु य एमादिएसु रसेसु अमणुन्नपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं जाव चरेज्ज धम्मं ४।

पंचमगं पुण फासिंदिएण फासिय फासाइं मणुन्नभद्दकाइं, किं ते?, दग-मंडव-हीरसेयचंदणसीयलविमलजलविविहकुसुमसत्थर-ओसीरमुत्तिय-मुणालदोसिणापेहुणउक्खेवगतालियंटवीयणगजणिय-सुहसीयले य

व्यापन्नं-विनष्टवर्णं, कुथितं-कोथवत्पूतिकं-अपवित्रं गंधतो वा कुथितपूतिकं अन्यानपि कुथितकारकं अतएव अमनोज्ञं-असुन्दरं, विनष्टं-अत्यन्तविकृतावस्थाप्राप्तत्वम्, सप्रसूयत्ति-जीवानां सप्रसूतिर्यत्र, बहुत एतावता त्रसजीव-नीलफूल्यादिसंसक्तं, बहुदुरभिगंधो येन तत्तथा, तिक्तं च निम्बवत्, कटुकं च सुंठयादिवत्, [कषायं-बिभीतकवत्] आम्लरसं तक्रादिवत्, लिंद्रवत्-सशैवलपुराणजलवत्, नीरसं च विगतरसं एतेषां द्वन्द्वः अवस्तानि आस्वाद्य तेष्विति योगः। अन्येष्वपि एवंमादिकेषु रसेषु अमनोज्ञेषु पापकेषु एतेषु "न" इति निषेधे श्रमणेन-साधुना न रोषितव्यं पूर्ववत्। यावत् करणादिदं दृश्यं समताभावतया धर्मं चरेत् वस्तुस्वभावमवगत्य न रोषतोषं कुर्यात् इति चतुर्थी भावना ॥४॥

अथ पंचमकं भावनावस्तु स्पर्शनेन्द्रियसंवरस्तच्चैवं-स्पर्शनेन्द्रियेण यानि स्पर्शयितुं योग्यानि स्पर्शानि तानि स्पृष्ट्वा इति योगः, मनोज्ञानि भद्रकाणि-मनोहराणि कल्याणकारीणि, कानि तानीत्याह-दकमंडपाः-उदकमंडपाः-जलयंत्रस्थानानि, उत्तक्षरणयुक्ताः हीराः निर्झरणाः प्रतीताः, श्वेतचन्दनं-श्रीखंडं, शीतलं-विमलं, निर्मलं जलं-पानीयं, विविधाः-विचित्रप्रकाराः कुसुमानां स्रस्तराः-शयनानि, ओसीरं-वीरणीमूलं, मौक्तिकं-मुक्ताफलानि, मृणालं-पद्मनीलं, दोषायां-रात्रौ भवा दोषीणां(णा)-चन्द्रज्योत्स्ना एतेषां पदानां

पवणे गिम्हकाले सुहफासाणि य बहूणि सयणाणि आसणाणि य पाउरणगुणे य सिसिरकाले अंगारपतावणा य आयवनिद्धमउय-सीयउसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा ते अन्नेसु य एवमादितेसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं [न रज्जियव्वं] न गिज्झियव्वं, न मुज्झियव्वं, न विणिग्घायं आवज्जियव्वं, न लुभियव्वं, न अज्झोववज्जियव्वं, न तूसियव्वं, न हसियव्वं,न सतिं च मतिं च तत्थ कुज्जा,

---

द्वन्द्वः, पेहुणानां-मयूरकानां ये उत्क्षेपका-चंद्रकास्तेषां, तालवृन्तं-वीजनकं एतानि पवनोदीरकानि वस्तुनि (वस्तूनि) तैर्जनिताः-उत्पादिताः सुखाः-सुखहेतवः, शीतलाश्च-शीताः ये ते तथा, तान् पवनान् स्पर्शेति क ? ग्रीष्मकाले-उष्णकाले, अन्यान्यपि सुखस्पर्शानि बहूनि संति तान्याह-शयनानि-शय्यासंस्तराणि, आसनानि-सिंहासनादीनि, प्रावरणगुणाश्च-शीतापहारकादीन् क शिशिरकाले-शीतकाले, अंगारप्रतापनाः-शरीरस्यांगारप्रतापनाः तान्, आतपः-सूर्यतापः, पुनः स्निग्धमृदुशीतलउष्णलघुकाः, आश्रये ऋतुसुखाः-हेमन्तादिकालविशेषे सुखकाराः सुखस्पर्शाः अंगसुखं-शरीरसुखं, निर्वृतिः-मनःस्वास्थ्यम् कुर्वन्ति ये ते तथा तान्, अन्येष्वपि एवमादिकेषु स्पर्शेषु मनोज्ञभद्रकेषु "न" निषेधे तेषु स्पर्शेषु श्रमणेन-साधुना न सक्तव्यं-आसक्ततया न भाव्यं, न गृद्धिः-नित्यं प्राप्त(प्ति) वांछा कार्या, न मूर्च्छा-लब्धेऽपि लोभो न कार्यः, "न" निषेधे तस्मिन्नर्थविशेषे निर्घातं-निर्दयत्वं नावर्जितव्यम्, न लोब्धव्यं-आशंसया न अध्यात्मनि तमेवार्थं उत्पादयितव्यं (न अध्यात्मनि स एवार्थ उत्पादयितव्यः) न तोषितव्यं -संतोष्टव्यं सम्यग्ज्ञातमिति, हास्यो न कार्यः विस्मयतया, न स्वकीयां मतिं तत्र कुर्यात्, तथा पुनरपि स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शितस्पर्शान् ॥१०३॥
प्रति अमनोज्ञपापकानि कानि तानीत्याह-अनेको-बहुविधो वधो-यष्ट्यादिभिः, बंधो-रज्ज्वादिभिः, ताडनं-चपेटादिना, संयमनं-

पुणरवि फासिंदिएण फासिय फासार्ति अमणुन्नपावकाइं, किं ते ?, अणेगवध-बंध-तालणंकण-अतिभारारोवणए अंगभंजण-सूतीनखप्पवेस-गायपच्छण-लक्खारसखारतेल्लकलकलंत-तउअसीसककाललोहसिंचण-हडियंधण रज्जुनिगल-संकलहत्थंडुय-कुंभिपाकदहण-सीहपुच्छण-उव्वंधण-सूलभेय-गयचलणमलण-करचरणकन्ननासोट्ठसीसछेयण-जिब्भछेयणवसणनयणहिययदंतभंजण-जोत्तलयकसप्पहार-पादपण्हिजाणुपत्थरनिवायपील-णकविकच्छुअगाणि विच्छुयडक्कवायातवदंसमसकनिवाते दुट्ठणिसज्ज-दुन्निहिया-दुब्भिककक्खड-गुरुसीयउसि-

संयमनं वधो-विनाशः, अंकनं-तप्तायःशलाकया अंककरणं.अतिभारारोपणं-शक्तिमनपेक्ष्य भारक्षेपणं, अंगभंजनम्-शरीरावयवमोटनम्, नखेपु सूचीनां प्रवेशो यः स तथा, तथा गात्रस्य-शरीरस्य प्रक्षरणं केन कृत्वेत्याह? त्वक् छेदादिना लाक्षारसेन, क्षारेण, तैलादिना, कलकलशब्दं यत् करोति तत्कलकलं-अतितप्तमित्यर्थः तेन त्रपुणा, सीसकेन-काललोहेन यत् सिंचितं-निषेचनं तत्तथा, हडिबंधनं-खोडकक्षेपः, रज्ज्वा निगडैः सङ्कलनं हस्तांडुकेन यानि बन्धनानि तथा कुंभ्यां-भाजनविशेषे पाकः-पचनं, दहनं अग्निना, सिंह-पुच्छने बद्ध्वा उत्पाटनं, उद्बन्धनं वृक्षादौ, शूलिका शूलप्रोतनं, गजचरणेपु लोलनं-मलनम्, कर्णनासौष्ठशीर्षच्छेदनं च प्रतीतम्, जिह्वाच्छेदनं-जिह्वाकर्षणम्, वृषणकर्षणम्, नयनोत्पाटनम्, हृदयकर्षणम्, दंतानां यद्भंजनमामर्दनम्, योत्रे-युपे वृपभाणां संयमनं, लता-कंबा-कसा(शा)-वाघ्रमयी रज्जुः तस्याः येषां ये प्रहाराः, पादपार्ष्णिः-घुंटिकाधः, जानुः, प्रस्तराः-पाषाणाः येषां यो निपातः पतनं स तथा, (यन्त्रैः) पीडनं-यन्त्रपीडनं, कपिकच्छुः-तीव्रकंडुतिकारकः फलविशेषः, अग्निः-वह्निः, वृश्चिकदंशो वा, वातातपदंशम-

१ दशकला इति भाषा

णलुक्खेसु बहुविहेसु अन्नेसु य एवमाइएसु फासेसु अमणुन्नपावकेसु न तेसु समणेण रूसियव्वं, न हीलियव्वं, न निंदियव्वं, न गरहियव्वं, न खिंसियव्वं, न छिंदियव्वं, न भिंदियव्वं, न वहेयव्वं, न दुगुंछावत्तियव्वं च लब्भा उप्पाएउं, एवं फासिंदियभावणाभावितो भवति अंतरप्पा। मणुन्नामणुन्नसुब्भिदुब्भिरागदोसपणिहियप्पा साहू मणवयणकायगुत्ते संवुडेणं पणिहितिंदिए चरेज्ज धम्मं ५।

पञ्चम संवरद्वारे पञ्चमी भावना

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ सुप्पणिहियं इमेहिं पंचहिंवि कारणेहिं, मणवयकायपरिरक्खिएहिं

सकनिपातश्चेति द्वन्द्वस्ततस्तान् स्पृष्ट्वा, दुष्टनिषद्या-क्षुद्रासनानि, दुर्निषीधिकाः-कष्टस्वाध्यायभूमिः ताः स्पृष्ट्वा तेषु, कर्कश-गुरु-शीतोष्ण-रूक्षेषु बहुप्रकारेषु अन्येष्वपि एवमादिकेषु प्रकारेषु अमनोहरपापकारिषु श्रमणेन-मुनिना "न" निषेधे तेषु रोषितव्यं क्रोधात्मना वाच्यं, न हीलितव्यं, न निंदितव्यं, न गर्हितव्यं, न खिंसितव्यं, न छेदितव्यं, "न" निषेधे तान् वधेतव्यं (हन्तव्यम्) न दुगंछावृत्तिर्जुगुप्सा उत्पादयितुं (न दुगंछावृत्तिर्जुगुप्सा उत्पादयितव्या) लभ्या, एतेषामष्टानां पदानामर्थः पूर्वभावनया व्याख्यातः, एवमुक्तरीत्या स्पर्शनेन्द्रियभावनाभाविता वासिता भवति।

अन्तरात्मा जीवः मनोज्ञ(ज्ञे) अमनोज्ञ(ज्ञे) सुष्ठुतया दुष्ठुतया रागद्वेषप्रणिधिनः(ना) अस्थापित आत्मा यस्य स एतादृशः साधुरनागारः मन(नो)वचनकायगुप्तेन-गुप्तित्रयतत्परेण सुसंवृतेन-शान्तिभूतेन्द्रियेण, पिहिताश्रवद्वारेण धर्म-संयतधर्मं चरेत् पंचमी भावना॥५

अथ पंचमभावनानिगमनं इह पंचमसंवरः। शब्दादिषु रागद्वेषनिरोधनं यद्भावभाविस्तेनोक्तं तत्तेषु तदनिरोधः परिग्रहः स्यादिति ज्ञेयं अतएव परिग्रह एव विरमणं व्रतं तस्य रक्षणार्थं इति सर्वत्र भाव्यं यदाह जे सद्दरूवरसगंधमागए फासे य ॑ प ॥१०४॥

निचं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो धितिमया मतिमया। अणासवो, अकलुसो, अच्छिद्दो, अपरिस्सावी, अ-संकिट्ठोलि, सुद्धो, सव्वजिणमणुन्नातो, एवं पचमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं अणुपालियं आणाए आराहियं भवति, वायणंतरे पुण एयाणि पंचावि सुव्वय महव्वयाणि लोकधिइकराणि, सुयसागरदे-सियाणि संयमसीलव्वयसच्चज्जवमयाणि, नरयतिरियदेवमणुयगइविवज्जयाणि, सव्वजिणसासणाणि, कम्मरय-वियारकाणि, भवसयविमोयगाणि, दुःक्खसयविणासकाणि, सुक्खसयपवत्तयाणिकापुरुपसुदुरुत्तराणि सप्पु-रिसजणतीरियाणि, निव्वाणगमणजाणाणि कहियाणि सग्गपवायकाणि पंचावि महव्वयाणि कहियाणि।

पावए। गेही पओसं न करेज्ज पडिए स होति दंते विरले अकिंचणे त्ति एवमिदं पंचमसंवरद्वारं सम्यक् प्रकारेण संवृतं भवति, सुष्ठु-शोभनतया प्रणिहितं-स्थापितं एभिः पंचभिः कारणैः-भावनाकरणभूतैः, मनोवाक्कायपरिरक्षितेन आत्मना नित्यं-सदा आमरणान्तं-जन्मावधि यावत् एषः योगो नेतव्यः-प्राप्तव्यः केनेत्याह-धृतिमता मतिमता मुनिना पुनर्धृतिमता-धैर्यवतैव अना-श्रवः-संवर(रः) कथितः इति गम्यं। अकलुषः-निर्मल(लः) रजोरहितः, अच्छिद्रः-न कोऽपि दोषावकाशः, अपरिस्रावी सकलगुणधारक-त्वात् सदाशयविशुद्धः अतएव असंक्लिष्टपरिणामः, ततः शुद्धः-निर्दोषः, सर्वजिनैः-सर्वतीर्थकरैः, अनुज्ञातः-आसेवितः कथितश्च, एवम्-अमुना प्रकारेण पंचमं संवरद्वारं-परिग्रहविरमणलक्षणं "पंचमेति संख्यापूरणे मट्"इति पश्चापि संवरद्वारं "जातावेकवचनं इति न्या-यात्" स्पर्शितं कायेन, पालितं-पुनः पुनः स्मरणेन, शोधितं गुर्वनुज्ञया, तीरितं भावोन्नत्या यथा कालावधि साऽवशेषत्वेन, कीर्तितं चेतसोऽविस्मरणात्, अनुपालितं पूर्वमुनि आ(न्या)सेवितमार्गेण, आज्ञया आराधितं भवति, वाचनान्तरे पुनः एतानि पंचाऽपि हे सुव्रत!

एवं नायमुणिणा भगवया महावीरेण पन्नवियं, परूवियं, पसिद्धं, सिद्धं, सिद्धवरसासणमिणं आघवियं, सुदेसियं, पसत्थं, पंचमं संवरदारं सम्मत्तं ति बेमि ॥ एयाति वयाइं पंचवि सुव्वय महाव्वयाइं हेउसयविचित्तपुक्खलाइं कहियाइं अरिहंतसासणे पंच समासेण संवरा वित्थरेण उ पणवीसतिसमियसहियसंवुडे सया जयणघडण-सुविसुद्धदंसणे एए अणुचरिय संजते चरमसरीरधरे भविस्सतीति (सू० २९) पण्हावागरणे णं एगो सुय-

---

शोभननियम ! महाव्रतानि कीदृशानि ? लोके धृतिदानि, श्रुतसागरे-आगमे देशितानि, संयमशीलव्रतसत्यार्जवाधने करुणमयानि, नरक-तिर्यग्-देव-मनुजचतुर्गतिविवर्जकानि, सर्वेषां जिनानां शासनानि आज्ञारूपाणि, कर्मरजोविदारकाणि, भवशतविमोचकानि दु(दुः)-खशतविनाशकानि, सुखशतप्रवर्त्तकानि, कापुरुषजनैः दुस्तराणि-कातरजनदुष्प्रधर्ष्याणि, सत्पुरुषजनतीरितानि-पालितानि, निर्वाण-गमनयानानि, स्वर्गप्रापकानि नियमतः पंचापि महाव्रतानि कथितानि-उपदेशितानि केनेत्याह—

एवम्-अमुना प्रकारेण, ज्ञातमुनिना भगवता श्रीमहावीरेण प्रज्ञापितं हितोपदेशतः, प्ररूपितं अर्थतः भव्यानां पुरतः, प्रसिद्धं-विख्यातं, सिद्धं-निष्ठां प्राप्तम्, वर(रं)-प्रधानं इदं शासनं-आज्ञारूपं, आख्यातं-मर्यादया रक्षितं, सुदर्शितं-सुष्ठु सम्यक्तया दर्शितम्, प्रशस्तं निर्मलाशयत्वात्, पंचमं संवरद्वारं समाप्तम्, इति परिसमाप्तौ ब्रवीमि इति-पूर्ववत् श्रीसुधर्मस्वामी जंबू (बूं) प्रत्याह भगवदाज्ञया न तु स्वमनीषिकया इति अत्र निगमनार्थं इदं वाच्यम्।

एतानि पंचापि हे सुव्रत !-शोभननियम ! महाव्रतानि-संवररूपाणि हेतुशतैः-उपपत्तिशतैः, विविक्तैः-निर्दोषाः(षैः) [विविच्य-विस्तारं कृत्वा इति) पुष्कलानि-विस्तीर्णानि यानि तानि कथितानि, तथा ये अनेके अर्हच्छासने-जिनागमे पंच समा-

क्खंधो दस अज्झयणा एक्कसरगा दससु चेव दिवसेसु उद्दिसिज्जंति एगंतरेसु आयंबिलेसु निरुद्धेसु आउत्तभत्त पाणगं अंगं जहा आयारस्स (सू० ३०)॥ इति प्रश्नव्याकरणाख्यं दशमाङ्गं सूत्रतः समाप्तम्॥ ग्रन्थाग्रम् १३००]

सेन–संक्षेपेन (ण) संवराऽसंवरद्धाराणि, विस्तारेण तु पंचविंशतिः प्रतिव्रतं भावनापंचकस्य संवरतया प्रतिपादितानि। अथ संवरासेविनो भविष्यति भाविनी (नीं) फलभूतामवस्थां दर्शयति, समितः–ईर्यासमित्यादिभिः पंचविंशतिसंख्याभिरनंतरोदिताभिर्भावनाभिः सहितो ज्ञानदर्शनाभ्यां मन (नो)वचनकायैः सुसंवृत्तः–सुविहितो वा कषायेन्द्रियसंवरेण यः स तथा सदा–सर्वदा यतनेन प्राप्तः संयमयोगेषु प्रयत्नेन घटनेन–अप्राप्त संयमयोगप्राप्त्यर्थघटनया सुविशुद्धरूपं दर्शनं–श्रद्धानरूपं यस्य स तथा, एतान्–उक्तरूपान् संवरान् अनुचर्य–आसेव्य सत्यं संयतः–साधुः चरमशरीरधरो भविष्यति इति भावः, वाचनान्तरे पुनः निगमनं यथा कार्मणशरीरस्य अग्रहीतव्यो भविष्यति इति भावः।

इति श्री पंचम संवरद्वारं समाप्तं दशमाध्ययनविवरणम्। इतिशब्दः–परिसमाप्तौ पूर्ववद्वाच्यः श्रीप्रश्नव्याकरणांगस्य दशमस्य दशममध्ययनम् व्याख्यातं च सदर्थं पंचमाकिञ्चनस्येदम् ॥१॥

प्रशस्तिः।

नमः श्रीवर्धमानाय, नमः श्रीपार्श्वसंभवे। नमः श्रीभगवद्वाण्यै, नमो गुर्वङ्घ्रये सदा ॥१॥ [अनुष्टुब्वृत्तम्]
कुमततमोजलपतितं, येन क्रियोद्धारयानपात्रेण। उद्धृतमिह जगतीतलं, दत्वा श्रद्धानन्यंजलम् ॥२॥

१ घनं प्रत्यन्तरे

श्रीमदानन्दविमलाख्याः, सूरीन्द्रा जयन्तु ते विश्वे। श्रीमत्तपागणोदधि-प्रोल्लसनशारदेन्दुनिभाः ॥३॥ वृत्तिकार-प्रशस्तिः
तेषां पट्टे जाताः, गुणाधिका विजयदानसूरीन्द्राः।श्रीहीरविजयसूरिस्तत्पट्टेऽभूदमेयगुणः ॥४॥
येनाऽकब्बरभूपस्वान्ते, करुणा निवेशिता जंतोः। अद्यापि तस्य कीर्त्ति-र्जागर्त्ति तदीयतंत्रेषु ॥५॥
कूर्चालसरस्वतीति, विरुदं प्राप्तं च साहिना पुरतः। श्रीविजयसेनसूरि-र्जातस्तत्पट्टमाणिक्यम् ॥६॥
तत्पट्टोदयशैले, तरणिनिभा विजयदेवसूरीन्द्राः। सविजयसिंहयुक्ताः, प्रवचनवैशद्यकृद्वाचः ॥७॥
तत्पट्टप्रभुताया-स्तिलकसमो धन्यपुण्यजनसेव्यः। श्रीविजयप्रभसूरि-स्संजातो भव्यहर्षकरः ॥८॥
तद्गच्छरत्नकल्पाः, क्रियाकलापेन शुद्धचरणभृतः। श्रीविनयविमलसुधियः, श्रीमत्सत्कीर्त्तिविमलयुजः ॥९॥
तच्छिष्याश्चरणधराः, कवयः श्रीधीरविमलनामानः। तच्छिष्यो नयविमलो, नयगमभंगप्रमाणपटुः ॥१०॥
श्रीविजयप्रभसूरेः, प्रसत्तिमासाद्य हृद्यवैराग्यात्। प्राप्तानूचानपद, उपसंपदया विरागमनाः ॥११॥
सद्ज्ञानविमलसूरि-रवाप्तनामा तपागणे ख्यातः। तेनेदं शिशुचेष्टितमिव, विहितं विवरणं सम्यक् ॥१२॥
उपजीव्यपूर्ववृत्तिं, यदत्र मतिमान्द्यतो मया रचितम्। समयविहीनं सद्भिस्तच्छोध्यं मयि कृपां कृत्वा ॥१३॥
यस्मात् सतां विधेया, नोपेक्षाः सर्वथा भवन्ति कदा। जगदुपकृतिनिपुणानामभ्यर्थनयाऽनया किं स्यात् ?॥१४॥
आर्यैः सुपरिगृहीतं, यत्किञ्चिदपि प्रकाशतामापत्। पूर्णेन्दुना गृहीतो, हरिणोऽपि जगत्प्रकाशकरः ॥१५॥ ॥१०६॥
अत्रार्थे खलु साहाय्य-कारिणः शांतिशालिनः कवयः। सुखसागरनामानः, कृतावधानास्तथा जाताः ॥१६॥

प्रथमादर्शे लिखिता-स्तैरेव हि तरणिपुरवरे रम्ये। विद्वद्भिर्वाच्यमाना, जयतु चिरं तत्त्वबोधफला ॥१७॥
यावन्महीमहेलाऽर्केन्दू दिशति कुंडले मेरुं। ललामवद्वत्ते, लोकाग्रे शेखरोपमम् ॥१८॥
तावन्नंदत्वियं वृत्ति-र्नव्या भव्यावबोधदा। एतद्वाचनपुण्याद्, भवतु जनो बोधिरत्नयुतः ॥१९॥
सप्तसहस्री सार्द्धां, संजाता सूत्रसंयुता चात्र। ग्रन्थाग्रमानमेतत्, निर्णीतं श्लोकमानेन ॥२०॥
येन कृतेयं वृत्तिः, सदर्थरम्या विबुधजनगम्या। स ज्ञानविमलसूरिर्जयतु चिरं भव्यबोधकरः ॥२१॥
यन्माहात्म्यान्नागः, ज्वलनविधुरो बभूव धरणेन्द्रः। पुण्यादिविजयमहर्षे-स्स ददातु शिवं श्रीवामेयः ॥२२॥
कृत्वा कृपां मम बोधाञ्जनेन यश्चक्षुरञ्जनं चक्रे। स श्रीमान् मदीयगुरुः, सद्बोधैकनिधिश्चिरं जीयात् ॥२३॥

इति श्रेयः संवत् १७९३ वर्षे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तृतीयातिथौ कुजवासरे सिद्धियोगे सकलभट्टारक पुरन्दरभट्टारक श्री श्री श्री १०८ श्रीविजयप्रभसूरिः तच्छिष्यसकलवाचकचक्रचक्रवर्ति महोपाध्याय श्री श्री १०८ श्री विमलविजयगणितच्छिष्य महोपाध्याय श्री श्री १९ श्री शुभविजयगणि तच्छिष्य सकलपण्डितश्री ५ श्री गंगविजयगणि तच्छिष्य पं. श्री नयविजयेन लिपीकृता आत्मार्थं श्री धर्मधरानगरे पार्श्वनाथप्रसादात् श्रीरस्तु श्रेयोऽस्तु कल्याणमस्तु ।श्री।

इति श्रीमत्सुधर्मस्वामिसुविहितपरंपरायातद्वादशशरदाचाम्लतपोविधान-तपाविरुदश्रीमज्जगचंद्रसूरि-पट्टालंकार-श्रीदेवेन्द्रसूरि-पट्टभूषण-श्रीमद्धर्मघोषसूरि-शिष्यश्रीसोमप्रभसूरि-पट्टतिलक-श्रीसोमतिलकसूरि-पट्टोदयाचल-दिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरि-शिष्यश्रीसोमसुन्दरसूरि-शिष्य-तपागच्छभट्टारक-श्रीसुन्दर-

वृत्तिकार-प्रशस्तिः

श्रीमदानन्दविमलाख्याः, सूरीन्द्रा जयन्तु ते विश्वे। श्रीमत्तपागणोदधि-प्रोल्लसनशारदेन्दुनिभाः ॥३॥
तेषां पट्टे जाताः, गुणाधिका विजयदानसूरीन्द्राः। श्रीहीरविजयसूरिस्तत्पट्टेऽभूदमेयगुणः ॥४॥
येनाऽकब्बरभूपस्वान्ते, करुणा निवेशिता जंतोः। अद्यापि तस्य कीर्त्ति-र्जागर्त्ति तदीयतंत्रेषु ॥५॥
कूर्चालसरस्वतीति, विरुदं प्राप्तं च साहिना पुरतः। श्रीविजयसेनसूरि-र्जातस्तत्पट्टमाणिक्यम् ॥६॥
तत्पट्टोदयशैले, तरणिनिभा विजयदेवसूरीन्द्राः। सविजयसिंहयुक्ताः, प्रवचनवैशद्यकृद्वाचः ॥७॥
तत्पट्टप्रभुताया-स्तिलकसमो धन्यपुण्यजनसेव्यः। श्रीविजयप्रभसूरि-स्संजातो भव्यहर्षकरः ॥८॥
तद्गच्छरत्नकल्पाः, क्रियाकलापेन शुद्धचरणभृतः। श्रीविनयविमलसुधियः, श्रीमत्सत्कीर्त्तिविमलयुजः ॥९॥
तच्छिष्याश्चरणधराः, कवयः श्रीधीरविमलनामानः। तच्छिष्यो नयविमलो, नयगमभंगप्रमाणपटुः ॥१०॥
श्रीविजयप्रभसूरेः, प्रसत्तिमासाद्य हृद्यवैराग्यात्। प्राप्तानूचानपद, उपसंपदया विरागमनाः ॥११॥
सद्ज्ञानविमलसूरि-रवाप्तनामा तपागणे ख्यातः। तेनेदं शिशुचेष्टितमिव, विहितं विवरणं सम्यक् ॥१२॥
उपजीव्यपूर्ववृत्ति, यदत्र मतिमान्द्यतो मया रचितम्। समयविहीनं सद्भिस्तच्छोध्यं मयि कृपां कृत्वा ॥१३॥
यस्मात् सतां विधेया, नोपेक्षाः सर्वथा भवन्ति कदा। जगदुपकृतिनिपुणानामभ्यर्थनयाऽनया किं स्यात् ?॥१४॥
आर्यैः सुपरिगृहीतं, यत्किञ्चिदपि प्रकाशतामापत्। पूर्णेन्दुना गृहीतो, हरिणोऽपि जगत्प्रकाशकरः ॥१५॥ ॥१०६॥
अत्रार्थे खलु साहाय्य-कारिणः शांतिशालिनः कवयः। सुखसागरनामानः, कृतावधानास्तथा जाताः ॥१६॥

प्रथमादर्शे लिखिता-स्तैरेव हि तरणिपुरवरे रम्ये। विद्वद्‌भिर्वाच्यमाना, जयतु चिरं तत्त्वबोधफला ॥१७॥
यावन्महीमहेलाऽर्केन्दू दिशति कुंडले मेरुं। ललामवद्धत्ते, लोकाग्रे शेखरोपमम् ॥१८॥
तावन्नंदत्वियं वृत्ति-र्नव्या भव्यावबोधदा। एतद्वाचनपुण्याद्, भवतु जनो बोधिरत्नयुतः ॥१९॥
सप्तसहस्री सार्द्धा, संजाता सूत्रसंयुता चात्र। ग्रन्थाग्रमानमेतत्, निर्णीतं श्लोकमानेन ॥२०॥
येन कृतेयं वृत्तिः, सदर्थरम्या विबुधजनगम्या। स ज्ञानविमलसूरिर्जयतु चिरं भव्यबोधकरः ॥२१॥
यन्माहात्म्यान्नागः, ज्वलनविधुरो बभूव धरणेन्द्रः। पुण्यादिविजयमहर्षे-स्स ददातु शिवं श्रीवामेयः ॥२२॥
कृत्वा कृपां मम बोधाञ्जनेन यश्चक्षुरञ्जनं चक्रे। स श्रीमान् मदीयगुरुः, सद्‌बोधैकनिधिश्चिरं जीयात् ॥२३॥

इति श्रेयः संवत् १७९३ वर्षे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे तृतीयातिथौ कुजवासरे सिद्धियोगे सकलभट्टारक पुरन्दरभट्टारक श्री श्री श्री १०८ श्रीविजयप्रभसूरिः तच्छिष्यसकलवाचकचक्रचक्रवर्ति महोपाध्याय श्री श्री १०८ श्री विमलविजयगणितच्छिष्य महोपाध्याय श्री श्री १९ श्री शुभविजयगणि तच्छिष्य सकलपण्डितश्री ५ श्री गंगविजयगणि तच्छिष्य पं. श्री नयविजयेन लिपीकृता आत्मार्थे श्री धर्मधरानगरे पार्श्वनाथप्रसादात् श्रीरस्तु श्रेयोऽस्तु कल्याणमस्तु। श्री।

इति श्रीमत्सुधर्मस्वामिसुविहितपरंपरायातद्वादशशरदाचाम्लतपोविधान-तपाबिरुदश्रीमज्जगच्चंद्रसूरि-पट्टालंकार-श्रीदेवेन्द्रसूरि-पट्टभूषण-श्रीमद्धर्मघोषसूरि-शिष्यश्रीसोमप्रभसूरि-पट्टतिलक-श्रीसोमतिलकसूरि-पट्टोदयाचल-दिनमणिश्रीदेवसुन्दरसूरि-शिष्यश्रीसोमसुन्दरसूरि-शिष्य-तपागच्छभट्टारक-श्रीसुन्दर-

सूरि-शिष्य श्रीरत्नशेखरसूरि-शिष्य सद्गुणश्रीलक्ष्मीसागरसमान-श्रीलक्ष्मीसागरसूरि-शिष्यसुम-
तिसाधुसूरि पट्टभामिनीभालस्थ-तिलकायमानस्वष्टादश-शतश्रमणपरिवारपरिकलित-श्रीहेमविम-
लसूरि-पट्टकमलापतिपराजितानेककुपाक्षिकपक्षसंक्षेपश्रीमत्तपागणसुविहित-साधुसभाचकोर
समुदायरंजनसकलकलापरिकलितकलाधरश्रीआनंदविमलसूरि-पट्टोदयशैलचूलालंकारगग-
नतिलकभट्टारकश्रीविजयदानसूरि-पट्टभूषणश्रीमदकब्बरपातिसाहिहृदयकमलविकस्वर-
द्युतिपतिश्रीहीरविजयसूरि-पट्टभूषणसवाईबिरुदधारक-श्रीविजयसेनसूरि-पट्टसुवर्णा-
चलचूलायमानश्रीविजयदेवसूरि-शिष्यविजयसिंहसूरि-पट्टनंदनवनपारिजाताय-
मानभट्टारकश्रीविजयप्रभसूरि-पादपद्मोपासनसंप्राप्तोपसंपद्भिस्तथा श्रीमत्त-
पागणगगनांगणदिनमणि-भट्टारकभट्टारक-श्रीमदानंदविमलसूरीश्वरमुख्य
शिष्य श्रीमद्धर्मसिंहगणिशिष्य-श्रीजयविमलगणिविनेय-श्रीकीर्त्तिविम-
लगणिपादपद्मोपसेवि श्रीविनयविमलगणिपट्टालंकृतिसमानश्रीधीरविम-
लगणिविनयशिष्यैःसंविज्ञपक्षीयनयविमलगणिभिरपरनामश्रीज्ञा-
नविमलसूरिभिर्विचिरतायां प्रश्नव्याकरणसूत्रवृत्तौ
दशमाध्ययनं संपूर्णम् ।

वृत्तिकार-
प्रशस्तिः

इति प्रश्नव्याकरणसूत्रम् ॥